ॐ

परमात्मने नमः

बोधि-समाधि-निधान

(भाग-2)

1. यशोधरचरित्र 2. वरांगचरित्र 3. प्रद्युम्नचरित्र

गुजराती संकलन :
जीतूभाई नागरदास मोदी
प्रशम जीतूभाई मोदी, सोनगढ़

हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन :
देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

आज ही अपना हित साध ले! विलम्ब न कर!!

सब अपने पूर्व के कर्मों के उदयानुसार आयुष्य और संयोग लेकर आते हैं। उसमें अन्य कोई जीव फेरफार नहीं कर सकता, एक शरणमात्र अपना आत्मा है - ऐसा विचार करके सज्जनों को आत्मिक-कार्य करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। ऐसा मनुष्य देह, पाँच इन्द्रियाँ और जैनधर्म मिलने के बाद आत्महित के कार्य में विलम्ब नहीं करना। आज ही करना।

—करुणासागर पूज्य गुरुदेवश्री

मरण तो आना ही है, जब सब कुछ छूट जायेगा। बाहर की एक वस्तु छोड़ने में तुझे दु:ख होता है, तो बाहर के समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एकसाथ छूटने पर तुझे कितना दु:ख होगा? मरण की वेदना भी कितनी होगी? 'कोई मुझे बचाओ' ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा। परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा? तू भले ही धन के ढेर लगा दे, वैद्य-डाक्टर भले सर्व प्रयत्न कर छूटें, आसपास खड़े हुए अनेक सगे-सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिए अभी से वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मंडरा रहा है' ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर भी तू पुरुषार्थ चला कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके। जीवन में एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है।

—प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री

चक्रवर्ती की समस्त सम्पत्ति से भी जिसका एक समय मात्र भी विशेष मूल्यवान है, ऐसा यह मनुष्य देह और परमार्थ को अनुकूल ऐसा योग सम्प्राप्त होने पर भी यदि जन्म-मरण से रहित ऐसे परम पद का ध्यान नहीं रहा तो इस मनुष्यत्व को अधिष्ठित ऐसे आत्मा को अनन्त बार धिक्कार हो। —

कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्र

उत्तर क्षण में क्या परिणाम होगा, उसका वर्तमान क्षण में हमें ज्ञान नहीं, तो भविष्य के लिये क्यों व्यर्थ की कल्पना? परिणाम के अलावा शरीरादिक की क्रिया में तो हमारा कोई कर्तव्य है ही नहीं, तो फिर इनके आश्रित विभाव परिणामों का व्यर्थ बोझा क्यों लादा जाये?

—पूज्य सोगानीजी

बोधि-समाधि-निधान, भाग 2 का

उपोद्घात

अकारण करुणासागर, पुरुषार्थ प्रेरणामूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री ने साक्षात् सीमन्धरस्वामी की दिव्यध्वनि का वर्षों तक प्रत्यक्ष श्रवण करके तथा सीमन्धरस्वामी के समवसरण में पधारे हुए श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव के प्रत्यक्ष दर्शन करके, यहाँ भरत में पधारकर, 45 वर्षों तक अध्यात्म की गंगा बहाकर अध्यात्म क्रान्ति द्वारा विषम पंचम काल को धर्म काल में परिवर्तित किया है।

अध्यात्मयुग सर्जक पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रधानरूप से तो द्रव्यदृष्टि का मूलभूत मार्ग ही प्रकाशित किया है और साथ ही साथ उस द्रव्यदृष्टि के मार्ग में प्रयाण करने में सहायभूत ऐसी वैराग्यभूमि तैयार करने के लिये प्रथमानुयोग के पुराण पुरुषों के अनेक प्रसंगों को खूब मथकर प्रबोधित किया है। उनसे प्रेरणा लेकर श्री नागरदास बी. मोदी सम्पादक गुजराती आत्मधर्म ने बावन कथाओं के साररूप प्रकाशन किया है, जिन्हें बाद में संकलित करके 'बोधि-समाधि-निधान' रूप से प्रकाशित किया गया था। तत्पश्चात् उसी ग्रन्थ का हिन्दी में प्रकाशन हुआ। इस प्रकार गुजराती तथा हिन्दी भाषा में इस ग्रन्थ का बारम्बार प्रकाशन यह सूचित करता है कि प्रस्तुत कथा संग्रह पुस्तक मुमुक्षु समाज में अत्यन्त रुचिकर हुई है।

अनेक परिचित मुमुक्षुओं की ओर से बोधि-समाधि-निधान जैसा दूसरा कोई कथासंग्रह पुस्तक प्रकाशित करने की माँग होने से श्री नागरदासभाई को बोधि-समाधि-निधान, भाग-2 प्रकाशित करने की भावना जागृत हुई किन्तु इस कथासंग्रह में पूर्व प्रकाशित भाग-1 की तरह अनेक कथाओं के संकलन के बदले वैराग्य से भरपूर एक-दो विस्तृत कथायें प्रकाशित करने का निर्णय किया, जिससे भव्य मुमुक्षुओं को अपने परिणाम की स्थिति में जागृति रहे और इस प्रकार पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के उपदेश को—मुमुक्षु का हृदय 'भींगा हुआ हृदय' होना चाहिए—इस उपदेश को मुमुक्षु आत्मपरिणत कर सकें।

अपनी इस भावना के फलस्वरूप, अपने दोषित परिणामों का कितने भव तक कैसा-कैसा कठोर फल भोगना पड़ता है, इसका हू-ब-हू चित्रण करता हुआ **यशोधरचरित्र,** बोधि-समाधि-निधान भाग-2 के रूप में प्रकाशित करने का उन्होंने निर्णय किया और अपनी उपस्थिति में ही उसका गुजराती अनुवाद तैयार कराया। पुराणों में कथायें तो बहुत आती हैं परन्तु यशोधरचरित्र की कथा कोई अलग ही प्रकार की है, उसमें गृहीत मिथ्यात्व की अनुमोदना पर विशेष प्रहार किया गया है।

इसी प्रकार **वरांगचरित्र** एक वैराग्य प्रेरक कथा है जो कि मुमुक्षु समाज में कम प्रचलित है। इसी प्रकार **प्रद्युम्नचरित्र** भी गुजराती मुमुक्षु समाज में बहुत कम प्रचलित है। इसका कारण यह है कि हिन्दी भाषा में तो अनेक पुराण उपलब्ध हैं, जबकि गुजराती भाषा में अधिक मात्रा में पुराणों की उपलब्धता नहीं है।

सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में चारों अनुयोगों का उपदेश होता है, उसमें प्रथम अनुयोग का नाम प्रथमानुयोग है। द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग और करणानुयोग में जो वर्णन है, उसकी दृष्टान्त द्वारा प्रसिद्धि, प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोग के अभ्यास से तीनों अनुयोगों का समझना सरल बनता है।

प्रथमानुयोग के अभ्यास से—

❖ पुराण-पात्रों के प्रसंग पढ़ने-विचारने से दृढ़ता होती है कि क्रमबद्ध अनुसार - होनहार अनुसार परिणमते हुए परिणमन काल में उसके योग्य पुरुषार्थ होता ही है; क्रमबद्ध अनुसार पुरुषार्थ होता ही है, कर्तृत्वपूर्वक करना नहीं पड़ता परन्तु सहजरूप से उसके योग्य पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता, इसलिए मुझे कर्तृत्वपूर्वक पुरुषार्थ करने का बोझा भी नहीं रहता। मैं तो मात्र ज्ञातारूप से रहता हुआ एक ज्ञायकभाव हूँ।

❖ जीवों के भूतकाल के और भविष्य काल के निश्चित परिणामों का वर्णन जानकर क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा द्वारा अकर्तास्वभाव के सन्मुख हुआ जाता है।

❖ संसारी जीवों के पापमय परिणामों होने पर भी उनकी क्षणिकता समझने से स्वभाव में संसार की गन्ध भी नहीं है, ऐसा महिमावन्त ज्ञायक मैं हूँ - ऐसी दृढ़ता होती है।

❖ एक जीव दूसरे जीव पर क्रोध करे तो उसके संस्कार भव-भव तक रहते हैं, राग करे तो उसके संस्कार भी भव-भव तक नहीं छूटते और कुदेव-गुरु-धर्म के सेवन से नरक-निगोद में चिरकाल भ्रमण करके फिर से मनुष्य होने पर कुधर्म के संस्कार पुनः जागृत हो जाना जानकर, जीव को वीतरागधर्म की आराधना की विशेष जागृति रहती है।

यशोधरचरित्र

राजा यशोधर के भवों का वृत्तान्त जानने पर, किसी भी जीव के प्रति वैरभाव करने से कितने ही भवों तक वह बैरभाव लम्बित होना जानने से जीव अपने परिणाम में वैराग्यभावनापूर्वक सावधान रहता है।

जिसके फल में अनेक भवोंपर्यन्त भीषण दुःख भोगने पड़ते हैं, ऐसे अपने मिथ्याभावों से बचने की प्रधान प्रेरणारूप इस कथा में, पत्नी के दुष्कर्म से वैराग्य पाकर जिनदीक्षा ग्रहण करने

का इच्छुक राजा यशोधर, अपनी माता की ममता के कारण माता की आज्ञा का पालन करने के लिये आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाता है, इससे वह मरकर वह मोर होता है। जिस माता की आज्ञा पालन करने के फल में मोर हुआ है, वही माता मरकर बिल्ली होकर पुत्र / मोर को मारती है! फिर भी कितनी ही कुयोनि के भवों में माता का जीव पुत्र के जीव को ही मारता रहा! ममता से मातृ-आज्ञा पालन में गृहीतमिथ्यात्व का पोषण या अनुमोदन करने का यह फल! इसलिए आत्महित इच्छुक जीव को किसी भी सगे-सम्बन्धी या उपकारी किसी भी व्यक्ति की लिहाज-शर्म में आकर अथवा मान बढ़ाई के लिये अथवा ममता या भय से उसके किसी भी मिथ्यात्ववर्धक कार्य में जुड़ना नहीं, पोषण नहीं देना अथवा अनुमोदन नहीं करना, भले ही समाज में मान न मिले। क्योंकि इस कथा में बना उस प्रकार अनेक भवपर्यन्त दुर्गति भ्रमण और भयंकर दु:ख का भोग स्वयं को अकेले ही करना पड़ेगा तथा जिसकी आज्ञा पालन करने के फल में यह पाप किया, उसी माता ने भव-भव में स्वयं को मारा, वह माता भी भव के बाद अत्यन्त प्रिय ऐसी सगी बहिन बनी! इसलिए करुणा से पूज्य गुरुदेवश्री कहते थे कि 'किसको प्रसन्न करना और किससे प्रसन्न रहना! एक आत्मा का हित कर लेने का यह भव है।'

वरांगचरित्र

निकट मोक्षगामी महा पुण्यशाली वरांग को जीवन में अनेक प्रकार की असाता भोगनी पड़ती है, तथापि समतापूर्वक किस प्रकार रहता है! तथा साता के उदय के समय कितनी वैराग्य भावना पूर्वक दीक्षित होता है! - इत्यादि वर्णन पढ़कर पाप के उदय में हताश नहीं होना और पुण्य के उदय में आत्महित के लक्ष्यपूर्वक जीवन जीना - इत्यादि धर्मभावना की विशेष प्रेरणा मिलती है।

प्रद्युम्नचरित्र

इस चरित्र में भावलिंगी मुनिराज की हिंसा करने में उद्यमी होनेवाले अग्निभूति-वायुभूति जैसे महापापी, सातवें भव में प्रबल पुण्य प्राप्त प्रद्युम्न-शम्बूकुमार के भव में गिरनार सिद्धक्षेत्र से मुक्ति प्राप्त करते हैं - इत्यादि वर्णन पढ़ते हुए कल का लकड़हारा आज केवली हो सकता है - ऐसी आत्मा की अनन्त शक्ति सामर्थ्य की प्रतीति उत्पन्न होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जीवन भर जो महान बोध प्रदान किया है, उसकी इन तीनों कथाओं के उदाहरण द्वारा दृढ़ प्रतीति होती है। भयंकर पाप के परिणाम हुए हों या उत्कृष्ट शुभपरिणाम हुए हों; जीव की मूलभूत शक्ति में उसकी गन्ध भी प्रविष्ट नहीं होती। जब भी जीव अपने स्वभाव की

प्रतीति करे, तब स्वयं वर्तमान में ही सर्वज्ञस्वभावी विराज रहा है, यह मूलभूत सिद्धान्त सरलरूप से समझ में आ जाता है – इत्यादि अनेक प्रकार से कथानुयोग आत्मलाभरूप बनता है।

इन वैराग्यवर्धिनी कथाओं के पठन द्वारा अपने परिणामों का विहंगावलोकन करने की जागृतिपूर्वक पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्ररूपित द्रव्यदृष्टि के मार्मिक सिद्धान्तों का सरलता से भावभासन होवे, ऐसी अन्तरभावना के साथ.....

संकलनकार / अनुवादक

अनुक्रमणिका

यशोधरचरित्र	001
वरांगचरित्र	098
प्रद्युम्नचरित्र	160

ॐ

परमात्मने नमः

बोधि-समाधि-निधान

(पौराणिक जैन कथाओं का संकलन)

भाग - 2

श्री पुष्पदन्त कविकृत

यशोधरचरित्र

जो अनेक द्वीप तथा समुद्रों से वेष्टित है तथा अनेक सम्पदाओं का स्थान है—ऐसे जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में यौधेय नामक देश है। वह देश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चारों पुरुषार्थों के उपकरणों का उत्पत्ति स्थान है।

इस देश में कुकवियों की भाँति भ्रमरों के समूह भ्रमण करते हैं क्योंकि कुकवियों के हृदय भी काले हैं और भ्रमर भी काले हैं। इस देश की शोभा का वर्णन करते हुए कितना कहना ? विधाता ने स्वर्गलोक की ईर्ष्या से मानो कि दूसरा स्वर्गलोक ही बनाया है कि जिस देश में धन-धान्य, वन-वाटिका आदि से सुशोभित ग्राम-नगर आदि हैं।

इस यौधेय नामक देश में एक राजपुर नामक विशाल नगर था। उस राजपुर नामक नगर में मारिदत्त नामक राजा राज्य करता था।

वह राजा धन देने में कर्ण-समान, वैभव से इन्द्र-समान, रूप से कामदेव-समान, कान्ति से चन्द्रमा-समान, प्रचण्ड दण्ड देने में यमराज-समान और अन्य राजाओं के बलरूप वृक्ष को मूल से उखाड़ फेंकने में प्रचण्ड पवन के समान था। वह राजा धन और धान्य के रक्षण में चतुर था, परन्तु एकमात्र धर्म से अनभिज्ञ था। उसमें यौवन मद और धन मद की प्रबलता थी किन्तु एक धर्म के बिना प्रचुर अन्धकार व्याप्त हो रहा था। सत्य ही

है कि ज्ञान के उदय बिना सारभूत शुभमार्ग का अवलोकन किस प्रकार हो सकता है!! सत्य ही है कि उत्तम ज्ञानियों के बिना धर्म की प्राप्ति किस तरह हो सकती है!!

महाराज मारिदत्त के धन-धान्य से पूर्ण राजपुर नगर में भैरवाचार्य का आगमन हुआ। वह भैरवाचार्य जगत को-अपने अनुकूल पुरुषों को निज मत की शिक्षा देता था। वह भैरवाचार्य कान में मुद्रा धारण करता; बत्तीस अंगुल प्रमाण दण्ड हाथ में रखता था; गले में योगवृत्ति, पैर में पावड़ी धारण करता था; नृसिंगा की आवाज करता और सिंह पूंछ का गुच्छा लगाकर अपने को महात्मा प्रसिद्ध करता था। लोगों के पूछे बिना ही अपनी स्तुति करते हुए कहता था कि—

'चार युग व्यतीत होने पर भी मैं वृद्ध नहीं हुआ; नल, नहुप, वेलु आदि महाप्रतापी और पृथ्वी के भोक्ता महाराजा मेरे सामने ही हो गये हैं; राम और रावण के घोर संग्राम में राक्षसों का पतन मैंने देखा है; भाईयों सहित युधिष्ठिर को देखा है तथा कृष्ण की आज्ञा से विरुद्ध अभिमानी ऐसे दुर्योधन को भी देखा है। मैं चार युग से जीवित हूँ, उसमें तुम किंचित् भी भ्रम नहीं करो।

मैं सभी लोगों को शान्ति प्रदान करूँगा। मुझमें इतनी सामर्थ्य है कि अति प्रचण्ड वेगयुक्त दिवाकर के विमान को अवरोध कर सकता हूँ। मुझे समस्त ही विद्याओं की उपलब्धि है; यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र तो मेरे आगे-आगे चलते हैं' - इत्यादि बातें करते हुए लोगों को रंजित करता हुआ नगर में भ्रमण करता था।

जब उसकी कथा पूरे नगर में प्रसारित हो गयी, तब महाराजा मारिदत्त को भी सुनने को मिली। उन्होंने उस समय अति कोतुकवश होकर मन्त्री से कहा कि 'तुम एकान्त में जाकर उस गुणगरिष्ठ भैरवाचार्य को नम्रतापूर्वक यहाँ लेकर आओ।'

मन्त्री ने कहा—'महाराज की आज्ञा अनुसार मैं अभी उन्हें लेकर आता हूँ।'

इस प्रकार मन्त्री ने विनयपूर्वक राजा का आदेश सुनाकर भैरवाचार्य से कहा—'अहो महात्मन्! आपके दर्शन से महाराज को शीघ्र शान्ति हो।'

भैरवाचार्य—'यदि राजा की ऐसी ही इच्छा है तो मैं शीघ्र ही जाकर राजवंश में शान्ति स्थापित करूँगा।' ऐसा कहकर मन्त्री के साथ वह राजदरबार में उपस्थित हुआ।

वहाँ उसने तेजपुंज नारायणतुल्य महाराज को सिंहासन पर विराजित देखा। तत्पश्चात् राजा ने भी अनेक आडम्बरयुक्त भैरवाचार्य को देखकर सिंहासन से उठकर, सामने जाकर दण्डवत् नमस्कार किया।

भैरवाचार्य ने आशीर्वाद मुद्रा में कहा—'महाराज का कल्याण हो। राजन्! मैं साक्षात् भैरव हूँ; आपकी जो इच्छा हो, वह प्रगट करो, मैं उसे पूर्ण करूँगा।'

इस प्रकार सुनकर महाराज ने प्रसन्नचित्त होकर भैरवाचार्य को उच्चासन पर स्थापित किया और स्वयं उनके चरणों में बैठकर प्रार्थना करने लगा :

महाराज—'स्वामिन्! मेरे कष्ट दूर करो। नाथ! आप तो सृष्टि संहारक योगीश्वर हैं। आपके चरणों के प्रसाद से मेरे मनोभिलाषित कार्य की सिद्धि होगी। मैं आपका सेवक हूँ, आप मुझ पर प्रसन्न होओ। आप जो आज्ञा करोगे, मैं उसे शिरोधार्य करके पूर्ण करूँगा।'

दुष्ट परिणामी भैरवाचार्य मन में विचार करने लगा कि मैं जो-जो उपदेश दूँगा, उससे मेरे इन्द्रियसुख की पूर्ति होगी और मैं जो आदेश करूँगा, उसका पालन होगा। इस प्रकार विचार करते हुए उसने कहा—'नृपवर! मुझे समस्त ऋद्धियाँ लक्ष्यमात्र से स्फूरायमान होती हैं। मुझे सभी विद्यायें सिद्ध हैं, मैं संहार करने में पूर्ण समर्थ हूँ, जो कोई मुझसे महान पदार्थ की याचना करता है, उसे तत्काल देता हूँ। मेरे लिये कुछ भी पदार्थ अलभ्य नहीं है।'

महाराज—'हे देव! आकाशमार्ग से गमन करने की मेरी अभिलाषा है।'

भैरवाचार्य—'नृपवर! तुम राजकुल के प्रकाशक चन्द्रमा हो, यदि तुम निर्विकल्प चित्त से मेरा उपदेश ग्रहण करोगे तो अवश्य तुम्हें आकाशमार्ग से गमन कराऊँगा।'

सत्य है कि जो गृहीतमिथ्यात्व से लिप्त होता है, वह ज्ञानीजनों के उपदेश को ग्रहण नहीं करता। जिस प्रकार अन्धा मनुष्य, सुमार्ग-कुमार्ग का अवलोकन नहीं करता जैसे अंकुश की प्रेरणा से हाथी की सूँढ़ सब ओर गमन करती है; उसी प्रकार भैरवाचार्य की प्रेरणा से मारिदत्त का चित्त जीवों की हिंसा में तत्पर होकर सब ओर गमन करने लगा। यद्यपि मारिदत्त भव्य है परन्तु अशुभोदय से कुगति के योग से कुमार्ग के प्रति गमन करने लगा।

उस मारिदत्त राजा के प्रचण्ड शत्रुओं की विध्वंसकारिणी चण्डमारी नाम की कुलदेवी, बेतालकाल (सन्ध्या समय) माँस का अवलोकन करती राजपुर नामक नगर की दक्षिण दिशा में स्थित आवास में निवास करती थी। जिसने गले में नरमुण्डों की माला धारण की थी, शरीर राख से लिप्त था, सर्पाच्छादित चरणयुगल, माँस रहित भयंकर अस्थि-चर्म, मयूर शिखा समान कठोर और उन्नत केश, मृतकों की आँत से विभूषित भुजा इत्यादि महावीभत्स रूप धारण करती हुई चण्डमारी देवी, जीवों को पीड़ित करती हुई जिनेन्द्रमार्ग का तिरस्कार करती थी। वह देवी हिंसामार्ग को प्रगट करती हुई, दयाधर्म को दूर भगाती हुई, नग्नशरीरवाली, माँस खाने के लिये मुँह फाड़े हुए, कपाल-कबन्ध और त्रिशूल धारण करती हुई बैठी थी और उसी का भक्त मारिदत्त राजा था।

भैरवाचार्य—'राजन! यदि आकाशमार्ग का पथिक बनना हो और विद्याधर शत्रुओं को विजय करके दिग्विजय करनी हो तो जलचर, नभचर और स्थलचर जीवों के युगलों का चण्डमारीदेवी के लिये हवन करो। ऐसा करने से तुम्हारे सभी कार्य सिद्ध होंगे।'

महाराज—'आचार्यवर! आपकी आज्ञा-अनुसार कोतवाल को भेजकर सभी प्रकार की जाति के जीवों के युगल मँगाता हूँ।'

इस प्रकार कहकर महाराज ने कोतवाल को बुलाने के लिये अमात्य से कहा कि कोतवाल को बुलाकर समस्त ही जातियों के जीवों के युगल चण्डमारीदेवी के मन्दिर में एकत्रित करो।

अमात्य—'जैसी महाराज की आज्ञा। मैं इसी समय कोतवाल को बुलाकर आपका हुकम सुनाता हूँ।'

कोतवाल—(अमात्य से) 'मैं आपकी आज्ञा अनुसार उपस्थित हुआ हूँ, मेरे लिये क्या हुकम है ?'

अमात्य—'महाराज ने आदेश दिया है कि जलचर, नभचर और स्थलचर तथा समस्त जाति के जीवों के युगल चण्डमारीदेवी के मन्दिर में एकत्रित करने के लिये नौकरों को आज्ञा करो।'

कोतवाल—'जैसी आज्ञा। अभी किंकरों को बुलाकर जीवों को लाने का आदेश विदित करता हूँ।'

इस प्रकार कहकर कोतवाल ने तत्काल किंकरों को बुलाया और समस्त जीवों के युगल लाने की आज्ञा दी। पश्चात् उन हिंसक किंकरों ने सर्वत्र भटककर समस्त जीवों के युगल चण्डमारीदेवी के मन्दिर में एकत्रित करके कोतवाल को तत्सम्बन्धी सूचना दे दी।

कोतवाल—'श्री महाराज! आपकी आज्ञानुसार सभी युगल उपस्थित हैं। अब क्या आज्ञा है ?'

महाराज—'स्वामिन! (भैरवाचार्य) आपकी आज्ञानुसार सर्व युगल उपस्थित हो गये हैं।'

भैरवाचार्य—'तो अब देवी के मन्दिर की ओर चलना चाहिए।'

महाराज—'जैसी आज्ञा।'

इस प्रकार कहकर, मन्त्री आदि सभी चण्डमारीदेवी के मन्दिर की ओर गमन करने लगे। वहाँ पहुँचकर रुधिर से व्याप्त और चक्र, त्रिशूल तथा खड्ग धारण किये हुए चण्डमारीदेवी को देखकर राजा जय-जय ध्वनिपूर्वक प्रार्थना करने लगा—'हे परमेश्वरी! अपने निर्मलस्वभाव से मेरे पापों का हरण करो।'

तत्पश्चात् मन्दिर में स्थित नभचर, जलचर और स्थलचर जीवों के युगलों का अवलोकन करके महाराज मारिदत्त ने भैरवाचार्य से निवेदन किया—'स्वामिन! आपकी आज्ञानुसार समस्त युगल उपस्थित हैं, अब कार्य की शुरुआत करें।'

भैरवाचार्य—'राजन! समस्त युगल, देवी के सन्मुख उपस्थित कराओ, मैं कार्यारम्भ करता हूँ।'

तत्पश्चात् समस्त युगल, देवी के सन्मुख उपस्थित करके हवन प्रारम्भ हुआ। मारिदत्त राजा, चण्डमारी चन्द्रिका के अग्र भाग में अनेक प्रकार के मृगादि समस्त जीवों को मारता है। वह मूढ़मति पर को मारकर अपने जीवितव्य की वांछा और शान्ति की कामना करता है।

विषभक्षण से जीवितव्य की आशा, बैल के सींग से दूध की आशा, शिलातल में धान्य की प्राप्ति, नीरस भोजन से कान्ति में वृद्धि, उपशमभाव बिना क्षमा, और परजीवों को मारकर शान्ति वृद्धि क्या हो सकती है ? नहीं! नहीं! कदापि नहीं!!

वह अविवेकी मारिदत्त राजा जिस समय तृणभोजी गाय आदि पशुओं को मारने में तत्पर था, उस समय भैरवाचार्य समस्त युगलों का अवलोकन करके फिर राजा से कहने लगा—

भैरवाचार्य—'नृपवर! आपने समस्त युगल तो एकत्रित किये, परन्तु मनुष्य युगल तो मँगाया ही नहीं।'

महाराज—'आपकी आज्ञानुसार मनुष्य युगल भी मँगाता हूँ।'

—ऐसा कहकर चन्द्रकर्म कोतवाल को बुलाकर राजा ने आज्ञा दी कि प्रशंसा योग्य मनुष्य का युगल शीघ्र लेकर आओ।

कोतवाल—'जैसी आज्ञा पृथ्वीनाथ की। मैं अभी किंकर को आदेश देकर उत्तम मनुष्य युगल मँगाता हूँ।'

—ऐसा कहकर, किंकर को बुलाकर कोतवाल ने कहा कि अति मनोज्ञ मनुष्य युगल को शीघ्र लाकर उपस्थित करो।

किंकर—'आपके आदेशानुसार शीघ्रतर यहाँ-वहाँ से मनुष्य युगल को लाकर आपके सन्मुख उपस्थित करता हूँ।'

तत्पश्चात् अनेक किंकर नरयुगल को खोजने के लिये नदी के किनारे, नगर, उद्यान, उपवन, पर्वत और गुफा आदि में गमन करने लगे। वहाँ उस हिंसा के अवसर में पार्थिवानन्द नामक वन में संघसहित सुदत्त नामक आचार्य पधारे।

❖ ❖ ❖

मदन का नाश करनेवाले श्री सुदत्ताचार्य ने वन का अवलोकन करके इस प्रकार कहा कि यहाँ पत्र और फलों का नाश हो रहा होने से इस वन में सम, दम और यमी सत्य पुरुषों को निवास करना उचित नहीं है।

तत्पश्चात् उग्र तप से दैदीप्यमान आचार्यवर यमस्थानतुल्य श्मशान स्थल में पहुँचे। वह श्मशान, सियारों द्वारा विदीर्ण मृतकों के समूह और भयंकर आवाज करते हुए कौवों तथा गृद्ध पक्षियों से भरपूर था। वह श्मशान निष्फल वृक्षों के शुष्क पत्तों, राक्षसों के मुख से निकलते उष्ण श्वास तथा शूली पर चढ़ाये हुए मृतकों के कलेवर से अत्यन्त भयंकर था।

वह स्थान चोरों के समूह से व्याप्त और माँसभक्षी पक्षियों तथा निशाचरों की आवाज से गूँज रहा था। उस भयानक स्थान में इन्द्र, चन्द्र, और नागेन्द्रों के समूह द्वारा स्तुति योग्य मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका—इस प्रकार चतुर्विध संघसहित श्री सुदत्ताचार्य प्रासुक और पवित्र शिला पर विराजमान हुए। यह मुनिसंघ जीवों की दया में तत्पर, महातपश्चरण द्वारा शरीर का शोषण करता था। श्मशानस्थल में जिनदीक्षा का पालन करते हुए क्षुल्लक युगल कामदेव-नाशक परम ईश्वर गुरु को नमस्कार करके, उनकी आज्ञा लेकर भिक्षा के लिये गमन करने लगे।

वह क्षुल्लक युगल विविध लक्षणसहित गात्र, प्रहर्षित शरीर, कमलदलनेत्र, जिनचरणों के भक्त, विषयों से विरक्त, पाप मल और मद से रहित, जैनधर्म में पूर्ण आसक्त, निज गुणों से महान, निज शरीर की कान्ति से सूर्य को आच्छादित करते, हाथ में पात्र धारण किये हुए, नगर की ओर गमन करने लगा। उस समय निर्मल और तीक्ष्ण खडग हाथ में धारण किये हुए पापकर्म में तत्पर चन्द्रकर्मा किंकरों ने इन बालवय क्षुल्लक युगल को देखकर कहा :

किंकर—'हे बालयुगल! तुम्हारा प्राप्त होना अत्यन्त कष्ट साध्य था, जो सहज ही प्राप्त हो गया' - ऐसा कहकर वे युगल के निकट पहुँच गये। वहाँ दु:खनाशक, पाप विघातक, सुन्दर गात्र और लावण्यपूरित शरीरवन्त युगल को देखकर किंकर परस्पर वार्तालाप करने लगे।

एक—'भाई! सत्य कहना कि चाहे जितनी खोज करते तो भी कहीं ऐसा रूपवान युगल प्राप्त हो सकता था? कभी भी नहीं।'

दूसरा—'मित्र! इन्हें ले जाने से महाराज पारितोषिक तो अवश्य देंगे ही। भाई! इनके हाथ-पैर कितने कोमल हैं? इनका सौम्य शरीर कैसा हृदयग्राही है? अब शीघ्र इनको लेकर चलो, विलम्ब का समय नहीं है।'

तीसरा—'भाई! देखो तो सही, हमने इन्हें घेर लिया होने पर भी इनके मुखमण्डल पर किंचित् भी मलिनता दिखायी नहीं देती।'

अन्य—'भाई! तू भी मूर्ख ही है। धैर्यवानों का किसी विपत्ति में मुख म्लान होता है? कभी भी नहीं।'

अन्य—'अरे भाई! तुम सब उत्तम श्रेणी के मूर्ख हो क्योंकि जैसे-तैसे करके इच्छित वस्तु का लाभ हुआ, उसमें भी अपनी-अपनी गप्प मारते हों और व्यर्थ में विलम्ब करते हो। अब शीघ्रता से इन्हें चण्डिका के मन्दिर में ले चलो।'

इस प्रकार सभी किंकर, क्षुल्लक युगल को चण्डिका के मन्दिर में ले गये।

❖ ❖ ❖

जिस समय किंकरों ने क्षुल्लक युगल का हाथ बाँधकर मनुष्यों को भयकारक मस्तक छेद करने की बात की, वे शब्द सुनकर मदन विजेता अभयकुमार नामक क्षुल्लक महाराज ने अपनी क्षुल्लिका बहिन को इस प्रकार सम्बोधन किया—

क्षुल्लक—'बहिन! इस अवसर में मरण की शंका करके किंचित् भी भय मत करना परन्तु भगवान वीतराग अरिहन्त देव को अपने हृदय में स्थापित करके इस प्रकार से विचार कर कि पूर्वभव में जिस अशुभकर्म का बन्धन किया है, उसके उदय से शारीरिक कष्ट अवश्य होता है; इस कारण कोई भी मेरे शरीर का छेदन करो, भेदन करो, मेरे शरीर के रस, रुधिर आदि का पान करो, माँस का भक्षण करो, गर्दन काटो परन्तु चिरकाल से जिस शान्तिभाव का अभ्यास किया है, उसके अनुसार मन को शान्त करनेवाले मुनिजन अष्ट गुण संयुक्त सिद्धपर्याय को प्राप्त हो जाते हैं।

कन्या! कोई राक्षस राजा तथा किंकर यदि अपने पौद्गलिक शरीर का घात करे तो करो परन्तु वे ज्ञानयुक्त अपने आत्मा का घात नहीं कर सकते। ऐसे अवसर में जैनधर्म की ही शरण का अनुसरण करना योग्य है।'

इस प्रकार अपने क्षुल्लक भाई के उपदेशयुक्त वचन सुनकर वह चन्द्रमुखी क्षुल्लिका इस प्रकार कहने लगी—

क्षुल्लिका—'भ्रातृवर! तुमने जो जिनसूत्रानुसार निर्मल और पवित्र उपदेश प्रदान

किया है, वह सर्वथा योग्य है। मैंने आपके कथन से पूर्व ही यह विचार कर रखा है कि मेरे इस नाशवान शरीर का कोई भी घात करे परन्तु मैं मेरे जीवन को जीर्ण तृण समान गिनती हूँ। मैंने चिरकाल से जो उपशम का अभ्यास किया है, उसे ही निज हृदय में धारण करके कर्मोदय के फल को भोगूँगी।'

यह उपरोक्तानुसार परस्पर वार्तालाप करते हुए, जिनेन्द्र का स्मरण करते हुए क्षुल्लक युगल को, यमराज समान रुद्र पदातियों द्वारा भैरवानन्द के कुटुम्ब को आनन्दकारक देवी के मन्दिर की ओर ले जाया गया।

उस मन्दिर में वह भैरवाचार्य महाध्वनि करता हुआ, धनुष उठाता हुआ, लोहखण्ड को घुमाता हुआ, लोहखण्ड-पीतल के आभूषण धारण करता हुआ, हाथ में तीक्ष्ण छुरी रखता हुआ, अपने गुरुताभाव को प्रगट करता, अपना महत्त्व दिखाता, समस्त शरीर पर मृगचर्म लिपटा हुआ, पैर में घूँघरुँ से झनकार और थपथप शब्द करता हुआ तथा अपने केशों को खोलकर पिशाच समान पूर्ण माँसभक्षी सदृश चन्द्रिका के चरित्र का वर्णन करता, नृत्य करता अपूर्व दृश्य बना रहा था।

उसी समय चण्डिका अपने निवास में मुख में मस्तक खण्ड धारण करके नृत्य कर रही थी। वह देवीगृह पशुओं के रुधिर से सिंचित, पशुओं के हड्डियों की माला लटकती हुई, पशु की जीभ के पात्र से पूजा होती हुई, पशुओं की चर्बी के दीपक से प्रकाश होता हुआ इत्यादि भयंकर दशायुक्त देवीगृह में चण्डिकादेवी अनेक क्रीड़ा करती महा भयानक दृश्य दिखला रही थी।

माँस लोलुपी नरनाथ मारिदत्त भी उस देवीगृह में विराजमान था। देवीगृह में स्थित मारिदत्त महाराज ने समागत शान्तिमुद्रायुक्त अभयरुचिकुमार क्षुल्लक और चन्द्रमुखी क्षुल्लिका का अवलोकन करके, खड़े होकर इस प्रकार शब्दोच्चार किया—

महाराज—'श्रीमान क्षुल्लक महाराज और क्षुल्लिकाजी को मेरा सविनय नमस्कार।'

क्षुल्लक—'हे शुद्धवंश की लक्ष्मीरूप कमलिनी के हंस! हे राजगणेश! हे गुणश्रेणीयुक्त योगीराज! हे स्नेहपूर्ण दाता! हे फलयुक्त वृक्षवत नम्र! हे कलाकुलकलित कलाधर! हे जलपूरित समुद्रतुल्य गम्भीर! हे राजन! तुम्हारी धर्मवृद्धि हो।'

इस प्रकार पूर्ण निशाकर समान बालयुगल के शान्तिपूर्ण आशीर्वाद सुनकर महाराज मारिदत्त के हृदय में से समस्त रोष का विसर्जन हो गया। उस समय महाराजा अपने हृदय में विचार करने लगे।

आहाहा! कैसा अनुपमरूप विधाता ने बनाया है! हा! दुष्ट विधाता! ये दोनों सुकुमार बालक कहाँ आ गये? इन्होंने जो स्वजनों के सुख का त्याग किया, उस समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का भोग क्यों नहीं किया?

ये दोनों बालक आनन्दयुक्त प्रशंसायोग्य, विद्याधरों के इन्द्र अथवा नागेन्द्र का पाताल भेदकर आये हैं अथवा इस मध्यलोक के लक्ष्मी को देखने स्वर्ग में से सुरेन्द्र अथवा प्रभाधन चन्द्रमा आया है अथवा बालकों को वेष धारण करके मुरारी महादेव या कामदेव, इन दो में से कोई आया है अथवा अव्यक्तरूप धारण करके घृति, कान्ति, लक्ष्मी, शान्तिसहित अनेक सिद्धि की पृथ्वी है अथवा यश का स्थान, गुणों की श्रेणी, दु:खनाशक कवियों की वाणी और पुण्य की भूमि है? यह उपशान्त बदन शान्तमूर्ति चण्डमारीदेवी ही क्या मनुष्य का रूप धारण करके मेरी परीक्षा के लिये यहाँ आयी है अथवा मेरे कोई सम्बन्धी दीक्षा ग्रहण करके संसार का अन्त करने के लिये यहाँ उपस्थित हुए हैं?—इत्यादि चिन्तवन करते हुए महाराज मारिदत्त ने पुन: प्रगटरूप से क्षुल्लक से प्रश्न किया।

'अहो महानुभाव! आप कौन हो? क्या राज्य से भ्रष्ट होकर शत्रु के डर से, भोग रहे सुख को छोड़कर यहाँ आये हो? और यह शान्तमूर्ति महारूपवती कुलानन्ददायिनी कन्या किसकी पुत्री है? अहो! इस बाल अवस्था में व्रतपूर्वक दीक्षा, घर-घर में भिक्षा (आहार) और महान गुणों की परीक्षा एक से एक अद्‌भुत लगती है।

हे राजकुमार! हे मुनि! इस हमारे शुद्ध और कीर्ति गृहस्वरूप श्रेष्ठ नगर में इस कुमारीसहित आप किस प्रकार पधारे हैं? वह आपकी पापनाशक और सुखदायक कथा ज्ञात करायें।

❖ ❖ ❖

महाराज मारिदत्त के ऐसे वचन सुनकर, नृपति को हर्षोत्पादक क्षुल्लक महाराज इस प्रकार कहने लगे—

क्षुल्लक—'राजन! जिस प्रकार अन्धे के सामने नृत्य, बहरे के समीप गान, नपुंसक पुरुष के प्रति तरुणबाला के कटाक्षों का निक्षेपण, लवणरहित विविध प्रकार के व्यंजन, अज्ञानियों में तीव्र तप का आचरण, निर्बल की शरण, शुभध्यानरहित परन्तु अति रौद्रसहित पुरुष का समाधिमरण, निर्धन का नवयौवन, कृपण का धन संचय करना, नि:स्नेही में कमनीय कामिनी का रमण, अपात्र को दान, मोहरूप धूल से धूसरित मनुष्य को धर्म का व्याख्यान, दुष्ट स्वभावी पुरुष से गुणों का वर्णन तथा रण में रुदन जैसे व्यर्थ / बेकार है, उसी प्रकार आपके सन्मुख हमारा चरित्र कहना व्यर्थ है क्योंकि सिर में शूल समान, जिनेन्द्र को नहीं माननेवाले पुरुष को, जो गुरु शुद्ध वचनों द्वारा परमागम का कथन करता है, वह शुद्ध दूध को सर्प के मुख में देकर अपना नाश करता है।'

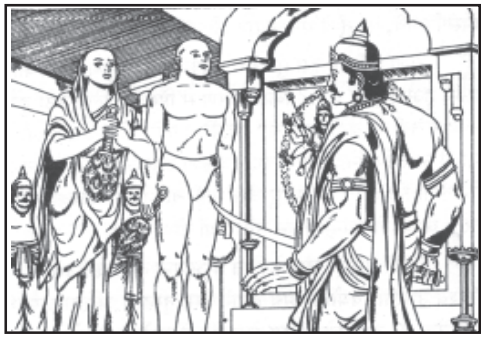

क्षुल्लक महाराज अभी कहने लगे कि—'हे राजन! जैसे मूर्च्छित पुरुष को शीतल जल और पवन से सचेत किया जाता है; उसी प्रकार उपशान्त पुरुष को धर्मोपदेश दिया जाता है, परन्तु जिस प्रकार शुष्क वृक्ष का सिंचन व्यर्थ है; उसी प्रकार अविनयी को सम्बोधन भी व्यर्थ है।

नृपवर! मेरी जो कथा है, वह धर्मविद्या का उपदेश है, जो उत्तम पुरुषों को श्रवण और पूजनयोग्य है, इस कारण यदि मेरे चरित्र का श्रवण करना चाहते हो तो शान्तचित्त होकर श्रवण करो।'

इस प्रकार के अभयरुचिकुमार क्षुल्लक के वचन सुनकर उपशान्तहृदय बनकर महाराज मारिदत्त ने भम्भा, भेरी, दुन्दुभी और प्रचण्ड डमरू के शब्दों का निवारण करके, मनुष्यों की हिंसा के विनोद के निवारणपूर्वक, विनयपूर्वक क्षुल्लक महाराज से पुन: प्रार्थना की—

मारिदत्त—'हे दयापालक! हे स्वामिन! आपकी आज्ञानुसार अभी समस्त सभा सुनने के लिये स्तब्ध हो रही है। हे श्रमणेश! देखो, सब मनुष्य विनयसहित आपकी वाणी

की अभिलाषा से कैसे बैठे हैं, कि मानो प्रवीण चित्रहार के रचे हुए चित्र ही हैं। अब आप अपने चरित्र का वर्णन करो।'

क्षुल्लक—'नृपवर! यदि तुम्हारी पूर्ण अभिलाषा हो तो मैं मेरा चरित्र कहता हूँ, उसे एकाग्र चित्त से श्रवण करो।

हे पृथ्वीपाल महाराज मारिदत्त! मैं दृष्ट श्रुतानुभूत रहस्य का आपके सन्मुख वर्णन करता हूँ।

❖ ❖ ❖

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पृथ्वी के तिलक समान अवन्ती नाम का देश है। उस रमणीक अवन्तीदेश में स्वर्गपुरी समान उज्जयिनी नामक नगरी है। उस नगरी का राजा महाप्रतापी यशोर्ध था।

वह क्षत्रिय कर्म का धारक राजा यशोर्ध यौवनावस्था में ऐसा शोभित होता था मानो गुणों का समुद्र अथवा तप का प्रभाव या पुण्य का समूह अथवा कला का समूह या कुल का आभूषण अथवा यश का भण्डार या न्याय का मार्ग अथवा जगत का सूर्य ही हो।

उस यशोर्ध नामक पृथ्वीपालक को काम की विद्या, काम की शक्ति, काम की दीप्ति, काम की कीर्ति, काम बाणों की पंक्ति, और काम के हाथ की वाणी समान चन्द्रमती नामक महारानी थी। उस महारानी के उदर से सुकवि की बुद्धि से काव्यार्थ की भाँति 'यशोधर' नामक (मैं) पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ।

राजन! जब मैं बाल्यावस्था में आया, तब पहले तो मेरी उम्र के बालकों के साथ घर में ही खेलने लगा। पश्चात् जब पढ़नेयोग्य हुआ, तब मेरे माता-पिता ने योग्य अध्यापक के निकट मुझे पढ़ने के लिये रखा। वहाँ पहले तो वर्ण-मात्रादि क्रम का शिक्षण प्राप्त किया। तत्पश्चात् क्रमपूर्वक व्याकरण, कोश, न्याय, काव्य, छन्द, अलंकार में निपुण हुआ। पश्चात् मैंने ज्योतिष, सामुद्रिक,वैद्यक का अभ्यास किया। तत्पश्चात् संगीत विद्या और नवरसयुक्त नृत्यकला तथा वाजिन्त्र बजाने की विद्या में भी जब प्रवीण हो गया, तब रत्नपरीक्षा, गजराज, घोटक, वृषभ आदि पशुओं की परीक्षा के शास्त्रों का मनन किया।

तत्पश्चात् चित्रलेखन, और काष्ठकर्म का भी अभ्यास हो गया। पश्चात् हाथी,

घोटक आदि आरोहण, धनुष विद्या, युद्धकला, मल्लविद्या, जल तरण आदि अनेक कलाओं में प्रवीण हुआ। धरानाथ! जब मैंने लावण्यरूप जल से सिंचित तरुणता में प्रवेश किया, तब यद्यपि मैं अंगसहित था, तथापि अनंग (कामदेव) समान दिखलायी देता था। जब माता-पिता को, मैं जवान हुआ ऐसा लगा, तब रूप-लावण्य की सरिता समान पाँच राजकन्याओं के साथ मेरा विवाह हुआ। मैं भी सुखसागर में ऐसा मग्न हुआ कि व्यतीत होते समय को किंचित् भी नहीं जान सका। तत्पश्चात् माता-पिता वैराग्य को प्राप्त हुए।

यशोर्ध महाराज चन्द्रमा के किरण समान उज्ज्वल केश को देखकर चिन्तवन करने लगे कि—'अरे दुःख! रतिरूप सपत्नी को मथनेवाली और दुर्भाग्य की राशि इस वृद्धावस्था ने क्या मेरे बाल को ग्रहण कर लिया? यह सफेद बाल ही मेरी वृद्धावस्था का सूचक है। इस वृद्धावस्था में मुख से जो लार गिरती है, वह ऐसी ज्ञात होती है कि मानो पुरुष के शरीर में से शक्ति ही लार का रूप धारण कर निकल रही है तथा वृद्ध के मुख में से जो दाँत गिरते हैं, वे मानो कि पापोदय से पुण्य की सृष्टि ही गिर रही है।

इस वृद्धावस्था में कामिनी की गति समान दृष्टि मन्द हो जाती है, उस समय हाथ में लकड़ी स्थिर नहीं रहती। यह सत्य ही है कि नयी आयी हुई जरारूपी वनिता के संसर्ग से लकड़ीरूपी स्त्री किस प्रकार स्थिर रह सकती है? इस वृद्धावस्था में कुकवि के काव्य की भाँति पैर भी नहीं चलते अर्थात् जिस प्रकार कुकवि के काव्य के पद चलते नहीं, उसी प्रकार वृद्ध पुरुष के पैर भी नहीं चल सकते।

वृद्ध पुरुष के शरीर में से जो लावण्यता नष्ट होती है, वह ऐसी ज्ञात होती है कि मानो जरारूप सरिता की अभंग तरंगों से धोयी हुई है।'

यशोर्ध महाराज विचार करने लगे कि 'देश, कोष, शास्त्र, सेना, अमात्य, गढ़, और मित्र - ये राज्य के सात अंग तथा दो हाथ, दो पैर, नितम्ब, कुला, पीज, और मस्तक-ये शरीर के आठ अंग किसी के भी त्रिभुवन में शाश्वत् स्थिर नहीं रहते। इसलिए मैं उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य - इन दस धर्मों का पालन करता हूँ और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह त्याग इन पाँच महाव्रतों को धारण करता हूँ।

मैंने मेरी अज्ञानता से विषयभोगों में मग्न होकर अपने कुटुम्बियों के स्नेह में तल्लीन होकर इतना समय व्यर्थ बिगाड़ा है। मैंने इस बात का किंचित् भी विचार नहीं किया कि ये पंचेन्द्रियों के विषय, विषमिश्रित मिष्ठान की भाँति प्राणघातक और दुर्गतियों में ले जाकर अनेक दु:खों का पात्र बनाते हैं।'

यशोर्ध महाराज ने यह भी विचार किया कि 'यह पुत्र, मित्र, कलत्र आदि समस्त परिजनसमूह स्वार्थपरायण है। इसका विचार किये बिना उनके स्नेह में फँसकर उचित का विचार न करके पाप कार्यों में तत्पर हो रहा था परन्तु अब सर्व कार्यों का त्याग करके जिनदीक्षा ग्रहण करके महान तपश्चरणपूर्वक संसार भ्रमण से निवृत हो जाऊँगा।'— इत्यादि विचार करके महाराज यशोर्ध ने समस्त राज कर्मचारियों को अपने आन्तरिक विचार से अवगत कराया। उस समय समस्त कर्मचारीगण यद्यपि अपने हृदय में अत्यन्त दु:खी हुए परन्तु महाराज को दृढ़ देखकर कुछ भी कहने का सामर्थ्य नहीं कर सके और महाराज की आज्ञानुसार समस्त सामग्री एकत्रित करके यशोधर अर्थात् मुझे बुलाकर राजतिलक किया। तत्पश्चात् यशोर्ध महाराज ने जैनपथ के पथिक बनकर वन की ओर गमन करके, वहाँ विराजमान जैनाचार्य के समीप जैनेश्वरी दीक्षा प्राप्त की।

राजन! यशोर्ध महाराज तो कामरूप मद के विघातक होकर शिव राज्य के लिये प्रयत्न करने लगे। यशोधर ने अर्थात् मैंने वृद्ध मन्त्रियों की सहायता से आन्वीक्षिकी राज्य विद्या द्वारा इन्द्रियविजयी ज्ञान प्राप्त किया। त्रयी नाम की विद्या से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और क्षूद्र इन चारों ही वर्णों के आचार-विचार जाने; दण्ड नीति नामक विद्या से खोटे मदयुक्त दुष्टों को योग्य दण्ड का स्वरूप जाना और वार्ता नामक विद्या से धनादि संचय की रीति-नीति का शिक्षण प्राप्त किया।

तत्पश्चात् लोक नीतिज्ञ और धर्मज्ञ वृद्ध पुरुषों के संसर्ग से द्यूत (जुआ), माँस, सुरा, वेश्या, चौर्य, और परांगना - इन व्यसनों का त्याग करके क्रोध, मोह, मान आदि कर्मों का विसर्जन किया।

नृपवर! उस समय यशोधर / मैं काम विनोद का नाममात्र सेवन करता था, तथापि हर्षोत्पादक अंगों से निश्चित दूर रहता था। मन्त्रियों द्वारा विग्रह, यान, आसन, आश्रय

आदि राज्य के अंगों का ज्ञान जिस समय मेरे हृदय में स्फुरायमान होने लगा, उसी समय से भृत्यसमूह काँपने लगा और निजकार्यों में तत्पर होने लगा। जो मुझसे भयभीत थे, वे नगर-ग्राम के निवास छोड़कर अरण्य में वास करने लगे। जो दुष्ट मन्त्रियों के बहकाये हुए राजा रणांगण में युद्ध के लिये आगे आये, वे चंचल बिजली के समान लुप्त हो गये और जो नम्र धराधीश थे, वे सुखपूर्वक निज जीवितव्य व्यतीत करने लगे।

नृपवर! रणांगण में यशोधर ने / मैंने दुर्निवार तलवार की धार से अन्य राजाओं का नाश किया और दिशाओं में व्याप्त अपने तेज से सूर्य और चन्द्रमा पर विजय प्राप्त की।

राजन! राजा यशोधर निज स्त्री के प्रेम में आसक्तचित्त होते हुए ऐसा विचार करने लगा कि स्वच्छमति, हंसगति, मेरी प्रिय भार्या अमृतमयी मेरे हृदय में वास करती, नेत्र के टिमकारमात्र विरह से व्याकुल हो जाती है, तो मैं भी उसके साथ भोग भोगूँगा; पश्चात् भले नृपपूज्य राज्य नष्ट हो जाये, चाहे लक्ष्मी पर वज्रपात हो, चाहे शर्म नष्ट हो जाये परन्तु उस हृदयवासिनी से एक क्षणमात्र भी पृथक् नहीं होऊँ। गुणों के समूह से युक्त और यश तथा जप का धाम यशोमति नामक निजपुत्र को राज्य सिंहासन पर स्थापित करके, उसे ही राज्यभार समर्पित करके, पश्चात् इष्ट प्राप्ति के लिये अमृतरति के घर जाकर उस प्रियतमासहित विलास करूँगा और उसके साथ ही इच्छित भोजन भी करूँगा।

उस सुकोमल मनोहरमुखी प्रियासहित निर्जन वन में वास भी उत्तम है, समस्त सुखों का कारण और लक्ष्मी का निवास है, परन्तु प्रियतमा बिना स्वर्ग का वास भी अच्छा नहीं - इत्यादि अनेक विचार करने लगा।

महाराज मारिदत्त! जिस समय यशोधर महाराज ऐसा विचार कर रहे थे, उस समय सन्ध्या काल हो गया था, उस समय महाराज यशोधर के हृदय में निज प्रिया से मिलने की अत्यन्त लालसा उत्पन्न हुई, इसलिए उन्होंने द्वारपाल को आदेश दिया कि—'तू महारानी के महल में जाकर समाचार दे कि महाराज पधार रहे हैं।'

द्वारपाल ने विनयपूर्वक कहा—'महाराज की जैसी आज्ञा। मैं अभी जाकर समाचार देता हूँ।'

ऐसा कहकर द्वारपाल ने महारानी के महल में जाकर महाराज के आगमन सम्बन्धी

समाचार दे दिये। वहाँ की सब व्यवस्था ठीक करके वापिस आ गया।

द्वारपाल ने आकर कहा—'श्री पृथ्वीनाथ! स्वर्गतुल्य महारानी के महल की ओर पधारो।'

इस प्रकार द्वारपाल का निवेदन सुनकर महाराज / मैं तत्काल जाने के लिये तैयार हुआ। उस समय तिमिरनाशक दीपक हाथ में लेकर एक सेवक आगे चल रहा था। इस प्रकार मैं मणिमय शिखरयुक्त अमृतादेवी के महल में पहुँचा। वह महल कहीं-कहीं रत्नजड़ित दीवारों से शोभित था।

राजन! जिस समय यशोधर महाराज / मैं उस अति सुन्दर मन्दिर में / महल में सात प्रकार की भूमि को देखा, उस समय मेरी बुद्धि ऐसी कम्पायमान होने लगी कि मानो नरक में ही प्रवेश किया हो!

पृथ्वीनाथ! उस समय काम के उद्वेग से विषसहित सर्प की भाँति मेरे सर्वांग में कम्प उत्पन्न हुआ और मुझे प्रिया तक पहुँचना कठिन हो गया।

प्रजापालक! तत्पश्चात् मैं द्वारपाल के हाथ का अवलम्बन लेकर रानी के महल में अन्दर पहुँच गया। अन्दर प्रवेश होते ही दैव ने मेरी बुद्धि हरण कर ली। उस समय निज प्रिया के मुख से सुगन्धित स्वादयुक्त वचनालाप सुनकर मैंने अपने कान और नाक को आनन्दित किया। उसके अति उत्तम रूप का अवलोकन करके नेत्र को तृप्त किया। उस चन्द्रवदनी के अधरामृत के स्वाद से जीभ को सन्तोषित किया और सुकोमल शरीर के स्पर्श से सर्व अंग सुखपूर्ण किये।

राजन! उस समय का अवलोकन, संभाषण, दान, आलिंगन, विश्वास, प्रिया का मिलाप और रतिक्रीड़ा, अमृतादेवी के संसर्ग से जो मुझे प्राप्त हुए, वे दूसरे किसी को प्राप्त नहीं हुए होंगे।

न्यायमूर्ति समस्त क्रीड़ा से निश्चिन्त होकर मैं शयनस्थ हुआ। मैं आँख बन्द करके उस कमलदनेत्रा, चन्द्रवदनी, गजगामिनी प्रिया का स्मरण कर रहा था, इतने में वह परपुरुष-आसक्त मेरे बाहुपाश में से निकलकर धीमे-धीमे गमन करने लगी। तत्काल मैं भी उठकर देखने लगा कि इतनी अर्धरात्रि में यह कहाँ जाती है ? ऐसा विचार करके हाथ

में तलवार लेकर मैं गुप्त रीति से उसके पीछे जाकर देखता हूँ कि वह कूबड़े (कुरूपवान) के सामने हाथ जोड़कर खड़ी है।

पृथ्वीनाथ! वह कूबड़ा, पुरुषार्थ में अनुद्यमी, सर्वजन निन्द्य, बड़े दाँतवाला, बहुत बड़े और विषम होंठ, खुरदरे और कठोर हाथ-पैर, सूक्ष्म और कठोर हृदय, रूक्ष बालों से भयानक, दूसरों के जूतों का रक्षण करनेवाला, हाथी-घोड़े के बचे हुए अन्न से पेट भरता था। ऐसे महा भयानक कूबड़े ने जैसे ही अमृतादेवी को देखा, तुरन्त ही वक्रदृष्टि से बोलने लगा।

कूबड़ा—'सद्भावरहित दासी! तूने इतनी देर क्यों लगायी? प्रतिदिन की भाँति शीघ्र क्यों नहीं आयी?' इत्यादि वक्-वक् करते हुए चाबुक हाथ में लेकर अमृतादेवी को मारने लगा। तत्पश्चात् केश पकड़कर जमीन पर पछाड़कर लात मारने लगा। उस समय कुबड़े के चरणों में नमस्कार करती हुई अमृतादेवी नम्र भाव से कहने लगी—

अमृतादेवी—'स्वामी! आज घर के कार्य से अवकाश न मिलने के कारण थोड़ा विलम्ब हो गया है। नाथ! आप कामदेव समान मेरे हृदय में निवास करते हो, इस कारण आपके नाराज होने से मेरे छत्र, चँवर, आसन, महल, हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादा, वस्त्र, आभूषण और समुद्रान्त पृथ्वी का राज्य-यह सब ही व्यर्थ है।

प्राण बल्लभ! आपके बिना कुमकुम का विलेपन, रत्न-स्वर्णजड़ित आभूषण, उत्तम बहुमूल्य वस्त्र और मुक्ताहार-यह सब ही अग्नि ज्वाला समान सर्वांग को दाहकारक है। हे विधाता! तूने इन्हें उत्तम कुल में उत्पन्न करके मेरा पति क्यों नहीं बनाया? और ऐसा ही किया तो मुझे जीवित क्यों रखा?

प्रियवर! आपके बिना जो दिन व्यतीत होता है, वह ऐसा लगता है कि पूर्व संचित पापकर्म का फल आज भोगती हूँ।

यदि कदाचित् यशोधर महाराज यमपुर पहुँच जाये तो मैं नृत्य करूँगी और चैत्र माह में नैवेद्य से कात्यायिनी देवी की पूजा करूँगी।'

राजन! वह अमृतादेवी उपरोक्त प्रकार से नम्र वचनों द्वारा अपने प्रेमी कूबड़ा को

सन्तोषित करके गाढ़ आलिंगन करने लगी। उस समय दोनों प्रेमी प्रेम सागर में निमग्न होकर भय और लज्जा को एकदम भूल गये।

नृपवर! उस समय उन दोनों की अवस्था देखने से मेरे / यशोधर के क्रोध का पार नहीं रहा। मैं तत्काल तलवार बाहर निकालकर दोनों को मारने हेतु उद्यत हुआ ही था कि उसी समय मन में विचार आया कि जिस तलवार से वीरों का संहार किया, जिस तलवार से राजाओं का विनाश किया, जिस तलवार से महा भयंकर सिंहों का नाश किया, उसी तलवार से इन दोनों को किस प्रकार मारूँ? जिस तलवार से योद्धाओं को मारा है, उस तलवार से ऐसे रंक को किस प्रकार मारूँ? इत्यादि प्रकार से चिन्तवन करके मैंने क्षमारूप जल से क्रोधाग्नि को शान्त किया। तत्पश्चात् तलवार को म्यान में रखकर, जिस प्रकार आया था, उसी प्रकार गुप्त रीति से जाकर शैय्या पर सोते-सोते हृदयवासिनी दुष्टा के चरित्र का स्मरण करने लगा। कि—हा! धिक्कार है तुम्हारी बुद्धि को! तुम्हें जरा भी विचार नहीं आया कि कहाँ तो मेरा उच्च क्षत्रिय कुल और कहाँ तो उसका रंक कुल? कहाँ तो समुद्रान्त पृथ्वी के अधिपति की प्राणबल्लभ और कहाँ तो यह हाथी-घोड़ों की बची हुई झूठन में आजीविका चलाकर पेट भरनेवाला दरिद्री कूबड़ा।

हा! धिक्कार! तूने यह भी विचार नहीं किया कि मेरा पति राजाधिराज है और एक नवयौवन पुत्र विद्यमान होने पर भी ऐसे नीच, दरिद्री, उच्छिष्ठ भोजी, मलिन गात्र, कूबड़ा के साथ किस प्रकार रमण करती हूँ?

हा! अमृता! तेरी बुद्धि एक साथ ही नष्ट हो गयी। तुझे यह नीच कृत्य करते हुए किंचित् भी लज्जा नहीं आयी। जिस वृक्ष की शाखा पर हंस बैठता है, उसी वृक्ष की शाखा पर बगुला भी बैठता है!

राजन! उपरोक्त विचार करते-करते यशोधर महाराज गोपवती, वीरवती और रक्ता, इन दुराचारी स्त्रियों के चरित्र का स्मरण करने लगे।

गोपवती का चरित्र

किसी एक गाँव में महाव्यभिचारिणी कुलटा गोपवती नामक स्त्री अपने पति के

साथ रहती थी। एक बार उसके पति ने उसके कुचारित्र से व्याकुल होकर अन्य स्त्री के साथ विवाह कर लिया। यह समाचार प्राप्त होते ही वह दुष्टा अत्यन्त क्रोधित हुई। एक दिन नवविवाहिता स्त्री सहित उसका पति सो रहा था, यह देखकर विषधारिणी सर्पिणी की भाँति हुँकार करती हुई तीक्ष्ण तलवार से अपनी सौत का सिर काटकर किसी गुप्त जगह पर रख दिया।

जब उसका पति उस स्त्री के अग्नि संस्कार से निश्चिन्त होकर भोजन के लिये गोपवती के घर में गया और वहाँ मृत्यु प्राप्त स्त्री के शोक में उदास मुख भोजन में अरुचि करने लगा, तब पति की यह दशा देखकर गोपवती ने 'सौत' का मस्तक लाकर पति के भोजन की थाली में रखा और कहने लगी कि अब इसे खा। ऐसा देखकर डरकर पति भागने लगा परन्तु उस कुलटा ने उसे भागने नहीं दिया और उसे भी पकड़कर छुरी से गला काटकर मार दिया और निश्चिन्त होकर मनमाना व्यभिचार सेवन करने लगी। इत्यादि।

वीरवती का चारित्र

सुदत्त नामक एक पुरुष ने वीरवती स्त्री के साथ विवाह करने के थोड़े दिन पश्चात्, उसे लेने के लिये अपने सुसराल गया। वीरवती अंगारक नामक एक चोर में आसक्त थी, परन्तु सुदत्त के वहाँ पहुँच जाने से अंगारक के निकट जाने का समय वीरवती को प्राप्त नहीं होता था। इस कारण रात-दिन वह तड़पती रहती थी। एक दिन किसी कारण से श्मशान में अंगारक को शूली की सजा दी गयी, उसके समाचार यद्यपि वीरवती को प्रापत हो गये थे, तथापि दिन में न जा सकने से, रात्रि होने पर जब उसका पति 'घोड़े बेचकर सो गया', तब आधी रात को अपने प्रेमी से मिलने पहुँची और शूली के नीचे मृत पुरुषों का ढेर करके उस पर खड़ी रहकर चोर का आलिंगन किया। पश्चात् जब अंगारक ने वीरवती के होंठ पर चुम्बन किया, उसी समय अंगारक की मृत्यु हो जाने से उसका मुँह बन्द हो गया।

इस ओर मुर्दों का जो ढेर किया था, वह खिसक जाने से वीरवती का होंठ कटकर अंगारक के मुख में रह गया। पश्चात् वीरवती जिस प्रकार गुप्त रीति से आयी थी, उसी प्रकार मुँह छिपाकर अपने घर में जाकर अपने पति के निकट सो गयी।

तत्पश्चात् उस व्यभिचारिणी दुष्टा ने बुद्धिपूर्वक शोर मचाना शुरु किया कि हाय..

हाय..! मेरे पति ने मेरा होंठ काट लिया। उसकी आवाज सुनकर परिवार के सभी लोग एकत्रित हो गये। जब सबेरा हुआ तब, राजदरबार में जाकर राजा के समक्ष सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने तुरन्त ही सुदत्त को आरोपी जानकर शूली पर चढ़ाने का आदेश दिया।

जब राज कर्मचारी सुदत्त को लेकर चलने लगे, तब एक वीरभट नामक पथिक ने, जो कि वीरवती के दुष्चारित्र का पूर्णतः जानकार था, उसने राजा को समस्त रहस्य कह दिया। कहा कि श्री महाराज! यदि मेरी बात सत्य न लगती हो तो मृतक अंगारक का मुँह देखा जाये, उसमें वीरवती के कटे हुए होंठ का टुकड़ा अवश्य होगा। यह सुनकर जब महाराज की आज्ञानुसार मृतक अंगारक का मुख देखा गया तो उसमें से होंठ का टुकड़ा निकला।

तत्पश्चात् राजा ने वीरवती का चरित्र जानकर सुदत्त को दण्डमुक्त घोषित किया और वीरवती को शूली की सजा सुनायी। उस समय सब लोगों ने कुलटा वीरवती का साहस देखकर अत्यन्त आश्चर्य से कहा कि, देखो! इस पापिनी ने अपना दुष्कर्म छुपाने के लिये बेचारे निरपराध सुदत्त को अपराधी प्रसिद्ध किया।

रक्तारानी की कथा

अयोध्या के राजा देवरति की रानी का नाम रक्ता था। वह बहुत ही सुन्दर थी। राजा, विषय लम्पटी होने से सदा रानी के पास ही बैठा रहता था। राज्यकाज में कुछ भी ध्यान नहीं देता था। धर्म, अर्थ और मोक्ष पुरुषार्थ का परित्यागकर विषय-वासना का दास बने रहने से दुर्गति होती है, देवरति की भी ऐसी ही दशा हुई।

मन्त्रियों को उसकी उदासीनता बहुत ही खराब लगने लगी। उन्होंने राजा से राज्य संभालने की प्रार्थना भी की, परन्तु फल कुछ भी नहीं निकला। इस कारण देवरति के पुत्र जयसेन को राजा नियुक्त करके, देवरति को रानीसहित देश से निष्कासित कर दिया गया।

अरे...रे! इस विषय-वासना को धिक्कार है कि जिससे मान-मर्यादा धूल में मिल जाती है और कष्ट भी सहन करना पड़ता है।

❖ ❖ ❖

राजा देवरति अयोध्या से निकलकर एक भयानक जंगल में आ गया। वहाँ रानी को तीव्र भूख लगी, इसलिए रानी को यमुना के किनारे एक वृक्ष के नीचे बिठाकर राजा भोजन के लिये समीप के गाँव में गया। यमुना के किनारे एक सुन्दर बगीचा था। उसमें कोई अपंग मधुर आवाज में गीत गा रहा था। उसके गाने की मधुर आवाज रक्तारानी के कान में पड़ी। रानी गानेवाले पर मोहित हो गई और वह लाज-शर्म छोड़कर अपंग के पास गई। उसके समक्ष अपनी काम वासना प्रगट की। यद्यपि वह अपंग कोई सुन्दर नहीं था, तथापि रानी उस पर मुग्ध हो गई। सत्य ही है, काम जात-पात नहीं देखता।

रानी की पाप वासना सुनकर अपंग घबरा गया और बोला हे देवी! मैं एक भिखारी हूँ और आप राज रानी हो। यदि राजा अपने को एकसाथ देखेगा तो जीवित नहीं रहने देगा। आपके तेजस्वी और शूरवीर पति की याद आते ही मेरा शरीर काँप उठता है; अत: मुझे क्षमा करो।

रानी ने उसे धैर्य बँधाकर कहा कि तुम चिन्ता मत करो, मैं अभी राजा को मार दूँगी।

अहो! कुलटा क्या-क्या अनर्थ नहीं कर सकती?

उसी समय राजा भोजन लेकर आ गया। उसे देखते ही रानी माया फैलाकर रोने लगी। राजा, रानी को रोते हुए देखकर, भोजन को एक तरफ रखकर रानी के पास गया और बोला कि हे प्रिय! तुम क्यों रोती हो? क्या किसी ने तुम्हारा अपमान किया है? अकस्मात् तुम्हारे रुदन से मेरा धीरज छूटा जा रहा है। अपने रोने का कारण शीघ्र ही मुझको बताओ।

रानी एक लम्बी श्वांस लेकर बोली - प्राणनाथ! आपके रहते कौन मुझे कष्ट दे सकता है? परन्तु मुझे इस बात का बड़ा दु:ख होता है कि आज आपका जन्मदिन है और मेरे पास एक फूटी कोड़ी भी नहीं है। मैं आज आपके जन्म का उत्सव किससे मनाऊँ?

रानी की प्रेम भरी बात सुनकर राजा का हृदय भी भर आया और आँख में से आँसू टपकने लगे। राजा ने रानी से प्यार भरे शब्दों में कहा कि प्रिये! उसके लिये क्या चिन्ता है? कभी वह दिन भी आ जायेगा, जब तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी। तुम्हारे जैसी भाग्यशालिनी जिसकी प्रिया हो, जिसके लिये मैंने राज-पाट को तुच्छ समझा, उसे ऐसी छोटी-छोटी बातों से क्या दु:खी होना चाहिए?

राजा को यह स्वप्न में भी पता नहीं था कि यह कुलटा निष्कपट प्रेम का बदला प्राण लेकर लेगी।

देव की गति विचित्र है। राजा के ऐसे सच्चे प्रेम का उस पापिनी के पत्थर हृदय पर जरा भी असर नहीं हुआ। रानी ऊपर से प्रेम दर्शाते हुए बोली नाथ! जो बात नहीं हो सकती, उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है, तो भी मैं अपने चित्त की शान्ति के लिये इस पवित्र पुष्पमाला से आपके जन्मदिन का उत्सव मनाऊँगी।

ऐसा कहकर रानी ने फूल गूँथने की डोरी से राजा को बाँध दिया। राजा समझा कि रानी जन्मदिन की विधि पूर्ण कर रही है; अत: राजा एक भी शब्द नहीं बोला। राजा को अत्यन्त मजबूती से बाँधकर रानी ने ईशारे से अपंग को बुलाया और उसकी सहायता से यमुना के किनारे ले जाकर राजा को नदी में फेंक दिया और कुलटा रानी उस अपंग के साथ वह अपनी कुत्सित मनोवृत्ति पूर्ण करने लगी। नीचता और कुलटापन की हद हो गयी।

❖ ❖ ❖

जब पुण्य का उदय होता है तो मनुष्य भयंकर दु:खों से भी बच जाता है। राजा देवरति के भी कोई ऐसा पुण्य-उदय हुआ कि जिससे वह नदी से बच गया। वह नदी से निकलकर मङ्गलपुर शहर के समीप पहुँचा। कितने ही दिनों से चलते रहने के कारण वह थक गया था; इस कारण अपनी थकावट दूर करने के लिए एक छायादार वृक्ष के नीचे सो गया। मानो कि जैनधर्म की छत्रछाया में नींद ले रहा हो।

मङ्गलपुर का राजा श्रीवर्धन नि:सन्तान था। उसकी उस समय मृत्यु हो गई, इसलिए मन्त्रियों ने विचार-विमर्श करके एक हाथी को जल से भरा हुआ कलश देकर छोड़ा कि यह हाथी जिसका अभिषेक करेगा, वह राजा बनेगा। कर्म की लीला अपरम्पार है। कर्म, राजा को रंक और भिखारी को राजा बना देता है। जब देवरति का समय प्रतिकूल था, तब उसे रास्ते का भिखारी बना दिया और पुण्योदय होने पर उसे राजगद्दी पर बैठा दिया।

देवरति, वृक्ष के नीचे सो रहा था, उसी समय हाथी ने आकर उसका अभिषेक किया। उसे धूमधामपूर्वक शहर में लाकर राज सिंहासन पर बिठाया गया।

पुण्य का उदय होने पर आपत्ति भी सुखरूप हो जाती है; इस कारण सुख की इच्छा करनेवालों को सदा धर्म पर विश्वास रखकर पूजा, दान आदि शुभकार्य करना चाहिए।

देवरति फिर से राजा हो गया, परन्तु उसकी दशा पहले जैसी नहीं रही। वह स्वयं राजकाज सँभालने लगा। जिन बुराइयों के कारण राज्य से भ्रष्ट हुआ था, वह उनको अपने पास फटकने भी नहीं देता था। स्त्री नाम से भी उसको घृणा थी। वह कुल कलंकी का बदला लेकर सभी स्त्रियों को कुल कलंकी कहने लगा। इसमें उसका दोष भी क्या था? दूध से जला हुआ मनुष्य छाछ को भी फूँक-फूँककर पीता है। वह दान देता था लेकिन किसी भी लूले-लँगड़े को एक दाना भी देना पाप समझता था। वह एक अपंग के पाप का फल है।

❖ ❖ ❖

इधर रक्ता रानी ने कितने ही दिन अपंग के साथ रहकर मजा किया। फिर अपंग को एक टोकरी में डालकर देश-विदेश घूमने लगी। वह जहाँ भी जाती, अपने को एक महासती प्रसिद्ध करती और कहती कि माता-पिता ने मुझे जिसके हाथ सौंपा, वही मेरा प्राणनाथ है। इस ठगाई में लोग बहुत धन देते थे। इस प्रकार भिक्षावृत्ति करते-करते वह मङ्गलपुर पहुँच गई। वहाँ भी लोगों को उसके सतीत्व पर अत्यन्त श्रद्धा हो गई। सत्य है, स्त्रियों ने जब ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे देवताओं को भी ठग लिया, तब उनके जाल में सामान्य मनुष्य ठगा जाये तो उसमें आश्चर्य ही क्या है!!

एक दिन वे दोनों गाते-गाते राजमहल के सामने आये। द्वारपाल ने राजा से प्रार्थना की कि हे महाराज! एक स्त्री अपने अपंग पति को टोकरे में लेकर खड़ी है। वे दोनों बहुत ही सुन्दर गीत गाते हैं और महाराज के दर्शन करना चाहते हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो उनको अन्दर आने दें। सभासदों ने भी उनको देखने की इच्छा जाहिर की।

राजा ने परदा आड़े लगाकर उन दोनों को अन्दर आने की आज्ञा दी। तथाकथित सती सिर के ऊपर टोकरा लेकर अन्दर आई और उसने गीत गाया, जिससे सभी मुग्ध हो गये।

राजा ने आवाज सुनकर उस सती की सत्यता को पहचान लिया। परदा दूर करके

कहा – अहा! यह तो महासती हैं, इनका अतीत मैं अच्छी तरह जानता हूँ। तत्पश्चात राजा ने अपनी हकीकत (आत्मकथा) सभा को सुनाई। लोग इस हकीकत को सुनकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गये और रक्ता को शहर से बाहर निकाल दिया गया।

स्त्रियों का चरित्र देखकर राजा देवरति को वैराग्य हो गया। उसने अपने पुत्र जयसेन को अयोध्या से बुलाकर इस राज्य का भार भी सौंप दिया और स्वयं यमधर आचार्य के समीप दीक्षा लेकर तपश्चर्या करने लगा। अन्त में समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर स्वर्ग में ऋद्धिधारी देव हुआ।

रक्ता रानी जैसी रानी का घृणित चरित्र देखकर, सांसारिक सुख को क्षणिक समझकर, जिस देवरति राजा ने मुनिपद ग्रहण किया, वे सर्वगुण सम्पन्न मुनिराज मुझे मोक्ष प्रदान करें।

इस प्रकार स्त्रियों का चरित्र अत्यन्त ही अगाध है।

❖ ❖ ❖

मारीदत्त महाराज से क्षुल्लक महाराज पुनः कहने लगे—'राजन! इस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्रियों के दुष्चरित्र का चिन्तवन करते हुए जब मैं—यशोधर सो रहा था, तब ही पसीने से भींगे हुए शरीर से वह अमृतादेवी अपने प्रेमी कूबड़ा से रमण करके मलिन मुख लेकर मेरे बाहुपाश में आकर सो गयी, जो मुझे विषपूर्ण सर्पिणी समान लगी अथवा मृतक डाकिनी ही मेरे निकट आयी, ऐसा मुझे लगा।

नृपवर! उस समय यद्यपि वह मेरे बाजु में ही सो रही थी, तथापि मैं मन में चिन्तवन करने लगा कि—'जैसे खाज खुजलाने में सुख होने के बाद वह दुःखी करता है, उसी प्रकार विषय सेवन में सुख होता है, वह वस्तुतः दुःख ही है। जो आभरणों का भार है, सर्व अंगों का दमन करता है और नृत्य आहार का दमन करता है। जो शरीर की लावण्यता है,

वह अशुचि रस को उत्पन्न करनेवाली है। जो स्नेह का बन्धन है, वह दु:ख का कारण है। जो स्त्री के रूपादिक का अवलोकन है, वह काम ज्वर को बढ़ानेवाला है। प्रिया का आलिंगन है, वह शरीर को पीड़ा करनेवाला है।

जो स्त्री के निरन्तर अनुबन्ध में राग है, वह दु:खपूरित कारागृह / जेल है और जो प्रेम है, वह ईर्ष्या की अग्नि है, उसमें जलता हुआ पुरुष आकुलित होता है और स्त्री -सेवनादि क्रिया से उत्पन्न होनेवाला काम है, वह स्त्रियों के हाथ का तीक्ष्ण हथियार है। उसके द्वारा ही दुष्टा व्यभिचारिणी पर पुरुषरता वनिता अपने पति का घात करके पश्चात् स्वयं भी मरण को प्राप्त होकर संसारवन में भ्रमण करती है।

जीवों को जो बाधाकारक विस्तीर्ण और उत्कृष्ट दुष्कृत्य का घर तथा भारी दु:ख है, उस इन्द्रियजनित सुख का पण्डित लोग किस प्रकार सेवन करें ? कभी भी नहीं करते।

यह जो मनुष्य का शरीर है, वह रोगों का स्थान है क्योंकि यह शरीर धोने पर भी पवित्र नहीं होता, सुगन्धित करने पर भी सौरभित नहीं होता परन्तु शरीर के संसर्ग से उत्पन्न सुगन्धित पदार्थ भी दुर्गन्धमय हो जाते हैं।

यह क्षणभंगुर शरीर पुष्ट करने पर भी बलवान नहीं होता, प्रसन्न करने पर भी अपना नहीं होता, दीक्षा से दीक्षित करने पर भी क्षुधा के लिये अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं, अनेक उत्तम शिक्षा देने पर भी अवगुणों में रमण करने लगता है, शान्त करने पर भी दु:खी रहता है, धर्म शिक्षा देने पर भी धर्म से विमुख रहता है।

यह नाशवान शरीर तेलादिक का मर्दन करने पर भी रूक्ष रहता है, दवा का सेवन करने पर भी प्रचुर रोगों से घिर जाता है, अल्पाहार करने पर भी अजीर्ण से व्याप्त हो जाता है, शीतल पदार्थों का सेवन करने पर भी पित्तादि से व्याकुल होता है, वातनाशक तेलादि का मर्दन करने पर भी वात व्याधि से पीड़ित रहता है, अनेक प्रकार से प्रक्षालन करने पर भी कोढ़ से गलता रहता है।

अधिक कहाँ तक कहना ? यह शरीर अनेक प्रकार से रक्षित करने पर भी यमराज के मुख का ग्रास बन जाता है। यद्यपि यह शरीर उपरोक्त प्रकार से विपरीत प्रवर्तमान होता है, तथापि रागी पुरुष इस शरीर के लिये अनेक प्रकार के पाप कर्मों में तत्पर रहते हैं।

इस प्रकार मेरे जैसा मूर्ख मनुष्य अपनी स्त्री के वश होकर पापकर्म करता और व्यापारादि में संलग्न होकर नरक में जाता है।

इस शरीर की यह अवस्था है और जिसके लिये अनेक पापकर्म करता हूँ, उस प्रियतमा की भी यह दशा है तो अब मुझे भी समस्त कार्यों का त्याग कर देना चाहिए। इसलिए अब प्रात:काल होते ही नगर, परिवार और राज्यलक्ष्मी का त्याग करके गहन वन में और सघन पर्वतों की गुफाओं का आश्रय करूँगा तथा देवेन्द्र, धरणेन्द्र, और नागेन्द्रों द्वारा पूजित मुनिपद धारण कर महातप का आचरण करूँगा।'

धरानाथ! इस प्रकार चिन्तवन करते-करते प्रात: काल हो गया, तब प्रात: सम्बन्धी वाजन्त्रों की आवाज सुनकर शैय्या का परित्यागकर खड़ा हुआ। पश्चात् स्नानादि नित्य क्रियायें निपटाकर मैंने विचार किया कि जब कि अब मुझे इस शरीर से ही ममत्व नहीं है तो फिर इन रत्नजड़ित आभूषण और बहुमूल्य वस्त्रों से क्या प्रयोजन है ?

इस शरीर संस्कार से काम की वृद्धि होती है, जिस कामदेव का फल मुझे प्रत्यक्ष प्राप्त हो गया है। इसलिए इसे धारण करना सर्वथा अनुचित है। उसी समय दूसरा यह भी विचार आया कि यदि मैं अभी ही सर्व आभूषणों का परित्याग करूँगा तो सम्पूर्ण अन्त:पुर में यह वार्ता विस्तरित हो जायेगी कि महाराज ने अवश्य कुछ अमनोज्ञ देखा है, इसलिए उदासचित्त होकर आभूषणों का त्याग किया है तथा मेरी सभा की पण्डित मण्डली समस्त अभिप्रायों की ज्ञाता है, अत: उनसे यह बात किसी भी प्रकार से गुप्त नहीं रह सकेगी।

तदुपरान्त यह बात अनेकरूप धारण करके समस्त नगर में फैल जायेगी तो प्रजाजनों के चित्त में अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होने लगेंगे; उनमें भी यदि अमृतादेवी को ज्ञात होगा तो स्वयं तो मरेगी ही परन्तु मुझे मारने का षड्यन्त्र भी करेगी। इस प्रकार अनेक विचार करके मैंने पूर्ववत् सभी वस्त्राभूषण धारण किये। वे मुझे ऐसे लगते थे मानो कि सर्व दु:खों का समूह मेरे सर्वांग में चिपट रहा हो।

राजन! सर्व शुभाशुभ, जीवन, मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख और शत्रुकृत घात के ज्ञाता, विपुल बुद्धि के धारक तथा समस्त ऋद्धि के समूह जिसे हस्तगत है, ऐसे योगीश्वर भी स्त्रियों के चरित्र को नहीं जान सकते तो फिर अन्य पुरुषों की तो बात ही क्या ?

हाथी, बाँधा जा सकता है; सिंह, रोका जा सकता है और संग्राम में प्रबल शत्रु भी जीता जा सकता है, परन्तु पर पुरुषासक्त स्त्री के चित्त को कोई भी बाँध नहीं सकता।

नृपवर! इस प्रकार के विचार करता हुआ मैं उदासचित्त सभा में गया और वहाँ रत्नजड़ित सिंहासन पर उपस्थित हुआ। उस समय की समस्त सभा यद्यपि सुखकर थी, तथापि मुझे—यशोधर महाराज को दु:खकर लगती थी।

राजन! उस समय विद्वान पण्डितों ने सरल वार्ता करना शुरु किया, जिससे मेरे हृदय में हर्ष उत्पन्न होने लगा। उस समय सभा मण्डप में सुकवि के काव्य की भाँति मेरी माता चन्द्रमती का शुभागमन हुआ। उस समय मैंने तपश्चरण का उपाय मन में विचारकर मिथ्या स्वप्न का वृत्तान्त माता को कहा।

मैंने कहा—'हे माता! आज रात्रि को मैंने एक भयानक स्वप्न देखा है। मैंने देखा एक विकराल पुरुष हाथ में शस्त्र लेकर मेरे सन्मुख खड़ा था और मुझे कह रहा था कि तू जिनराज की दीक्षा धारण कर, नहीं तो मैं तुझे यमपुर पहुँचा दूँगा। ऐसा कहकर वह तुरन्त ही अदृश्य हो गया। माता! वह विकराल मूर्ति अभी भी मेरे नेत्रों के समक्ष तैर रही है; इसलिए मुझे कुछ नहीं रुचता। किसकी पृथ्वी और किसका राज्य? किसकी स्त्री और किसका पुत्र? मुझे किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है। अब तो केवल आत्मकल्याण ही इष्ट है। इसलिए मैं समस्त परिग्रह का त्याग करके और दु:सह्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्तकर जिनदीक्षा धारण करके महातप करूँगा।

हे माता! रात्रि को मैंने जो निकृष्ट स्वप्न देखा है, उससे मैंने यह निश्चित किया है कि यशोमति नामक मेरा जो पुत्र है, उसे राज्य के पद पर स्थापित करना योग्य है। माता! दुष्ट स्वप्न की शान्ति के लिये जिनदीक्षा के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।'

मेरे ऐसे वचन सुनकर मुनि के गुणों का घात करनेवाली और मिथ्यात्व के विष से दूषित मेरी माता कहने लगी—

'पुत्र! चिन्तित मनोरथ और समस्त आज्ञाओं को पूर्ण करनेवाली कुलदेवी-चण्डमारी के निकट समस्त जीवों के युगलों की बलि देने से दु:ख, क्लेश, कलह और दु:स्वप्न आदि समस्त कष्ट शान्त हो जाता है, अत: तुझे भी अवश्य शान्ति होगी; इसलिए हे पुत्र! तू भी कुल देवी की सेवा में तल्लीन होकर शान्ति करने का उपाय कर।'

क्षुल्लक—अहो राजन मारीदत्त! जब मेरी माता ने दयारहित उपर्युक्त वचन कहे, उस समय करुणा से कम्पित हृदय मैंने (यशोधर राजा ने) इस प्रकार कहा—

'अहो माता! महापाप के कारणरूप प्राणियों का वध करना किस प्रकार उचित है? क्योंकि जीव-हिंसा के समान न तो कोई पाप हुआ है और न होगा। जो दूसरे जीव का अकल्याण-बुरा करके अपनी रक्षा करना चाहता है, वह अग्नि से शीतलता की चाह करता है।

यह तो प्रत्यक्ष है कि जो दूसरे का भला करता है, उसका भला होता है और जो दूसरे का बुरा करता है, उसका बुरा होता है; उसका भला तीन काल में नहीं हो सकता क्योंकि जीव घात में तो प्रत्यक्ष पाप है और पाप का फल दु:ख है; अत: उससे शान्ति कैसे होगी? कभी भी नहीं होगी।

मातुश्री! जो जीव का घातक है, वह उस जीव से अनेक प्रकार से घाता जाता है इस प्रकार पापरूपी नौका में बैठकर विघ्नरूपी नदी किस प्रकार पार की जा सकती है?

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि जीवघात में ही धर्म हो और उससे ही विघ्नों की शान्ति होती हो तो पाप किस कार्य में होगा?

इस बात को सभी धर्मवाले मानते हैं और यह वाक्य हमेशा बोला जाता है कि 'अहिंसा परमोधर्म:'। इस वाक्य से विरोधी कोई नहीं है तो फिर 'जीवघात में धर्म होता है' ऐसा कहनेवाला कौन होगा?

माता! पूर्व काल में असंख्य महापुरुष, काल का ग्रास होकर परलोकवासी हो गये हैं, तो क्या उस समय चण्डमारी देवी नहीं थी अथवा नैवेद्य और पशुओं का समूह नहीं था? अथवा मद्य-माँस का सरस भक्षण नहीं था? या फिर इस विधि का कोई ज्ञाता नहीं था कि जो चण्डमारी देवी को पशु तथा मद्य आदि की बलि देकर, सन्तुष्ट करके मरण से बच जाये?

इससे यह निश्चित होता है कि चण्डमारी देवी में ऐसी शक्ति नहीं है कि किसी जीव को काल से बचा सके और उसे शान्ति प्रदान कर सके।

वास्तविकता तो यह है कि संसार में जितने जीव हैं, वे अपने-अपने कर्मों के आधीन सुख-दुःख का भोग करते हैं। कोई भी किसी का उपकार नहीं करता परन्तु शुभाशुभकर्म ही अपकार और उपकार के कर्ता होते हैं।'

राजन्! इस प्रकार मेरे वचन सुनकर माता कहने लगी—

'प्रिय पुत्र! समस्त जगत में धर्मरूप वृक्ष का मूल वेद है; इसलिए वेद द्वारा जो मार्ग सम्पादित है, राजाओं को उसी का पथिक बनना उचित है और वेद में देवताओं के लिये पशुओं का घात करना पूजनीय और प्रशंसनीय कहा गया है, इसलिए जीववध, पुण्य माना गया है और उसे करनेवाले महापुरुष स्वर्ग के अधिकारी माने गये हैं।

जो पशुओं का घात करता है और माँस का भक्षण करता है, वह स्वर्ग और मोक्ष की ओर गमन करता है। जैसा ब्रह्मा ने वर्णन किया है, उसी प्रकार विपुलमति के धारक सुगुरु भैरवाचार्य प्रतिपादन करते हैं।

प्रिय पुत्र! उपर्युक्त कथनानुसार कुल देवी चण्डमारी के लिये पशुओं का बलिदान देकर शान्ति की स्थापना कर। उस महादेवी के समक्ष जीवों का हवन करने से तेरे समस्त शत्रुगण त्रासयुक्त होते हुए तेरे चरणों में नमस्कार करेंगे और तेरा यश समस्त दिशाओं में व्याप्त हो जायेगा।'

राजन्! मेरी - यशोधर की - माता उपरोक्त उपदेश देकर जब मौन हो गयी, तब मैंने फिर से कहा—

'प्रिय माता! तूने जो कुछ भी कहा, वह सब सर्वथा अनुचित और मिथ्या है, क्योंकि जो हिंसामार्ग के प्ररूपक, हिंसा के प्रणेता और हिंसा के उपदेश के श्रोता हैं, वे महाघोरतर पाप के करनेवाले महापापी हैं; और जो पुरुष तीक्ष्ण खड्ग की धार से पशुओं का घात करता है, वह निकृष्ट और पापी है।

जो पुरुष दीन पशुओं को बन्धन में डालकर त्रास देता है, उन्हें मारकर उनके माँस का भक्षण करता है तथा मद्य-पान करके देवता की भक्ति में लीन होकर नृत्य करता है, गीत गाता है और वादित्र बजाता है, वह सातों ही नरक की भूमि में उत्पन्न होकर ताड़ण, मारण, शूलीरोहण आदि असंख्य कष्टों का पात्र बनता है। जब वहाँ से बाहर निकलकर

कोई हिंसक तिर्यंच होकर अति रौद्र दु:खरूप कुयोनियों में भ्रमण करके किसी पुण्य के योग से यदि मनुष्य पर्याय धारण करे तो क्षुधावन्त, मूक, पंगु, बहरा, अन्धा, निर्बल, दीन, दरिद्री, दु:ख से पीड़ित, नपुंसक, शक्तिहीन, तेजरहित, अविवेकी, गौ आदि पशुओं का घातक, चाण्डाल, नीच कर्म से आजीविका करनेवाला, हिंसक और क्रूर परिणामी होता है।

तत्पश्चात् मरकर सिंह, शार्दूल, मार्जर, आदि पशु तथा सर्प, गृद्ध, आदि पक्षियों की योनियों में भ्रमण करके महावेदना भोगता है। पशुओं का वध करने से और पर की हिंसा से ही यदि धर्म होता हो तो बहुगुणी और मुनियों को पापी जीव किसलिए नमस्कार करते हैं ?

मन्त्र संस्कारपूर्वक तीक्ष्ण खड्ग की धार से पशुओं का वध करो, दिशाओं में बलि चढ़ाकर अग्नि में हवन करके मुण्डन कराकर कसायले लाल वस्त्र धारण करो, अनेक नदियों में-सरोवरों में स्नान करके शरीर पर राख लगाओ, बड़ी जटा धारण करो, इन्द्रियों का दमन करके पंचाग्नि तप तपो, धूमपान करो, नग्न मुद्रा धारण करो, वन-पर्वत और गुफाओं में वास करो, आतापन-चन्द्रायण और शुद्धोदन आदि व्रतों का चिरकाल के लिये पालन करो, इत्यादि दूसरे अनेक दुष्कर तपों आचरण करो परन्तु जीव दया के बिना सब निष्फल ही नहीं, अपितु उनके धारक, घोर वेदनायुक्त नरकों के कष्टों को सहन करके अनन्त काल तक भ्रमण करते हैं।

करोड़ों शास्त्रों का सार एक ही है कि जो पाप है, वह हिंसा में है और जो धर्म है, वह जीवदया में है।

जो जीव, जीवों की हिंसा करता है, वह अनेक जन्मों में अनेक रोगों से ग्रसित होता हुआ अत्यधिक भार को सहन करनेवाला होता है। जो परजीवों को त्रास देता है, वह अनेक भवों में अनेक दु:खों का भोक्ता होता है।

हे माता! मैं भी अमर तो नहीं, तो फिर इस शरीर के लिये परजीवों का घात किस प्रकार किया जा सकता है ?'—ऐसा कहकर तीक्ष्ण खड्ग म्यान में से निकालकर निज मस्तक काटने के लिये उद्यत हुआ कि तुरन्त ही मेरी माता के हाहाकर करने से निकट बैठे हुए नर रत्नों ने मेरी तलवार पकड़ ली।

तत्पश्चात् वृद्ध माता ने मेरे पैर में गिरकर कहा—'हे पुत्ररत्न! मैंने वास्तव में

असत्य कहा है परन्तु जीव चेतनतत्त्व गुण विशिष्ट है और शरीर अचेतन है। इस कारण शरीर का घात करने से पौद्गलिक शरीर को ऐसा पता नहीं पड़ता कि मुझे काटा जा रहा है अथवा मेरे शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा होती है। तदुपरान्त शरीर का नाश होने से नित्य आत्मा का नाश नहीं होता।

इसलिए हे पुत्र! अपनी कुल परम्परा से चला आया हुआ जो मार्ग है, उसे स्वीकार करना ही सर्वथा उचित है।'

पैरों में गिरी हुई माता ने ऐसा कहा तब मैंने-यशोधर महाराज ने कहा कि—'हे माता! यद्यपि इस कार्य में अधर्म ही है, तथापि तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा, तत्पश्चात् तपश्चरण धारण करूँगा।' यह सुनकर मेरी माता सहर्ष खड़ी हो गयी।

तत्पश्चात् लेपकार को बुलाकर आटे का मुर्गा लाने का आदेश दिया। मेरी माता ने जब हास्यपूर्वक लेपकार से आटे का मुर्गा मँगाया कि तुरन्त ही वह उत्कृष्ट वर्ण का धारक मुर्गा ले आया। उस मुर्गे के रंग-रूप को देखकर ऐसा ही लगता था कि यह आटे का नहीं परन्तु सचमुच ही जीवित मुर्गा है और अभी चलने लगेगा।

महाराज! जब मेरी-यशोधर महाराज की-दृष्टि उस मुर्गे पर पड़ी तो तुरन्त ही मेरी माता के आदेश से ढोल, नगाड़े, मृदंग, शंख, बाँसुरी ओर झांझर आदि वादित्रों की आवाज से आकाश गुंजायमान हो गया।

राजन मारिदत्त! उस समय मेरी माता ने कहा कि—'प्रिय पुत्र! अब विलम्ब का समय नहीं है। अब तुरन्त ही देवी के लिये बलि चढ़ाना चाहिए।' इस प्रकार माता की आज्ञानुसार उठकर समस्त मण्डली तथा पूजा करनेवाले ब्राह्मणों के समूह के साथ हम महोत्सवपूर्वक कुल देवी के मन्दिर की ओर रवाना हुए। वहाँ हम दोनों माता-पुत्र ने देवी की प्रदक्षिणा करके सामग्री से देवी का पूजन किया; तत्पश्चात् देवी के समक्ष तीक्ष्ण छुरी से मुर्गे का घात करके उसमें से प्रवाहित लाल रंग के पानी में रुधिर की कल्पना करके देवी के अंगों का सिंचन किया और उस आटे से बने हुए शरीर में माँस की कल्पना करके देवी के सन्मुख चढ़ा दिया। तत्पश्चात् हम दोनों माता-पुत्र ने देवी से प्रार्थना की कि—

'हे माता! यह अपूर्व कार्य पूर्ण हो।' इस प्रकार तीन बार कहकर फिर घी, मद्य आदि मिश्रित उस आटे के मुर्गे में माँस की कल्पना करके देवी का प्रसाद गिनकर सबको बाँट दिया और सबने खाया।

आहा! उस संकल्पी हिंसा और कल्पनामात्र माँस भक्षण से जो पाप का बन्ध होगा, वह वचन अगोचर है।

तत्पश्चात् देवी को नमस्कार करके मैंने कहा कि—'हे माता! तुम्हें देखकर सन्तोषी मनुष्य सन्ताप से मुक्त हो जाता है। हे देवी! तेरी कृपा से मुझे जंघाबल, बाहुबल, और अचल जीवितव्य प्राप्त हो। हे सुरेश्वरी! भयंकर रण, अतिकष्ट और प्रियजन वियोग में मेरी रक्षा करो।' इस प्रकार प्रार्थना करते हुए देवी के शरण को प्राप्त हुआ, परन्तु निकट आयी हुई मृत्यु को किंचित् भी जान नहीं सका।

तत्पश्चात् वापिस महल में आकर अपने पुत्र का स्वर्ण कलशों से अभिषेक कराकर राज्यासन पर स्थापित किया। जिस समय मैं समस्त कार्यों से निश्चिन्त होकर तपोवन जाने के लिये उद्यत हुआ ही था कि इतने में अमृतादेवी ने अपना संकल्प दृढ़ किया अर्थात् वह अपने हृदय में विचार करने लगी कि रात्रि के समय कूबड़ा के साथ जो क्रिया की थी, वह स्वामी को ज्ञात हो गयी है और इसीलिए सामन्त, मन्त्री और समुद्रान्त पृथ्वी का राज्य छोड़कर तपश्चरण की इच्छा करते हैं। मैंने महाराज का भाव उनके शरीर की आकृति से जान लिया है। इस प्रकार चिन्तवन करती हुई अमृतादेवी अपने हृदय में दृढ़ संकल्प करके मेरे निकट आकर कहने लगी—

'स्वामी! आपने जो यह दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प किया है, वह अति उत्तम है परन्तु मेरी एक प्रार्थना है, उसे सहर्ष स्वीकार करने के पश्चात् तपोवन की ओर प्रयाण करें – ऐसी प्रार्थना है।

प्राणेश्वर! आपकी मंगल कामना के लिये समस्त अन्त:पुर और नगर निवासी लोगों को आमन्त्रण दिया है तो आप भी देवी के प्रसाद का भोजन ग्रहण करें। तत्पश्चात् हम दोनों जिनदीक्षा धारण करेंगे, क्योंकि आपके बिना इस जीवितव्य को मैं किस प्रकार रख सकूँगी?

प्राणनाथ ! आज का दिन अभी घर में रहें, प्रातः काल होते ही जैसे कामदेव को रति, इन्द्र को शची, नारायण को लक्ष्मी, रामचन्द्र को सीता तथा महामुनि को शुद्ध बुद्धि अनुगामिनी होती है, उसी प्रकार आपके चरणों की दासी आपके पीछे तपोवन में चलेगी।

नाथ ! आपके साथ ही मैं तपश्चरण धारण करूँगी। यम-नियम का पालन करूँगी। प्रिय पते ! आपके बिना सब लोग मेरी जवानी पर ऊँगली करेंगे कि जिसका पति तो समस्त परिग्रह का त्यागी होकर वनवासी हो गया और यह अभी घर में रहकर सुख का भोग करती है।'

राजन मारिदत्त ! भवितव्य अत्यन्त ही बलवान है, मेरे चरणों में पड़ी हुई अमृतादेवी के वचन सुनकर, यद्यपि मेरा मन तो उससे अत्यन्त विरक्त हो गया था, तथापि भवितव्यता अनुसार फिर से उसके प्रेमजाल में फँस गया। नृपवर ! उस समय मैं फिर से ज्ञाननेत्र विहीन होकर उस परपुरुषासक्त दुष्टिनी के रात्रिकृत कर्म को स्वप्न सदृश जानने लगा।

तत्पश्चात् चरणों में गिरी हुई अमृता के कोमल हाथ को पकड़कर, उसे खड़े करके कहा कि—'प्रिये ! मैं तेरी इच्छा पूर्ण करूँगा।' यह सुनकर वह कपटवेशा प्रफुल्लित होती हुई, हास्यपूर्वक रसोईया को उत्तमोत्तम भोजन तैयार करने की आज्ञा करते हुए कहने लगी कि 'भोजन में क्या विलम्ब है ? शीघ्र तैयार करो।'

रसोईदार ने हाथ जोड़कर कहा—'स्वामिनी ! भोजन तो तैयार है। बस, महाराज के पधारने की देरी है।'

अमृतादेवी—'प्राणपति ! रसोई तैयार है, जीमने के लिये शीघ्र पधारें क्योंकि जब आपका भोजन हो जायेगा, तब दूसरों को भोजन कराया जायेगा।'

महाराज मारिदत्त ! इस प्रकार के प्रेमपूर्ण अमृतादेवी के वचन सुनकर, हर्षित होते हुए, कर्मों से प्रेरित मैं अमृता के महल की ओर गमन करने लगा। वहाँ स्फटिकभूमि में उज्ज्वल आसन पर माता सहित विराजमान हुआ। स्वर्ण के थाल में सरस व्यंजन समूह सुकवि के काव्य की तरह सरस अति मनोज्ञ दिखने लगे तथा भोजन के समय की सभा भी काव्य की भाँति सरस्वती लगती थी।

वह अति कोमल, सरस, निर्मल और श्वेत उत्तम भात का भोजन कृतघ्नी जैसा लगता था। उस समय नये स्वर्णमयी छिलकेसहित और दो भागवाली दाल मेरी थाली में रखी हुई ऐसी लगी कि मानो खण्ड किये हुए यमराज के बाण ही न हों! राजन्! उस रसोईया ने, गरम दूध, घी, और उत्तम दही मेरी थाली में रखा, वे ऐसे लगते थे मानो दुष्ट गृहिणी के संगम में यमपुर का मार्ग ही एकत्रित हुआ है।

तत्पश्चात् मोदक भी दिया गया। वह तीव्र विषयुक्त मोदक, वही अमृतादेवी ने प्रेमपूर्वक दिया। उसने कहा—'प्राणनाथ! यह मोदक मेरी माता ने भेजा था, जो मैंने आपके लिये रखा हुआ था। आज आपको देती हूँ; इसलिए आप सर्व प्रथम इस अमृतमय अति स्वादिष्ट मोदक का स्वाद लीजिये।' तत्पश्चात् अनेक मसालों सहित तीक्ष्ण तलवार जैसी सब्जियाँ भी परोसी गयीं।

नृपवर! यद्यपि मैं दुष्ट पत्नी के चरित्र से विरक्त था, तथापि उसकी प्रेमसहित की मोहनी बातों से मोहित होकर ज्ञानशून्य हो गया। उस समय मुझे कुछ भी विचार नहीं रहा अर्थात् समस्त उत्तम व्यंजनों को छोड़कर सर्व प्रथम मोदक का ही हम दोनों माता-पुत्र ने भक्षण किया।

उस तीव्र विष की वेदना से दोनों का सिर घूमने लगा। जब मैंने जान लिया कि इसमें हलाहल विष है, तब मेरे मुँह से वैद्य... वैद्य... शीघ्र वैद्य को बुलाओ... इतने ही शब्द निकल सके और मैं तुरन्त ही मूर्च्छित होकर धराशायी हो गया।

उसी समय वह दुष्टा-कपटी मेरी पत्नी अमृता, हा नाथ! हा नाथ! शब्द बोलती हुई दहाड़ मारने लगी। तत्पश्चात् मुझ पर गिरकर अत्यन्त कठोरता से मेरा गला दबाकर मुझे मार दिया।

राजन! पश्चात् उसने विचार किया कि यदि वैद्य आयेगा तो मेरा कपट पकड़ा जायेगा, इसलिए कुछ ऐसा विचार करूँ कि वैद्य आ जाने से भी मेरी मायाचारी का किसी को ज्ञान न हो सके। इस प्रकार विचारकर उसने अपने दाँत से मेरा गला दबाकर मुझे मारा और 'हा नाथ! हा नाथ!' करके लोगों को दिखाने के लिये दहाड़ मारकर रुदन करने लगी। उसकी आवाज से समस्त परिवार और समस्त अन्तःपुर एकत्रित हो गया।

राजन! जो पुरुष व्यभिचारिणी कुलटा के वचनों का विश्वास करता है, वह मेरी तरह नष्ट हो जाता है।

उस समय सज्जन पुरुषों के मन और नेत्रों को आनन्ददायक मेरे पुत्र को सूचना मिलते ही शरीर कम्पित होने लगा और वह धरती पर इस प्रकार गिर पड़ा मानो वज्रपात से पर्वत गिर पड़ता है।

तत्पश्चात् सचेत होकर 'हा नाथ! हाय पिता! आपके बिना समस्त जगत अन्धकारमय ज्ञात होने लगा है। अब इस अवन्ति का स्वामी कौन होगा? हे पिता! आपके बिना यह राज्य अब रुचिकर होने के बदले दु:खदायक हो गया है। हे पिता! इस विशाल राज्य पर अब वज्रपात हो तो भी मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है।' - इत्यादि प्रकार से रुदन करते-करते पुकार करने लगा।

हे राजन! उस समय मेरे पुत्र की ऐसी दशा देखकर वृद्ध मन्त्री, सेनापति आदि मुख्य कर्मचारीगण और वृद्ध कुटुम्बीजन उसे सम्बोधन करने लगे कि—'हे पृथ्वीनाथ! जैसे बने वैसे इस दु:खसहित अश्रुपात को रोककर चित्त में समाधान करो।

इस समस्त संसार में जितने महापुरुष हुए, वे सब ही काल का ग्रास बन गये हैं। इस पृथ्वी पर महाराज नल, नहुष, सगर, आदि बड़े-बड़ प्रजापालक हुए परन्तु सब ही काल के वश होकर मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। इस पृथ्वी पर वेणुपाल आदि महाबली राजा हुए, उनका भी काल ने नाश किया। महाराज! पूर्व में नारायण, प्रतिनारायण, हलधर, चक्रवर्ती और कामदेव आदि महाप्रतापी तीन खण्ड और छह खण्ड के नाथ अनेक राजा हुए। उन्होंने पृथ्वी पर अनेक अद्‌भुत कार्य किये परन्तु वे भी यमराज के मुख का ग्रास हो गये।

हे चिरंजीवी! जो जन्म धारण करता है, वह मरण को साथ ही लाता है; इसलिए संसार की अवस्था जानकर शोक का परित्याग करो और शान्तचित्त से निज पिता और दादी का विधिपूर्वक अग्नि संस्कार करो।'

इस समय समस्त कर्मचारियों के सम्बोधन से यशोमति शोक का त्यागकर पिता और दादी के अग्निदाह का प्रबन्ध करने लगा। उस समय समस्त कुटुम्बियों के मुखमण्डल

की कान्ति नष्ट हो गयी, परन्तु उस दुष्टा अमृतादेवी ने यद्यपि बाह्य दिखावट से रुदन किया, तथापि उसके मुख की शोभा प्रसन्न ज्ञात होने लगी।

उदासचित्त यशोमति पुनः मन में सन्तप्त होने लगा और कहने लगा कि—'पिता के बिना क्या जीवितव्य है ?'

पृथ्वीनाथ! मेरे शोक से सम्पूर्ण अन्तःपुर की स्त्रियाँ शोक सूचक लाल वस्त्र धारण करके अनेक लोगों के साथ मेरे मृत देह के पीछे आती हुई ऐसी लगती थी मानो सूर्य के पीछे सन्ध्या गमन करती हो। मेरे शव के साथ जाते हुए सभी लोग ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे कि चन्द्रमा के साथ अनेक नक्षत्र समूह गमन करते हैं। इसी प्रकार रुदन करते-करते महाकाल नामक यक्ष के मन्दिर की दक्षिण दिशा की ओर श्मशान में ले गये। वहाँ समस्त ही परिवारजन, अन्य देश के राजा और अन्य गाँव के लोग आये, परन्तु मलिनभाव की धारक दुष्टा, पापिनी कूबड़ा में आसक्त अमृता नहीं आयी।

नृपवर! उपरोक्त समुदाय के बीच यशोमति ने पिता-दादी दोनों का अग्नि संस्कार किया। तत्पश्चात् मेरे नाम से अनेक ब्राह्मणों को एकत्रित करके उन्हें अनेक गायें, रत्न, स्वर्ण हार, बहुमूल्य उत्तम वस्त्र और अनेक गाँव प्रदान किये। अन्धे, लूले, लँगड़े, भिखारी, दरिद्री जीवों को अनाज दिया, वस्त्रादि दिये। तत्पश्चात् परिवार के लोगों को उत्तम भोजनादि से सन्तुष्ट किया।

पृथ्वीनाथ! मेरे लिये यशोमति ने अनेक प्रकार के दान किये, तथापि मैं समस्त योनियों में उत्कृष्ट मनुष्य पर्याय को प्राप्त नहीं हुआ।

राजन! देखो, संसारी जीव मिथ्यात्वकर्म के उदय से कैसे मोहित हो रहे हैं कि जिन्हें इस बात का भी परिज्ञान नहीं है कि जीव अपने ही शुभाशुभभावों से अनेक प्रकार के कर्म बाँधकर संसार में भ्रमण करता है और उसके लिये अन्य जन कितना भी दान-पुण्य करे, तथापि उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता, अपितु मिथ्यात्व का बन्ध होता है।

यह अज्ञानी प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि पिता के खाने से पुत्र का पेट नहीं भरता, उसी प्रकार पुत्र के भोजन करने से पिता का पेट नहीं भरता। जब निकट बैठे हुए का पेट नहीं भरता तो फिर जो दूसरी गति में चला गया है, उसके निमित्त से जो कुछ भी दिया जाये, वह उसके पास किस प्रकार पहुँच जायेगा ?

विषयासक्त जीव तब तक अति घोर संसार में ही भ्रमण करता है, जब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त नहीं करते या उनका चिन्तवन नहीं करते।

❖ ❖ ❖

प्रजापति! यह तो निश्चय है कि समस्त जीव अपने किये हुए कर्मों के अनुसार संसार में भ्रमण कर अनेक योनियों में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मैं अपने कर्मों के आधीन मृत्यु प्राप्त करके हिमवान पर्वत की दक्षिण दिशा के क्षुद्र वन में मयूर के उदर में उत्पन्न हुआ। वह वन बाघ, सिंह, हाथी, गैंडा, हिरण और भालुओं के समूह से भयानक है। उस वन में बाघ के समूह हिरणों का घात करते हैं और सिंहगण मदोन्मत्त हाथियों के समूह से युद्ध करते हैं।

उस निर्जन वन में कहीं गिद्ध आदि पक्षियों के समूह निवास करते हैं, कहीं सर्प और नेवला युद्ध करते हैं; कहीं भीलों का समूह राहगीर को लूटने के लिये इन्तजार करके खड़े हैं, कहीं बन्दर और लंगूर वृक्ष की शाखाओं को कम्पित करते हुए घोर शब्द करते हैं, कहीं अष्टापद के समूह विचरते हैं, कहीं कस्तूरी के लिये हिरणों के घात में अनेक दुष्टजन विचर रहे हैं।

वृक्षों के समूह से सघन वन में अश्रु परिणामों के योग से दु:ख से व्याप्त मयूर कुल में मुझे कुकर्म ने उत्पन्न किया।

राजन! उस भयानक वन में मयूरी के तीव्राग्नियुक्त उदर में उत्पन्न हुआ। मैं वहाँ, जिस प्रकार दुष्टजनों के वचन से सज्जन पुरुष जलते हैं अर्थात् दाह को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार मयूर की उदराग्नि में जलने लगा। जिस प्रकार तपी हुई कढ़ाई में नारकी दु:खी होते हैं, उसी प्रकार मैं भी दु:खी हुआ। फिर मेरी माता मयूरी ने मुझे जन्म देकर विलाव आदि हिंसक जीवों के भय से काँटेवाले वृक्षों के खण्ड से आच्छादित रेत में अपने पँखों से ढाँककर पेट की गर्मी से संतप्त किया।

तत्पश्चात् दिन पूर्ण होने पर मुझे अण्डे में से बाहर निकाला। फिर जब तक मैं चलने और उड़ने योग्य नहीं हुआ, तब तक मेरी माता ने मुझे अपने चोंच से अन्न-कण खिलाये, उनसे ही मेरा उदर पूर्ण होता था।

इस प्रकार काल व्यतीत करते-करते एक दिन वन में भ्रमण करती हुई माता को दुष्ट भील ने मार दिया और मुझे जीवित ही पकड़ लिया। फिर माता को एक वस्त्र में बाँधा और मुझे दूसरे वस्त्र में लपेटकर अपने घर की ओर चल दिया।

नृपवर! उस समय मैं अनेक प्रकार से रुदन भी करता था परन्तु उस दुष्ट शिकारी के हृदय में जरा भी दया नहीं आयी। उस भील ने गाँव में जाकर मेरी मृत माता को तो कोतवाल को बेच दिया और मुझे अपने घर ले जाकर पिंजड़े में बन्द कर दिया। तत्पश्चात् मुझे देखकर भीलनी ने अपने पति से इस प्रकार कहा—

'रे दुष्ट पापिष्ट! तू इस बालक को क्यों लाया? इसे मारने से क्या होगा? इसका एक ग्रास भी नहीं होगा। क्या इससे पेट भर जायेगा? तू बड़ी मयूरी तो कोतवाल को दे आया और छोटा बालक यहाँ लाया है। अब क्या तुझे खाऊँ? रे नीच! अब तू मेरे सामने से चला जा, मुझे अपना मुख मत दिखा।'

इस प्रकार अपनी पत्नी के कठोर और रूक्ष वचन सुनकर भील कहने लगा—

'अरे दुष्टनी! तू क्यों घबराती है? अभी जाकर इस बच्चे को भी बेच आता हूँ। उससे जो कुछ पैसा मिलेगा, उसका अनाज लाकर तुझे देता हूँ, फिर अच्छी तरह से पेट भर लेना।' ऐसा कहकर भील ने मुझे (मयूर बालक) को भी ले जाकर कोतवाल को बेच दिया। कोतवाल ने मुझे मारा नहीं परन्तु मेरा पालन-पोषण किया तथा कुत्ते, बिल्ली आदि जीवों से मेरी रक्षा की।

पृथ्वीनाथ! उस कोतवाल के घर में मैं हंस की भाँति उसकी जैसी कान्तियुक्त शरीरवाला हुआ। मैं वहाँ अनाज के दाने खाकर मनुष्यों को आनन्दित करते हुए सुमधुर शब्द करता था।

नरश्रेष्ठ! पापी जीवों के शरीर भी आहार के साथ बँधे हुए होते हैं। मैंने कोतवाल के घर में पेट भर भोजन किया, जिससे पंच वर्ण के रत्नों की माला जैसे पंख हुए तथा मेरा समस्त शरीर अति शोभायुक्त हो गया। मुझे देखकर हर्षित होकर कोतवाल ने विचार किया कि इस बालक को उज्जैनी नगरी ले जाकर महाराज यशोमति को भेंट करूँगा।

मदमति चन्द्रमति नामक मेरी माता का जीव उसी उज्जैनी नगरी में विसरस कुत्ते की योनि में उत्पन्न हुआ।

❖ ❖ ❖

राजन! मेरी माता चन्द्रमति जो कि विष्णु के चरणों की भक्त, ब्राह्मणों को भोजन के बाद बचे हुए माँस का भोजन करनेवाली, ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करनेवाली, निरन्तर चण्डिकादेवी को पूजनेवाली, देवी के लिये अनेक पशुओं को मारनेवाली, गंगा नदी के पानी को पवित्र माननेवाली, बकरा-हिरण-पाड़ा आदि से कुलदेवी और मृत पितृजनों को तृप्त करनेवाली और जैन मतानुयायी जीवमात्र के रक्षक नग्न दिगम्बर मुनियों की हमेशा निन्दा करनेवाली थी। वह अपने अशुभकर्मों की प्रेरणा से कुत्ते की योनि में उत्पन्न हुई।

वह श्वान महाबलवान पवन समान वेग का धारक, चंचल और कुटिल वज्रसमान कर्कश नखवाला, जो हाथ के प्रहार से हिरणों के समूह का विदारक था। वह महा विकराल और पाप क्रिया में रत श्वान, महाराज यशोमति को भेंट में आया और उसी दिन मुझे अर्थात् मयूर को भी कोतवाल ने ले जाकर महाराज को प्रदान किया।

राजन! इन दोनों को देखकर महाराज यशोमति अति हर्षित हुआ और मुझे घर की शोभा बनाया अर्थात् महल में रखने का आदेश दिया। उस समय मेरे पुत्र यशोमति ने प्रेमपूर्वक मेरे समस्त अंगों पर हाथ फिराया और अत्यन्त प्रसन्नता करते हुए अपने हृदय में इस प्रकार विचार करने लगा—

निपुण विधाता ने यह कैसा मनोरंजक मयूर बनाया है! जैसा मनोज्ञ मयूर है, वैसा ही मनोरंजक श्वान भी है। यह तो सिंह समान बलवान, अपने वेग से हिरणों के समूह का घातक है तथा मुझे तो ऐसा लगता है कि इस श्वान के समक्ष तो विष्णु महाराज का सूकर भी नहीं बच सकेगा!

राजन! इस प्रकार विचार करते हुए तुरन्त ही कुत्ते को श्वान पालकों को हस्तगत किया। उन्होंने उसे यमराज तुल्य जानकर स्वर्ण की साँकल से बाँधा। मुझे महल के बीच छोड़ दिया। जिससे मैं आकाश में उड़ते हुए महल के शिखर पर क्रीड़ा करने लगा। उस समय आकाश में गर्जना करते हुए और ग्रीष्मरूप राजा को भगाने के लिये इन्द्र धनुष का धनुष धारण करते हुए बादलों को देखा।

उस समय वर्षाकाल का आडम्बर देखकर मैं रोमांचित होकर नृत्य करने लगा। पश्चात् जन्मान्तर का जातिस्मरण होने से अश्रुपात करते हुए रुदन करने लगा। उसी समय जमीन पर बैठा हुआ कूबड़ा, उसके प्रति आसक्त अमृतारानी को देखा। तत्काल पूर्व के बैर से ईर्ष्या के आवेश में मैं उन पर गिरा। पूँछ और नख से तथा चोंच द्वारा घात करने लगा।

उसी समय रुधिर की धारा से व्याप्त अति विह्वल होकर दोनों व्यक्ति हाथ ऊँचे करके हाहाकार करते हुए पृथ्वी पर गिरे। फिर अमृतादेवी ने तुरन्त ही उठकर मणि की माला से मेरा पैर तोड़ दिया, इसलिए मैं विचार करने लगा—

जिस समय मैं सामर्थ्यवान अद्वितीय राजा था, उस समय तो इसका घात नहीं किया परन्तु इस समय इस कूबड़े पर प्रहार किया, इसलिए संक्लेश का कारण हुआ।

राजन! ऐसा विचार करते हुए मैं, यद्यपि मेरा पैर टूट गया था, तथापि वहाँ से जैसे-तैसे करके भागा परन्तु अमृता की आवाज पड़ने से अनेक दासियाँ मेरे पीछे दौड़ पड़ी और जिनके हाथ में जो आया, वह लेकर मुझे मारने लगीं। अनेक दासियाँ विविध प्रकार से मुझे मारने लगी, तथापि मैं भागता ही गया परन्तु देव ने फिर प्राण बचने नहीं दिये। माता के जीव कुत्ते ने अचानक आकर इस प्रकार से मेरा गला पकड़ा कि जिससे मैं प्राण विहीन हो गया।

अरे रे! देखो, संसार की विचित्रता! जो माता मेरे अशोभन में विह्वल हो जाती थी, उसी माता के जीव कुत्ते ने दाँत से मुझे ऐसा पकड़ा कि मेरे पुत्र ने—महाराज यशोमति ने—मुझे छुड़ाने के लिये बहुत मेहनत की, तथापि उस दुष्ट कुत्ते ने नहीं छोड़ा, तब यशोमति ने क्रोधित होकर कुत्ते के सिर पर ऐसा दण्ड प्रहार किया कि तत्काल सिर के दो भाग हो गये और कुत्ते के प्राण भी निकल गये।

नृपवर! देखो, कर्मों का विकार कैसा विचित्र है? कि माता के जीव कुत्ते ने पुत्र के जीव मयूर को मारा और पौत्र ने दादी के जीव कुत्ते को मारा, फिर विलाप किया।

महाराज! उस समय मेरे मृत शरीर को देखकर यशोमति इस प्रकार विलाप करने लगा कि 'हा मयूर! हा घर की लक्ष्मी के आभूषण! तेरे बिना महल के शिखर और ध्वजाओं की शोभा कहाँ है?

हा शिखिराज! तेरे बिना घर की बावड़ी में घूमते हुए सर्प किस प्रकार नष्ट होंगे?

हा शिखण्ड ! तेरे बिना विचित्र पुष्पों के बीच कामिनियों के शब्द सुनकर कौन नृत्य करेगा' — इत्यादि। इस प्रकार मयूर के शोक से निवृत्त नहीं हुआ कि इतने में कुत्ते का मृत शरीर देखकर विह्वल होता हुआ विलाप करने लगा।

'अहो श्वान ! केसर पत्र का भक्षण और स्वच्छ जल को क्यों नहीं पीता। हा श्वान ! अब यहाँ किस प्रकार शयन कर रहा है ? मेरे कुरुबिन्दु नामक वन में निवास क्यों नहीं करता ? क्या मेरे एक ही दण्ड प्रहार से मुझसे नाराज हो गया ? यह देख, स्वर्ण के पात्र में उत्तम भोजन दूध मिश्रित रखा हुआ है, वह क्यों नहीं खाता ? शीघ्रता से भागनेवाले हिरण वन में स्वेच्छाचारी हो रहे हैं। इसलिए हे श्वान ! इस समय उन हिरणों को मारने के लिये तेरे सिवाय दूसरा कौन समर्थ है ?'

राजन ! उपरोक्त प्रकार से चिन्तवन करने के पश्चात् जिस प्रकार से यशोधर और चन्द्रमति का अग्नि संस्कार हुआ था, उसी प्रकार मयूर और श्वान का अग्नि संस्कार किया गया। तत्पश्चात् उसी प्रकार पिण्ड दान, ब्राह्मण भोजन आदि समस्त कार्य किया गया।

नराधीश ! देखो, मोहवश होकर सुपुत्र वस्त्र, आभूषण, भोजन आदि सामग्री ब्राह्मणों को इस कामना से देता है कि मेरे मृत पिता के पास पहुँच जायेंगे परन्तु वहाँ कुछ भी नहीं पहुँचता। ब्राह्मणों के वाणी जाल में फँसकर लोग ऐसा करते हैं, जिसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

❖ ❖ ❖

धराधीश ! जिस समय मैं प्राणरहित हुआ कि तत्काल सुवेलगिरि के पश्चिम भाग में महाशुभ अरण्य के मध्य में कानी नेवली के गर्भ में उत्पन्न हुआ। उस निर्जन और भयंकर वन में उस क्षुधा-तृषा से पीड़ित शुष्क स्तना नेवली के उदर से जैसे ही मेरा जन्म हुआ कि मैं भी उसके दूधरहित स्तनों को चाटने लगा, परन्तु दूधरहित मेरी तृप्ति किस प्रकार होती ? फिर ग्रीष्म की ज्वाला से संतप्त होते हुए मैंने एक तुच्छ सर्प देखा और तुरन्त ही मैं उसे निगल गया।

उस समय मुझे सर्प का स्वाद अच्छा लगा; इसलिए मैंने बहुत सर्पों को खाया। अब मैं - नेवला, सर्पों को खाते हुए वृद्धि को प्राप्त होकर समय व्यतीत करने लगा।

धराधीश! मेरी माता का जीव श्वान की पर्याय में से उसी वन में सूक्ष्म जीवों का भक्षण करते हुए तीक्ष्ण विष का धारक भयंकर सर्प हुआ। वह विषधर वन में क्रीड़ा करते हुए जैसे अपने बिल में जाने लगा कि तुरन्त ही मैंने उसकी पूँछ का भाग मुख से पकड़ लिया और उसे खाने लगा।

राजन! ज्यों ही मैंने उसकी पूँछ काटी, उसने तत्काल पीछे घूमकर विकराल फण के घात से मेरे मुँह में विषाग्नि छोड़ दी, पश्चात् मजबूत दाँतों से मेरी पीठ की चमड़ी और हड्डियाँ तोड़ डाली, जिससे खून की धारा बहने लगी।

यह अवस्था देखकर फिर वापस मैंने उछलकर उसके फण को ऐसा काट खाया कि वह तत्काल मरणान्त हो गया और मैंने भी उसके जहर के कारण अपने प्राण विसर्जित कर दिये।

नरश्रेष्ठ! इस संसार में ऐसा कौन है कि जो कर्मों के फल का उल्लंघन कर सके? इस कर्म के अनुसार ही असंख्य जीव एक-दूसरे के भक्षक बन रहे हैं। जिस प्रकार स्थावर-जंगम जीवों का दो-तीन-चार इन्द्रिय जीव भक्षण करते हैं, उसी प्रकार इन विकलेन्द्रिय जीवों को पंचेन्द्रिय जीव भक्षण करते हैं। जिस प्रकार पूर्व वैर के कारण जीव एक-दूसरे को मारते रहते हैं, उसी प्रकार मेरी माता के जीव सर्प और मेरे जीव नेवले ने परस्पर एक-दूसरे को मारकर कुयोनियों में उत्पन्न होकर बहुत दुःखों का अनुभव किया।

राजन! इस प्रकार कोई मेरे कथन को सुनकर यदि हिंसा का त्याग करेगा तो वह मदरहित परमात्मदशा को प्राप्त करेगा।

❖ ❖ ❖

राजन! उज्जैनी नगरी में क्षिप्रा नामक नदी है। मैं उस निष्ठुर सर्प के घात से मरण को प्राप्त होकर वापिस क्षिप्रा नदी में मछली के गर्भ में आकर स्थिर रहने लगा।

तत्पश्चात् मछली के गर्भ से जन्म लेकर क्रमपूर्वक वृद्धिगत होते हुए बड़े-बड़े मगरमच्छों के शरीर को चीरने में समर्थ तथा आकाश में उछलना, उलटे गिरना, पानी में घूमना इत्यादि कार्यों में अति प्रवीण हो गया। इस प्रकार क्षिप्रा नदी के अति निर्मल स्वच्छ और चंचल जल में विचारते-तैरते और मछलियों के समूह को निगलते हुए काल व्यतीत करने लगा।

महाराज ! मेरी माता का जीव, जो कि सर्प हुआ था, वह मेरे घात से मरकर घोर कर्मानुसार उसी नदी में जीवों का अधिपति शंशुमार हुआ। देवयोग से मुझे देखकर पूर्व बैर के कारण जहाँ मुझे तीव्र नख और दाँतों से पकड़कर मारना शुरु किया था, कि इतने में महाराज यशोमति के महल की कोमलांगिनी चन्द्रवदना दासी निज-नुपुरों के शब्दों की झंकार करती हुई, सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभरणों से शोभायमान, दिव्य सुगन्ध से पूरित, कण्ठगत मुक्ताहार की पंक्ति से दिव्य रूपाकार, विनोदपूर्वक सरिता के स्वच्छ जल में क्रीड़ा करने लगी।

इस प्रकार जल में निश्चल तैरते-तैरते एक दासी ने दूसरी दासी को धक्का मारा तो दैव की विचित्रता देखो कि वह मेरे ऊपर आकर गिरी। उस समय शंशुमार ने जो मुझे पकड़ा था, वह मुझे तो छोड़ दिया परन्तु तत्काल उस दासी को पकड़कर नख और दाँत से विदारण करने लगा।

नृपवर ! उस समय हाहाकार करती हुई भयंकर कम्पित होती हुई सभी दासियाँ पानी से भागने लगीं। तत्पश्चात् रानी के सेवकों ने महाराज यशोमति के समक्ष जाकर विज्ञप्ति की कि श्री महाराज ! आपकी मान्य कुब्जा दासी को जलकेलि करते हुए माँसलुब्ध शंशुमार नामक नदी का जीव नख और दाँतों से चीरने लगा है।'

यह सुनकर क्रोधित होकर महाराज यशोमति ने कहा कि 'ऐसा जीव किसे प्रिय होगा ? जिसने सूकर, मांसर, आदि वनवासी जीवों को जलपान करते समय भक्षण किया तथा स्नान क्रीड़ा करते समय अनेक स्त्री-पुरुषों को खाया, ऐसे दोष की खान इस शंशुमार नामक जीव को तुरन्त ही नेत्रों को असुन्दर और अग्नि की ज्वाला समान यमराज के नगर में पहुँचा दो।'

इस प्रकार कहकर, अनेक योद्धाओं सहित महाराज यशोमति ने स्वयं नदी के किनारे जाकर धीवरों को आदेश दिया कि 'अत्यन्त शीघ्रता से इस नदी के गहरे बिल में से जिस प्रकार बने, उस प्रकार खोजकर शंशुमार को पकड़ो।'

नृपवर ! महाराज यशोमति के क्रोधपूर्ण शब्दों से आकाश गुंजायमान हो गया। यह सुनकर अनेक धीवर शीघ्र ही शिप्रा नदी में कूद पड़े, तत्पश्चात् धीवर घूमते-घूमते कोलाहल शब्द करके शंशुमार को पकड़कर उसका कण्ठ छेदकर बाहर किनारे पर ले आये।

नृपवर! उस समय शंशुमार को देखकर क्रोधित भाव में महाराज ने आदेश दिया कि 'इस दुष्ट जीव को अग्नि में सेंको।' यह सुनकर किंकरों ने अग्नि प्रज्वलित करके शंशुमार को अग्नि में हवन कर दिया।

राजन! जब मैं नदी में क्रीड़ा कर रहा था, उतने में जिन्होंने मारने का विकल्प किया है, ऐसे धीवर हा-हाकार करते हुए आगे आये। उन धीवरों ने सघन जाल मुझ पर डाल दिया, जिससे मैं युद्ध में पराजित शत्रु की भाँति जाल में फँस गया। उस समय मैं, जिस प्रकार तीव्र मोह के उदय के वश होकर संसार जीव पीड़ित होता है, उसी प्रकार जाल में फँसकर धीवरों के पैर के प्रहार से अत्यन्त क्लेश को प्राप्त हुआ।

पृथ्वीनाथ! जिस समय धीवरों ने जाल में फँसाकर मुझे नदी के किनारे रखा, उसी समय एक पुरुष ने कहा कि इस मत्स्य को मत मारो क्योंकि इसे मारने से अत्यन्त दुर्गन्ध व्याप्त हो जायेगी। ऐसा कहकर पूर्व भव के पुत्र यशोमति को दिखाया। यशोमति ने मेरा शरीर देखकर आगम वेदी ब्राह्मणों से मेरा शारीरिक वर्णन करने के लिये कहा, तब ब्राह्मणों ने मुझे उलट-पुलट कर सामुद्रिक शास्त्र से लक्षण इस प्रकार कहने लगे—

'यह पाण्डुरोहित जाति का क्रूर मच्छ नदी के प्रवाह सन्मुख तैरता है तथा यह मच्छ देव और पितृजनों की बलि के योग्य है। श्री विष्णु भगवान ने जगत की रक्षा के लिये मत्स्यावतार धारण करके छह अंगयुक्त वेद को समुद्र में से निकाला है। इसलिए ब्राह्मणों ने वेद को अति पवित्र माना है', इत्यादि कहकर ब्राह्मणों ने राजा को सम्मति दी कि यह मच्छ महारानी अमृतादेवी के महल में भेजना चाहिए। फिर क्या था, तुरन्त ही महाराज ने मच्छ को महल में ले जाने की आज्ञा प्रदान कर दी। इसलिए दुष्ट कर्मा किंकरों ने मुझे (अर्थात् मच्छ को) अमृतादेवी के मन्दिर में (महल में) पहुँचा दिया और बहुत समय तक मुझे जीवित रखा।

नृपवर! वहाँ पहुँच जाने से ब्राह्मणों का प्रयोजन सिद्ध हो गया अर्थात् किसी एक प्रसंग पर ब्राह्मणों ने अमृता से कहा—'हे माता! परमार्थत: यह रोहित मच्छ समस्त मच्छों में उत्तम माना गया है, इसकी पूँछ का यदि ब्राह्मणों को भोजन कराया जाये तो अवश्य ही पितृजनों को तृप्ति होती है।'

पृथ्वीनाथ! उस समय 'ब्रह्मवाक्यं जनार्दन:' की कहावत सत्य सिद्ध करते हुए, अमृता ने मेरी पूँछ कटाकर सोंठ, मिर्च आदि मसाले में पकाकर ब्राह्मणों को प्रदान की, जिससे उन उन सभी ब्राह्मणों ने पेट भरकर भोजन किया और आशीर्वाद देते हुए अपने गृह की ओर प्रस्थान किया।

तत्पश्चात् मेरे बचे हुए शरीर को अनेक मसालों में मिलाकर गर्म तेल के कढ़ाई में जिस समय पकाया गया, हे राजन! उस समय की जो वेदना हुई, वह मैं ही जानता हूँ अथवा केवली भगवान ही जान सकते हैं।

राजन! जिस समय तपे हुए तेल में पड़ा हुआ मैं पकाया जा रहा था, उसी समय जातिस्मरण होने से मैंने पूरे परिवार को पहिचान लिया। जिससे एक तो मानसिक दु:ख और दूसरा शारीरिक कष्ट-इस प्रकार दोनों प्रकार के क्लेश का अनुभव किया।

नरश्रेष्ठ! तुम भी इस बात का अनुभव कर सकते हो कि जिस समय नमक, मिर्च आदि मसालों में मिलाकर मुझे गर्म तेल में पकाया गया होगा, उस समय की वेदना क्या नरक की वेदना से किसी प्रकार कम हो सकती है? कभी भी नहीं। नरकों में तो केवल गर्म तेल में ही पकाया जाता है, परन्तु मुझे तो नमक, मिर्च, सोंठ आदि तीक्ष्ण मसालों में मिश्रित करके पकाया गया, जिसमें एक तो अग्नि की वेदना और दूसरी मसाले का कष्ट; उसमें भी पक्व हो गया है या नहीं, उसकी परीक्षा के लिये लोहे के नोंकदार सुईयों से बार-बार छेदना इत्यादि कष्टों का कहाँ तक वर्णन करूँ! अरे! जिन दु:खों को वाग्वादिनी भी नहीं कह सकती। पक रहे मेरे शरीर को कलछियों से हिला-हिलाकर रसोईयों ने मुझे पकाया। तत्पश्चात् बहुत ही जीरा, मिर्च, नमक आदि डालकर मेरे शरीर के स्वाद को चखने लगे। राजन! उस समय सातवीं नरक के नारकी की भाँति उछाल-उछालकर पकाया गया, तत्पश्चात् पके हुए शरीर को छुरी से टुकड़े करके लोहे के काँटों से ब्राह्मणों ने खाया। तत्पश्चात् मेरे पुत्र यशोमति, मेरी स्नेहवती अमृतादेवी तथा उसका कूबड़ा आदि समस्त परिवार ने भोजन किया।

नृपश्रेष्ठ! देखी, संसार की विचित्रता! कि पितृ के निमित्त से मुझे ही खाया, यह अशोभनीय कर्म जिह्वा लम्पटी माँसभक्षी, विषयासक्त ब्राह्मणों का ही कर्तव्य है, क्योंकि

ब्राह्मणों के उपदेश से सभी अज्ञानी लोग हिंसा के कार्य को धर्म मानकर अंगीकार करते हैं, इस कारण समस्त ही दोष ब्राह्मणों पर ही है।

❖ ❖ ❖

मेरी माता का जीव जो शंशुमार के शरीर में से निकलकर पार्श्वगाम में बकरी हुई थी, मैं भी मच्छ की पर्याय से प्राण त्याग करके दैवयोग से उसी बकरी के गर्भ से उत्पन्न होकर बकरा हुआ।

तत्पश्चात् क्रमपूर्वक वृद्धिगत होते हुए जब जवान हुआ, तब कामान्ध होकर अपनी माता बकरी के साथ ही मैथुन कर्म करने लगा। उसी समय यूथ के स्वामी बकरी ने ईर्ष्यायुक्त क्रोध के आवेश से मुझे मार दिया। वहाँ से मरकर मैं अपने ही वीर्य से उसी बकरी के गर्भ से पुनः बकरा हुआ।

यहाँ कोई शंका करे कि अपने ही वीर्य से अपना जन्म किस प्रकार हो सकता है ? तो उसका समाधान इस प्रकार है कि जिस समय मादा का रुधिर और नर के वीर्य का संयोग होता है, उस समय से सात दिन तक उसमें जीव आता है, जो सात दिन तक मिला हुआ रहता है और यदि सात दिन के अन्दर जीवोत्पत्ति न हो तो वह पृथक् होकर खिर जाता है।

इस प्रकार जिस समय बकरी का रुधिर और बकरे के वीर्य का संयोग हुआ, उसी समय बकरे का मरण हुआ। जिससे वह तुरन्त ही उसके गर्भ में जाकर उत्पन्न हो गया और फिर दूसरे भव में भी बकरा ही हुआ है।

राजन ! तिर्यंचों में शर्म नहीं होती। माता को स्त्री बना लेना सहज होता है। उसी प्रकार मैंने भी माता के साथ भोग किया। जिस समय मुझे इस बात का स्मरण आता है, तब मुझे तीव्र वेदना होती है। जब मैं फिर से बकरी के गर्भ में आया और क्रमपूर्वक वृद्धि को प्राप्त होने लगा, तब यशोमति महाराज शिकार करने के लिये वन में आये। उन्होंने हिरण के लिये पूरे वन में परिभ्रमण किया परन्तु एक भी हिरण नहीं मिला।

उस समय जब घूमकर वापस आये तो क्या देखा कि मेरी माता बकरी और यूथ नायक बकरा – ये दोनों मैथुन कर्म कर रहे थे। उस समय क्रोध के आवेश में यशोमति

महाराज ने अपने भाले से दोनों का घात कर दिया। पश्चात् निकट आकर देखते हैं कि बकरा-बकरी दोनों दो भाग होकर रुदन करते हुए मर गये और गर्भ में रहे हुए मेरे आठों ही अंग कम्पायमान दिखायी दिये।

उस समय यशोमति महाराज ने बकरी के गर्भ में से बाहर निकलवाकर मुझे बकरा पालक को हस्तगत किया। उसने सावधानीपूर्वक अन्य बकरियों से दूध पिलाकर मेरा पालन-पोषण किया, जिससे मैं उनके घर में वृद्धि को प्राप्त हुआ, परन्तु पशु योनि सम्बन्धी अज्ञानदशा के कारण माता, पुत्री और बहिन के साथ मैथुन सेवन करते यूथ का स्वामी बनकर सुखपूर्वक काल व्यतीत करने लगा। इतने में....

एक दिन यशोमति महाराज ने कुलदेवी के सन्मुख इस प्रकार प्रार्थना की—'हे माता! हे भट्टारके! हे महिष विदारणी! हे भगवती! तेरी कृपा से मुझे हिरण का लाभ होगा तो वेगवान बकरे की बलि चढ़ाऊँगा।' ऐसा कहकर राजा ने शिकार के लिये महारण्य में प्रवेश किया और वहाँ तुरन्त ही शिकार का लाभ हुआ। तत्पश्चात वापिस घर आकर उन्होंने देवी के लिये स्थूल बकरा बुलवाया और उसे मारकर उसका माँस देवी को चढ़ाया।

उसी समय रसोईदारों ने मुझे यूथ नायक बकरे को लाकर वहीं बाँध दिया, जिससे दैवयोग से कोई चील पक्षी ने किसी जन्तु का माँस लाकर मेरे बगल में डाल दिया, जिससे सूँघकर मैं तुरन्त ही उछल गया, तब मुझे फिर लम्बी डोरी से इस प्रकार बाँधा गया, जिस प्रकार संसारी जीव कर्मों के बन्धन से बँध जाता है।

राजन! अज्ञानी लोग हिंसा कार्य करते हुए किंचित् भी भयभीत नहीं होते। उन मिथ्यामार्गियों के हृदय में इस बात का पूर्ण विश्वास है कि दीन पशुओं की बलि देने से देवी प्रसन्न होकर समस्त कार्यों की सिद्धि करती है।

हा! धिक्कार है उन मूर्खों की बुद्धि को, जो कि पर जीवों का घात करके अपने कार्य की सिद्धि मानते हैं।

तत्पश्चात् अन्य लोगों के लिये बकरे के माँस के ग्रास दिये गये और क्षुधा दूर करनेवाले अनेक रसयुक्त मदिरा तथा मूँग की दाल भी दी गयी। तत्पश्चात् अनेक वस्त्र

और गायों का दान करके यशोमति महाराज ने कहा कि यह हमारा समस्त ही धन स्वर्ग में विराजित हमारे पिता के पास पहुँचे।

राजन! उस समय क्षुधा-तृषा से पीड़ित मैं—बकरा—उसी स्थान पर दृढ़ डोरी से बँधा हुआ था, इसलिए महाराज यशोमति के वाक्यों से जातिस्मरण प्रगट होने से मैं अपने हृदय में विचार करने लगा कि इस समय तो मैं वस्त्र-अलंकार से रहित, भूखा-प्यासा, रस्सी से बँधा हुआ हूँ। मेरे पुत्र ने गर्वसहित अनेक प्रकार का दान किया, जो निकट ही बैठे हुए मुझे कुछ नहीं मिला तो अन्य दूर स्थित जीवों को कैसे मिलता होगा?

राजन! उस समय मेरा पूरा परिवार अनेक रसयुक्त बानगियों का भोजन कर रहा था और मैं वहीं भूख-प्यास से पीड़ित सबके मुख के सामने देख रहा था। परन्तु किसी ने ऐसा नहीं कहा कि एक ग्रास इसे भी दें। मेरे निमित्त से बहुत ही धन का दान दिया गया और निकट में ही बैठे हुए मुझे कुछ नहीं मिला तो निश्चय हुआ कि यह समस्त दान ब्राह्मणों के उदर की पूर्ति के लिये ही होता है, किसी जीव को नहीं मिलता।

श्रीनाथ! जिस समय मेरा पुत्र यशोमति निज मातासहित भोजन करते हुए निकट के जीवों को रंजित कर रहा था, उस समय मैंने समस्त परिवार तथा अन्त:पुर को देखा परन्तु निज प्रिया अमृतादेवी को नहीं देखा। इतने में सड़े हुए माँस की तीव्र दुर्गन्ध आयी। उस समय दासियाँ वार्ता कर रही थीं कि—

प्रिय बहिन! कैसी मरे हुए बकरे के सड़े हुए माँस की दुर्गन्ध आ रही है। इतनी दुर्गन्ध कहाँ से आ रही है?

दूसरी दासी ने कहा—'अरे! तू निश्चित भोली लगती है। ऐसी दुर्गन्ध बकरे की थोड़े ही होती है? बहिन! यह तो मछली के सड़े हुए माँस की दुर्गन्ध है।'

तीसरी दासी बोली—अरे! यहाँ से चलो। इस दुर्गन्ध से उल्टी होती है। मुझे तो लगता है कि महारानी अमृतादेवी के गलित कोढ़ की यह विभत्स दुर्गन्ध आती है।

अन्य दासी ने कहा—अरे! तुम सब पागल हो गयी हो क्या? तुम्हें कुछ खबर है या ऐसे ही बोले जा रही हो? सुनो! मैं तुमसे कहती हूँ वैसा है। तुम सब कसम खाओ कि

मेरा नाम किसी को नहीं कहोगी। इस दुष्टा अमृतावती ने प्रिय जार कूबड़ा के कारण अपने पति यशोधर महाराज और अपनी सास चन्द्रमती को भोजन में हलाहल जहर देकर मार डाला है। इस पाप के उदय से उसका पूरा शरीर गलित कोढ़ से गल रहा है और यह उसी की दुर्गन्ध है।

नृपवर! उपरोक्त प्रकार से दासी के वचन सुनकर मेरी नजर भी घर में स्थित अमृता की ओर गयी। उस समय उसका मुँह देखा तो मुझे ऐसा लगा कि भोजन के समय का माँस का पिण्ड ही क्यों न हो? उस समय अशुभ गात्रा अमृता को मैंने देखा परन्तु मैं उसे पहिचान ही नहीं सका।

पृथ्वीनाथ! उस समय की रानी की दशा देखकर ऐसा ही निर्णय होता था कि पर-पुरुषासक्त व्यभिचारिणी से नाराज होकर कर्मों ने उसकी यह अवस्था बनायी है अर्थात् जो होंठ जार की दृष्टि में बिम्बा फल जैसे लगते थे, वे गल गये थे, जो नख, प्रिय जार के वक्षस्थल को चिह्नित करते थे, वे अतिशय नष्ट-भ्रष्ट हो गये, जो आँख जार की दृष्टि में कमलतुल्य थी, वह फूटी कौड़ी तुल्य हो गयी। तात्पर्य यह है कि जो-जो अंग प्रिय जार कूबड़ा ने अपने हाथ से स्पर्श किये थे, वे सर्व गात्रकर्मों ने क्रोधित होकर कर्म का फल दिखाने के लिये नष्ट-भ्रष्ट कर डाले।

नृपवर! अति तीव्र पाप का फल प्रत्यक्ष होता है और यदि ऐसा न होता तो सम्पूर्ण दुनिया क्यों पाप से डरती! परन्तु प्रत्यक्ष देखते हुए भी दुष्ट लोगों को बोध नहीं होता तो वह उनके भवितव्य का दोष है अर्थात् उनकी ऐसी ही होनहार है।

नृपवर! जब मैं इन विचारों में मग्न था, इतने में तो पापिनी अमृता ने रसोईदार को बुलाकर कहा—

'जो देव और ब्राह्मणों के लिये भोग चढ़ाया गया था, वह घृणास्पद, ग्लानिकारक, बकरे का माँस जो मुझे दिया, वह मुझे नहीं भाता है। अब मेरे लिये सूकर या हिरण का माँस शीघ्रता से दो। जिसे मैं प्रेमपूर्वक खाऊँगी।'

इस प्रकार रानी की आवाज सुनकर बगल में बैठे हुए यशोमति महाराज ने कहा कि—'इस समय सूकर या हिरण का माँस मिलना तो दुष्कर है, परन्तु बकरे का माँस भी

भट्ट लोगों ने पवित्र किया है, इसलिए हे रसोईदार! तू इस बकरे के पीछे के पैर को काटकर, उसे पकाकर माता को खाने के लिये दे।'

नृपवर! उस समय बगल में ही बँधा हुआ मैं—बकरा—कम्पित होकर विचारने लगा कि हा! अत्यन्त दु:ख है कि मेरा ही पुत्र मेरा पैर काटकर मेरी स्त्री के भोजन के लिये देने की आज्ञा कर रहा है, तो अब मेरी रक्षा कौन कर सकेगा? इस प्रकार कर्म के फल का विचार करता हुआ मैं दीनतापूर्वक चुप हो गया।

तत्पश्चात् महाराज यशोमति की आज्ञा न पालन करने में असमर्थ रसोईया ने छुरी से मेरा पैर काटकर उसमें उत्तम मसाला डालकर उसे पकाकर अमृता को दिया, जिसे उस कुष्ठ व्याधि से पीड़ित दुर्गन्धा दुष्टा ने रुचिपूर्वक खाया।

पृथ्वीनाथ! माँसभक्षी जिह्वा लम्पटी विप्रों की बात में आकर जो मनुष्य हिंसाकर्म करता है, वह अवश्य ही तीव्र वेदनायुक्त नरकों में जाकर अनेक कष्ट सहन करता है और अनन्त कालपर्यन्त कुयोनियों में भ्रमण करते हुए असंख्य दु:खों का पात्र बनता है।

पृथ्वीनाथ! उस समय एक पैर कट जाने से तीव्र वेदना सहन करते हुए, तीन पैर से खड़े-खड़े चारों ओर नजर करते हुए मैं विचार करने लगा कि अब मैं किसकी शरण ग्रहण करूँ? अरे! जब मेरे पुत्र ने ही आदेश देकर मेरा पैर कटावा डाला!

❖ ❖ ❖

जो माता चन्द्रमति का जीव बकरी होकर पाप फल भोग रही थी, वह मरकर अमरसिन्धु देश में भैंस के गर्भ से महाबलि भैंसा हुआ।

राजन! एक दिन भ्रमण करते हुए वह भैंसा शिप्रा नदी के पानी में नहा रहा था। उसी समय खड्गधारी योद्धाओं से रक्षित महाराज यशोमति की सवारी का घोड़ा पानी पीने के लिये आया। उस समय उस घोड़े को देखकर जातीय वैर के कारण क्रोधित होकर भैंसा ने अपने सिर से और सींगों से घोड़े को मारा।

तत्पश्चात् राजकिंकरों ने उस भैंसा को जैसे-तैसे बाँधकर महाराज यशोमति के समीप ले जाकर निवेदन किया कि—'श्री महाराज! आपकी सवारी का घोड़ा इस दुष्ट भैंसा ने मारा है, इसलिए यह दोषित है, अत: आप जो आज्ञा करें, वह किया जायेगा।'

नृपवर ! उस समय यशोमति अपने घोड़े के मरण सम्बन्धी समाचार सुनकर स्तब्ध हो गया था। तत्पश्चात् क्रोधित होकर उसने आदेश दिया कि 'घोड़े को मारनेवाले इस दुष्ट भैंसा को इस तरह मारो कि जिससे बहुत समय तक तड़पकर इसका जीवन पूर्ण हो।' तत्पश्चात् रसोईया को बुलाकर महाराज ने कहा कि 'इस भैंसा को जीवित ही पकाओ, जिससे इसे घोड़े को मारने का अपराध स्मरण में रहे।'

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार महाराज के आदेश से रसोईयों ने तुरन्त ही उस भैंसा के नाक में डोरी डालकर उसका मुँह और पैर बाँधकर लोहे के तेल से पूरित कढ़ाई में डाल दिया। पश्चात् अग्नि प्रज्वलित करके कढ़ाई में नमक, सोंठ, मिर्च, पीपर आदि तीक्ष्ण पदार्थ डाले।

नृपश्रेष्ठ ! एक तो अग्नि की तीव्र वेदना और उसमें तीक्ष्ण तथा खारे पदार्थों के कारण भैंसा तड़पते हुए जीभ निकालकर वीरस आवाज करता था। तृष्णा से शोषित होकर जैसे उसने वह खारा पानी पीया कि तुरन्त ही उसके पेट में अत्यन्त पीड़ा हुई और अन्तड़ियों का समूह पश्चिम द्वार से बाहर निकल गया। जहाँ थोड़ा पकने लगा, तब रसोईया द्वारा तीक्ष्ण शस्त्र से कटकर फिर चन्द्रमती के नाम से उत्तम ब्राह्मणों को दिया गया।

❖ ❖ ❖

राजन ! मेरी माता चन्द्रमती की तो ऐसी हालत हो गयी। अब मेरी क्या दशा हुई, वह भी सुनो अर्थात् जहाँ भैंसा की यह दशा हो रही थी, तब रक्षा रहित कटे हुए पैर की वेदना से चिल्लाते हुए मुझे राजा की आज्ञानुसार पकड़कर प्राण घातक प्रज्वलित अग्नि में फेंक दिया। फिर जैसे-जैसे मैं पक्व होता था, वैसे-वैसे काट-काटकर ब्राह्मणों को महाराज यशोधर की तृप्ति के लिये देते थे और ब्राह्मण समूह बहुत स्वाद से खाते थे और आशीर्वाद देते थे।

महाराज मारिदत्त ! संसार की विचित्रता और ब्राह्मणों की स्वार्थ परायणता देखो कि हमारी ही तृप्ति के लिये हमारे ही शरीर का घात किया गया और ब्राह्मणों का पेट भरा गया। धिक्कार है इस मायाचारी पूर्ण चतुरता को, कि जिसके उपदेश से असंख्य जीवों का अध:पतन होता है।

पृथ्वीनाथ ! यह भी एक आश्चर्य है कि पेट भरायी किसी की और तृप्ति हो किसी

को! परन्तु अज्ञानी मूर्ख लोग ऐसे ही निन्द्य उपदेश को सुनकर उसे तुरन्त मान लेते हैं और अपना अकल्याण कर लेते हैं। धिक्.. धिक्.. अनन्त बार धिक्कार!

❖ ❖ ❖

श्रीमान्! उस समय अग्नि की तीव्र वेदना से हम दोनों के अर्थात् भैंस और बकरे के प्राण एक साथ निकले, जिससे वहाँ से उज्जैनी के निकट मातंग भीलों के नगर के बाड़े में मुर्गी के गर्भ में उत्पन्न होकर, फिर दोनों बालक नवीन कुल के धारक अण्डे में से बाहर निकले।

राजन! हम दोनों के जन्म होने के बाद हमारे पिता मुर्गा को बिलाव ने ऐसा पकड़ा कि उसके गले की हड्डी टूट गयी और वह मर गया। तत्पश्चात् थोड़ा काल व्यतीत होने के बाद हमारी माता को भी बिलाव खा गया। अब हम दोनों बालक उस भील के अमनोज्ञ घर के आँगन में विचरने लगे। उस समय घर की मालिकन को हमारी आवाज सहन नहीं हुई, उसने एक हड्डी के टुकड़े से हम दोनों के पैर तोड़ दिये। इतने से भी उसे शान्ति नहीं हुई तो उसने हमारे – दोनों मुर्गों के – पैर बाँधकर माँस लिप्त और कलेवर पूर्ण घर में चमड़े से बने हुए ढक्कन के नीचे बन्द कर दिया। उस समय उदयागत कर्म फल भोगते हुए उस घर में समय व्यतीत करने लगे।

नृपवर! पूर्व में जब मैं यशोधर नामक मण्डलेश्वर राजा था और उस समय मैंने जिस प्रकार से अनेक नृपगणों को बन्दी बनाकर कारागृह में डाला था, उस कर्म का यह फल प्राप्त हुआ कि भील के दुर्गन्धयुक्त घर में पैर बाँधकर हम दोनों को रखा गया।

पृथ्वीनाथ! यह जीव जिस समय दूसरे जीव को दुःख देते हुए कुत्सित कर्म करता है, उस समय उसे इस बात किंचित् भी विचार नहीं होता कि इस दुष्कर्म का मुझे क्या फल प्राप्त होगा? परन्तु जब उस कर्म के फल को भोगता है, उस समय विचार उत्पन्न होता है कि मैंने पूर्व अवस्था में जो अशुभकर्म किये थे, उनसे असंख्यात गुणित दुःखों का पात्र बनना पड़ा। उस समय पश्चाताप करता है कि अरे! यदि पूर्व दशा में मैंने पापकर्म न किया होता तो यह दुःख सहन नहीं करना पड़ता!

—इत्यादि अनेक प्रकार से जीव पीड़ित होते हैं, उसी प्रकार से हम दोनों मुर्गे भील

के घर में पड़े-पड़े पश्चातापरूप अग्नि से संतप्त हो रहे थे। इस प्रकार शीत, उष्ण, पवन से पीड़ित और क्षुधा-तृषा से आसक्त भील के घर में रहते हुए दु:खों की परम्परा को प्राप्त हुए।

नृपवर! उस भील के घर में दु:सह्य कष्ट पड़ने से दु:खित अंग से हम अन्य प्राणियों के प्राण को पीड़ित करते हुए उन्हें भक्षण करने लगे। अब हम दोनों सुन्दर और तीक्ष्ण चोंच से भूमिगत सूक्ष्म जीवों का भक्षण करते हुए इधर-उधर घूमने लगे।

इस प्रकार भ्रमण करते हुए हम दोनों को कोतवाल ने देखा। प्रसन्नचित्त होकर भील द्वारा अपने नजदीक बुलाकर हमारे शरीर पर स्नेहपूर्वक हाथ फिराया तो हमें आनन्द हुआ। मानो कि पूर्व भव के पुत्र यशोमति के हाथ में ही हों!

नृपवर! एक दिन हम दोनों कोतवाल के दरवाजे के निकट क्रीड़ा कर रहे थे, इतने में दैवयोग से महाराज यशोमति की सवारी वहाँ से निकली। महाराज यशोमति हम दोनों को स्नेहपूर्ण नेत्रों से देखकर कोतवाल से कहने लगे कि 'ये दोनों मुर्गे शारीरिक लक्षणों की परीक्षा करने से अति उत्तम ज्ञात होते हैं, इसलिए इन दोनों बच्चों को घर के जल और अन्न से तृप्त करके इन दोनों का पालन-पोषण करो।

कोतवाल! जब ये दोनों युवा होंगे, तब अपनी सुन्दर चोंच और तीक्ष्ण नखों से शत्रु वर्ग का क्षय करेंगे। ये दोनों बालक यौवनारम्भ में अपने पैर के घात से पृथ्वी तल को खोदते, रक्तनेत्र करते, भृकुटि के विकार को प्रकाशित करते हुए जब युद्ध करेंगे, उस समय गमन करते हुए पथिकजनों के मन को मोहित करेंगे। उसी समय हम भी इनके युद्ध की कुशलता देखेंगे, इस कारण तुम इन्हें यत्नपूर्वक रखो।'

राजा का उपरोक्तानुसार आदेश सुनकर कोतवाल ने हम दोनों को अपने घर में रखा और जब रात्रि व्यतीत होकर प्रात: काल हुआ, तब पिंजड़े में रख दिया। हम दोनों को वन में जहाँ राजा उपस्थित था, वहाँ ले गया। उस रमणीक वन में महाराज यशोमति का रमणीक और स्वच्छ महल था। जिसके अवलोकन से ऐसा ज्ञात होता था कि मानो देव-विद्याधरों ने रमण करने के लिये मायामयी महल बनाया है। हम दोनों को उसके आँगन में पिंजड़े में रखा गया।

नृपवर! भविष्य के अनुसार उस चोर निवारक, परस्त्री लम्पटी और विघ्नस्वरूप तथा हिंसा में प्रवर्तक कोतवाल ने अशोकवृक्ष के नीचे प्रासुक शिला पर ध्यानारूढ़ विराजमान एक मुनिराज को देखा।

वे मुनिराज इसलोक और परलोक की आशारूप बन्धन से रहित; राग-द्वेषादि दोषों से विरक्त; शुभ मन-वचन-काय इन तीनों योग-युक्त; अशुभयोग से विरक्त; माया निदान और मिथ्यात्व इन तीन शल्यों के नाशक; तीन लोक के विजेता; कामदेव का खण्डन करनेवाले; तीन लोक का मण्डन करनेवाले; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप त्रिरत्नों से विभूषित; क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषाय चतुषक का नाश करने के लिये अग्नि के समान; आहार-भय-मैथुन-परिग्रह, इन चार संज्ञाओं से दूर; पंच समिति के परिपालक तथा सत्तावन आश्रवों के अर्थात् पाँच मिथ्यात्व, बारह अव्रत, पच्चीस कषाय, पन्द्रह योग के निरोधक थे।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ऐसे पाँच महाव्रतों के भार को सहन करने में धुरन्धर; पंच परमेष्ठी के भाव के प्रकाशक; पंच परमेष्ठी में पंचम पद के धारक; साधुओं के नायक; पंचम गति मोक्ष के विधायक; पाँच आचारों के धारक; त्रस और स्थावर जीवों की दया में अति तत्पर थे।

वे मुनिराज सात भयरूपी अन्धकार के नाश के लिये सूर्य समान; आठ मद दूर करने में आदरयुक्त; सिद्ध के आठ गुणों में तल्लीन; नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य के धारक; आत्मा के ज्ञाता; उत्तम क्षमादि दस धर्मों के प्रतिपालक तथा पाँच इन्द्रिय, तीन बल श्वासोच्छ्वास और आयु, इस प्रकार से दस प्राणधारी जीवों के रक्षक इत्यादि अनेक गुणों के भण्डार थे। ऐसे परम शान्त मुनिराज को उस कोतवाल ने देखा। उन नग्न मुद्राधारक परम दिगम्बर शान्तमूर्ति श्री आचार्यवर को देखकर क्रोधित होते हुए कोतवाल विचार करने लगा कि इस दुष्ट गर्विष्ट, पापिष्ट, मलिन गात्र और क्लेशित नग्न मुनि ने इस अति उत्तम स्थान को

अपवित्र किया है, साथ ही महा-अपशकुन किया है; इस कारण महाराज यशोमति के मनोरंजक स्थान से इस श्रमण को अवश्य बाहर निकालूँगा परन्तु इस समय उदासीनभाव से रहनेयोग्य है। फिर थोड़ा इन्तजार करने के बाद ऐसा अटपटा प्रश्न करूँगा कि जिसका उत्तर ही नहीं बने, तत्पश्चात् मैं तुरन्त ही मूर्ख बनाकर इस वस्त्ररहित को निकाल दूँगा।

इस प्रकार विचार करके उस मायावी / कपटी यमराजतुल्य कोतवाल ने मुनिराज को साष्टांग नमस्कार किया। मुनिराज का ध्यान पूर्ण होने से, यद्यपि मुनिराज को परिज्ञान हो गया था कि यह अभक्त दुष्ट चित्त है, तथापि मुनिराज ने उसे जिनेन्द्र कथित धर्म की वृद्धि हो - ऐसा आशीर्वाद प्रदान किया।

जिन्हें तृण और कंचन समान हैं—ऐसे महा ऋषीस्वर, निन्दकों के प्रति मात्सर्यभाव नहीं करते और प्रशंसकों में हर्षित नहीं होते। उन महामुनियों के लिए तो शत्रु-मित्र में समदृष्टि होती है अर्थात् वे तो वीतरागपरिणति के धारक होते हैं।

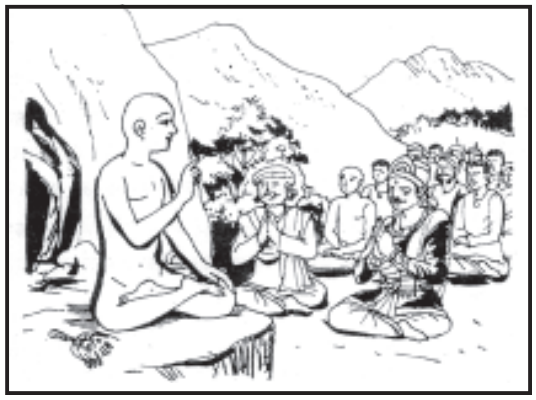

कोतवाल ने कहा—'ऋषीवर आपने जो धर्मवृद्धिरूप आशीर्वाद दिया, उसे मैंने शिरोधारण किया, परन्तु वीर योद्धाओं के मत में तो धनुष ही धर्म है तथा उसकी प्रत्यंचा, वह गुण और शत्रु के नाश के लिये जो बाण चलाया जाता है, वही मोक्ष है; इसके अतिरिक्त न कोई धर्म है, न कोई गुण अथवा न कोई मोक्ष है; इसलिए जब मोक्ष है ही नहीं तो मोक्षसम्बन्धी सुख किस प्रकार कहा जाये ? इस कारण पंचेन्द्रिय के विषय में जो आनन्द है, वही सुख है और उस सुख को ही मैं सुखकर मानता हूँ।

मुनिराज ! आप इस वन में निवास करके क्या कर रहे हैं ? यह दुर्बल शरीर, उसमें भी वस्त्र नहीं, ओढ़ने का नहीं, पैर में पादुका नहीं, सिर पर पगड़ी नहीं, आपके तो आठों ही अंग क्षीण, खेदखिन्न और मललिप्त प्रक्षालरहित है, आँख कपाल के अन्दर घुस गयी है, रात-दिन एक निमेषमात्र भी नींद नहीं लेते, इस प्रकार आँख बन्द करके किसका ध्यान

करते हो। इसमें तो हमारे जैसे मनुष्यों को भ्रान्ति उत्पन्न होती है। इस कृत्य में आपको क्या लाभ होगा ? इससे तो उत्तम यह है कि इस व्यर्थ आडम्बर का त्याग करके विषय-भोगों का रुचिपूर्वक सेवन करो।'

मुनिराज ने अत्यन्त शान्तभाव से उत्तर देते हुए कहा—भाई ! जीव और कर्म, इन दोनों का विभाग करके परमात्मा में (स्वस्वरूप शुद्धात्मा में) लीन होकर अजर-अमर और शाश्वत् स्थान जो निर्वाण है, वहाँ जाने की अभिलाषा से बैठे हैं और उसी का ध्यान करते हुए तिष्ठ रहे हैं।

प्रियवर ! तुमने जो इस दुर्बल मलिन और वस्त्ररहित शरीर की निन्दा की है तो इस संसार की चतुर्गति में परिभ्रमण करते हुए यह जीव स्त्री, पुरुष, नपुंसक, सौम्य, शान्त, क्रूर, यमदूततुल्य, राजा, प्यादा, सेवक, दीन, दरिद्री, रूपवान, कुरूप, धनवान, उज्ज्वल गात्र, नीच कुल, उत्तम गोत्र, बलहीन और अतुल बली भी अनेक बार हुआ है। इस भ्रमण - स्वभावी संसार में ऐसी कौन-सी पर्याय है, जिसे इस जीव ने धारण नहीं किया हो ? इस संसार की गति अति विषम है।

भाई ! इस चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करते हुए यह जीव भयानक अरण्य में माँसाहारी क्रूर पशु हुआ; तृणभोजी तिर्यंच हुआ। तत्पश्चात् रत्नप्रभा आदि नरकों की भूमि में महा घात को सहन करनेवाला नारकी हुआ। फिर जलचर, स्थलचर, और नभचर तिर्यंच होकर पापाचारी देव हुआ; इस प्रकार जन्म-मरणरूप भँवर में अनादि से पड़ा है। रत्नत्रयरहित अनन्त शरीर धारण किये हैं। इस प्रकार जीते-मरते दु:खों को सहन करते और पापफल भोगते हुए अनन्तानन्त काल व्यतीत हुआ है।

कोतवाल ! अनरक्षक संसार में जो-जो क्लेश मैंने सहन किये हैं, वे मैं जानता हूँ। इसी कारण इन्द्रियजनित सुख से विरक्त होकर भिक्षा भोजन करता हूँ, निर्जन वन में निवास करके मौनपूर्वक रहता हूँ, कदाचित् धर्म का उपदेश भी देता हूँ, मोह से पृथक् होते हुए शयन भी नहीं करता।

साम्य जल से क्रोधाग्नि को शान्त करता हूँ, विनय से मान को भगाता हूँ, सरल भाव से कपट को दूर करता हूँ, सन्तोष से लोभ का तिरस्कार करता हूँ, हँसता नहीं, लीलाविलास

नहीं करता, उद्वेग नहीं करता, तपाग्नि से मदन के वेग को भस्म करता हूँ, भयरहित होने से शोक नहीं करता, हिंसा-आरम्भ के आडम्बर से अति दूर रहता हुआ निज आत्मा के ध्यान में मग्न रहता हूँ। मैं स्त्री के अवलोकन में अन्धा, गीत सुनने में बहरा, कुत्सित तीर्थ में गमन करने में लँगड़ा और विकथा करने में गूँगा हूँ।

कोतवाल! जीव के आधारभूत जो शरीर है, वह यद्यपि अचेतन है, तथापि बैल द्वारा चलायी जाती गाड़ी की भाँति, चेतन द्वारा चलाया जाता शरीर, चेतन जैसा ही दिखता है। जैसे बैल के बिना गाड़ी नहीं चलती, उसी प्रकार पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड जो शरीर है, वह चेतन जीव के बिना नहीं चल सकता, तथापि जीव पृथक् है और शरीर पृथक् है —ऐसा विचार करके मैं दिगम्बर हुआ हूँ। इसलिए अन्य किसी की अभिलाषा नहीं करता परन्तु केवल मोक्ष की इच्छा करते हुए ध्यानारूढ़ होकर बैठता हूँ। मैं अरण्यवास करते हुए आर्त-रौद्र कुत्सित ध्यान से विरक्त होकर धर्मध्यान के योग से आत्मा का अवलोकन करता हूँ।

यद्यपि मैं शरीर की स्थिरता के लिये आहार ग्रहण करता हूँ परन्तु उसमें गृद्धता नहीं रखता तथा इन्द्रियों के बल का दमन करते हुए पापास्त्रवों का विसर्जन करता हूँ। इस दशा में जो आनन्द है, वह तीन लोक में कहीं नहीं है।'

कोतवाल ने कहा—'मुनिराज! आपने कहा, वह सत्य है परन्तु देह और आत्मा को भिन्न कहते हो, वह योग्य नहीं है, क्योंकि जैसे गाय के सींग में से दूध नहीं आता और छत्र बिना छाया नहीं होती। इसी प्रकार शरीर के बिना मोक्ष नहीं होता। आप जो आत्मा को तपाग्नि से संतप्त करते हो, वह केवल क्लेश भोगते हो। इसलिए जैसा मैं कहता हूँ, वैसा करो तो अवश्य सुख प्राप्त होगा।

मुनिवर! जैसे फूल से सुगन्ध भिन्न नहीं है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर से पृथक् नहीं है परन्तु जिस प्रकार फूल का नाश होने से गन्ध का विनाश हो जाता है, उसी प्रकार देह के नष्ट होने में आत्मा का अभाव हो जाता है। इसलिए देह को कष्ट देने में आत्मा कष्टयुक्त हो जाता है।'

मुनिराज ने मधुर सम्बोधनपूर्वक कहा—'कोतवाल! आत्मा और शरीर की भिन्नता

प्रत्यक्ष है। जिस प्रकार चम्पा का पुष्प, तेल में डालने से उसकी सुगन्ध पृथक् हो जाती है परन्तु फूल बना रहता है, उसी प्रकार आत्मा, देह से भिन्न हो जाता है।'

कोतवाल बोला—'जब आप देह को आत्मा से भिन्न मानते हो तो देह में आते-जाते आत्मा को किसी ने देखा है ? यदि देखा है तो आप ही कहो कि हमने आत्मा देखा है।

यह शरीर श्रोणित और शुक्र के घररूप गर्भान्तर में वृद्धि को प्राप्त होता देखते हैं, वहाँ अन्य जीव कहाँ से आ जायेगा ?'

मुनिराज ने समाधान दिया—'हे कोतवाल! तुमने कहा कि जीव आता-जाता दिखता नहीं तो यह बात सत्य है कि आपने अमूर्तत्वगुण के सम्बन्ध से यथार्थत: जीव दिखायी नहीं देता, परन्तु दृष्टिगत न होने से क्या वस्तु का अभाव हो जाता है ? कभी नहीं।

मित्रवर! जो शब्द दूर से आता है, क्या वह आँख द्वारा देखा जा सकता है ? परन्तु कान द्वारा ज्ञात हो जाता है; इसी प्रकार संसार में अनेक योनियों में से आया हुआ जीव अपने सूक्ष्मत्वगुण के कारण दिखायी नहीं देता परन्तु उसका अभाव नहीं होता, वह अनुमान ज्ञान से अवश्य जाना जा सकता है।

उसका मुख्य कारण यही है कि विषय है, वे उसी इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होते हैं। एक इन्द्रिय के विषय को दूसरी कोई इन्द्रिय नहीं जान सकती। जैसे नाक का विषय गन्ध है, वह कान, आँख, जीभ या स्पर्श द्वारा ज्ञात नहीं होता। जो स्पर्श इन्द्रिय का विषय स्पर्श है, वह जीभ, नाक, आँख और नाक द्वारा ज्ञात नहीं होता।

प्रियवर! यह तो मूर्तिमान पदार्थ का विधान कहा अर्थात् मूर्तिक इन्द्रियों का विषय भी मूर्तिक ही होता है और मूर्तिवन्त विषय को मूर्तिक इन्द्रियाँ ही ग्रहण कर सकती हैं परन्तु वे अमूर्तिक वस्तु को नहीं जान सकती।

कोटरक्षक! यह जीव नामक पदार्थ अमूर्तिक है। वह अमूर्तिक केवलज्ञान का ही विषय है अर्थात् जीवद्रव्य का अमूर्तिक केवलज्ञान द्वारा बोध होता है। इसलिए केवली भगवान उस अमूर्तिवन्त जीवद्रव्य को प्रत्यक्ष जानते-देखते हैं। इस प्रकार शरीरस्थ होने पर भी देह से पृथक् जीव नामक पदार्थ की सिद्धि है।'

कोटरक्षक—'मुनिश्रेष्ठ! यह बात तो मैंने मानी, परन्तु यह तो कहो कि इस जीव को अनेक योनियों में कौन ले जाता है ?'

मुनिराज—'इस चैतन्य आत्मा को अनेक योनियों में ले जानेवाला अचेतन कर्म है। वही जीव को चार गति में और चौरासी लाख योनियों में नाच नचाता है।

कोतवाल! इस लोक में कर्मोदय ही बलवान है। जिस प्रकार लोह चुम्बक द्वारा आकर्षित हुआ लोहखण्ड नाचने लगता है; उसी प्रकार जीव के राग-द्वेष आदि भावों का निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु कर्मस्वरूप परिणमित होकर चार गतिरूप संसार में भ्रमण कराते हैं।

प्रियवर! यदि शरीर को ही आत्मा मानोगे तो शरीर जड़ होने से आत्मा को भी अचेतन मानना पड़ेगा और जब आत्मा अचेतन हुआ तो शय्यासन का स्पर्शन, अनेक रसों का स्वाद, अनेक गन्धों को सूँघना, अनेक शब्दों का सुनना और अनेक वर्णों का देखना किसे होगा ? ऐसी देह को आत्मा मानना, सर्वथा विरुद्ध है, परन्तु देह स्थित होने पर भी आत्मा देह से भिन्न और ज्ञानी है।'

इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर कोतवाल ने अपने सिर पर हाथ रखकर मुनिराज की स्तुति करते हुए मुनिराज कथित वाक्यों को प्रमाणभूत जानकर उनका स्वीकार किया।

कोतवाल ने विनयपूर्वक कहा—'हे मदनभंजक! हे भट्टारक! हे जगत तारक! आप मुनिमार्ग का प्रतिपादन करो। मैं यथाशक्ति उसका परिपालन करूँगा।'

मुनिराज—'कोटरक्षक! तू सर्वज्ञ वीतरागी और हितोपदेशक ऐसे जिनराज कथित धर्म का सेवन कर, क्योंकि इसी धर्म से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है और यदि मनुष्य हो तो नारायण, बलभद्र, विद्याधरेश, चक्रवर्ती आदि पदवी धारक होता है। इस धर्म से धरणेन्द्र, इन्द्र और अहमिन्द्र पद प्राप्त होता है।

प्रियवर! इस धर्म के धारण करने से ही, जिनके चरण कमलों के दास इन्द्रादिक देव हैं, जिनका जन्माभिषेक क्षीरसागर के जल से करते हैं, ऐसा जिनेन्द्र पद प्राप्त होता है।

इसी धर्म के फल से मनुष्यपर्याय धारण करके उत्तम धनवान गृहस्थ होता है। वहाँ चन्द्रवदनी, करकमली, हंसगामिनी, कमलदल नेत्रा, सुगन्धमय श्वासोच्छ्वाससहित मनोहर और कौतुक उत्पादिका तथा अनेक वस्त्राभूषणों से विभूषित इत्यादि प्रकार से देवांगनातुल्य स्त्री रत्न की प्राप्ति करके सांसारिक सुखों को अनुभव प्राप्त करता है।

प्रियवर! इस संसार में धर्म के समान अन्य कोई मित्र नहीं है तथा उससे विपरीत पाप के समान दु:खदायक दूसरा कोई शत्रु नहीं है।

जो परजीव की हिंसा करता है अर्थात् अन्य जीव के प्राण को दु:ख देता है, वह पापी गिना जाता है और उसी पाप के फल में वह जीव चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करते हुए कुयोनियों के असंख्य दु:खों का पात्र बनता है।

कोटरक्षक! जो हिंसक है, वह संसार वन में भटकते हुए किसी पुण्ययोग से मनुष्य पर्याय धारण करता है तो दु:खी, दरिद्री, हीन, मलिन गात्र, दुर्बल, रूक्ष हस्तपाद आदि दुर्गन्धयुक्त वक्र शरीर, महाघृणित, लोगों की जूठन से जीवन व्यतीत करनेवाला और मलिन तथा फटे हुए वस्त्रों से आयुपर्यन्त दु:ख भोगते हुए काल व्यतीत करता है।

जो महाहिंसादि पापकर्म से यदि मनुष्यपर्याय में स्त्री हो तो मलिन गात्रा, जार पुरुषों से रमण करनेवाली परपुरुषासक्ता, व्यभिचारिणी, परधन हरण करने में प्रवीण, पीत नेत्रा, रूक्ष केशवाली, शुष्क कपोलता, भग्नस्तनी, दुर्भाग्यनी, दुष्टनी, कुलमार्ग से भ्रष्ट, कठोर, धीठ, निर्लज्ज, पापकर्म में लीन, स्नेहरहित, दुर्गन्ध शरीर, प्रबल काल समान क्लेशी, शोभारहित, दारिद्र्य पीड़ित, कठोर और कर्कश बोलनेवाली होती है।

पापकर्म से कदाचित् गृहस्थ भी हो तो उपरोक्त गुण विशिष्टा स्त्री, महामूर्ख अनेक पुत्रसहित स्वयं गरीब होता है और कदाचित् किसी से कुछ मिले तो उसमें भी खली और छिलकों से पूरे घर का पेट भरना पड़ता है।

जहाँ-तहाँ बालक रोते फिरते हैं, उसका नाक बहता है, घर में कहीं फूटे हुए बर्तन पड़े हैं, कहीं से कुछ माँगकर लाये हुए पुराने फटे हुए वस्त्र पड़े होते हैं, जिन्हें कोई परिवार सहायक नहीं होता, घर भी ऐसा होता है कि तृण से आच्छादित और हजारों छिद्रवाला होता है।

अधिक कहाँ तक कहना! इस संसार में जो मात्र दुःख है, वह सब पापरूप वृक्ष का फल है और वह पाप भी परपीड़ा से ही है।

कोतवाल! इस प्रकार जानकर, जैसे बने वैसे, जिसमें जीव का वध न हो, ऐसा धर्म करो।'

कोतवाल ने पूछा—'हे मुनिराज! हमारे गुरु इस प्रकार कथन करते हैं कि जो पुरुष, पशुओं का घात करके माँस खाता है, वह निश्चय से स्वर्ग में असंख्य काल तक सुख भोग करता है।'

मुनिराज ने कहा—'महाशयवर! जो निश्चित शुद्धज्ञान है, वह इन्द्रियरहित अतीन्द्रिय है तथा वही ज्ञान जीव का निजस्वभाव है, वह पराधीन नहीं। अतीन्द्रियज्ञान के धारक श्री केवली भगवान ने जो प्रतिपादन किया है, वह सर्वथा सत्य है। उसमें लेशमात्र भी अन्यथा नहीं है।

क्योंकि वस्तुस्वभाव के यथार्थ कथन में प्रथम तो सर्वज्ञ होना चाहिए और कदाचित् सर्वज्ञ हो और राग-द्वेष से मलिन हो तो भी वह यथार्थ नहीं कह सकता; इसलिए जो वीतराग और सर्वज्ञ है, वही हितोपदेशी है, वही आप्त है, उसका कहा हुआ वचन प्रमाण है।

मित्रवर! आप्त भगवान ने चैतन्यगुण विशिष्ट अमूर्तिक जीव का जैसा स्वरूप प्रतिपादित किया है, उसे इन्द्रियजनित ज्ञान का धारक स्वप्न में भी नहीं जान सकता **क्योंकि जो इन्द्रियजनित ज्ञान है, वह मूर्तिक है। वह मूर्तिक ज्ञान, अमूर्तिक आत्मा को जाननेवाला किस प्रकार हो सकता है?**

कोटरक्षक! तेरा जो देव है, वह इन्द्रियजनित ज्ञान का धारक है, इसलिए वह इन्द्रियजनित ज्ञान से वस्तुस्वभाव को जन्मान्तर में भी जान-देख नहीं सकता। जिस प्रकार मदोन्मत्त, मूर्च्छावान और शयनस्थ पुरुष के मुख में श्वान पेशाब कर जाये और उसे पता नहीं पड़ता। इसी प्रकार अतीन्द्रियज्ञान से रहित छद्मस्थ ज्ञाता त्रैकालिक वस्तु को कभी भी नहीं जान सकता।

यदि मीनभक्षी बगुला ही पूज्य पद को प्राप्त हो जायेगा तो छह काय के जीवों के

रक्षक, संयम के प्रतिपालक और समभाव से युक्त मुनियों की क्या दशा होगी ? अर्थात् उनकी वन्दना–पूजा कौन करेगा ?

कोटरक्षक ! तुम ही मन में विचार करके देखो कि नदी के किनारे निवास करके मछलियों का खानेवाला बगुला किस प्रकार पवित्र हो सकता है ? इस प्रकार जो जिह्वा लम्पट माँसभक्षी हैं, वे पूज्य किस प्रकार हो सकते हैं ?

पापकर्म के उदय से बकरी, हिरणी और गाय आदि पशु जाति समस्त तृण भोजी है तथा वे किसी जीव के घात में प्रवृत्तिमान नहीं होते। उन दीन पशुओं का घात करके अपने को उच्चकुली और पवित्र मानकर भोले जीवों से अपनी पूजा कराये और कहे कि हमें परमेश्वर ने इसके लिये उत्पन्न किया है कि हम चाहे जैसा नीच कर्म करें, तो भी पूज्य हैं और जो हमारी निन्दा करता है, वह जहाँ तक सूर्य–चन्द्र है, वहाँ तक नरकवास करता है तथा जो हमारे वचनों में दूषण लगाता है, वह वैतरणी का पानी पीता है, इसलिए हमारा कहा हुआ जो वाक्य है, वह जनार्दन भगवानतुल्य है। कहाँ तक सत्य है ?

भव्यवर ! अब तू वेदमार्ग को त्यागकर श्री ऋषभदेव आदि तीर्थनाथ द्वारा प्रकाशित धर्म को अंगीकार कर। श्री ऋषभदेवस्वामी ने दयामय धर्म का प्ररूपण करके, फिर वह दयामय धर्म मुनि और गृहस्थ के भेद से दो प्रकार से प्रतिपादित किया है।

उसमें पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति, इन तेरह प्रकार के चारित्र से युक्त मुनिधर्म महा दुर्धर है तथा पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत – इस प्रकार बारह व्रतरूप श्रावकधर्म है, उसका तुम पालन करो क्योंकि श्रावकधर्म में एकदेश हिंसा का त्याग है। इसलिए तुम हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील सेवन और परिग्रह की तृष्णा–इन पाँच पापों का एकदेश त्याग करके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार सन्तोष, और परिमाण–इन पाँच अणुव्रतों को धारण करो।

पुरुषोत्तम ! उपरोक्त व्रत के अतिरिक्त रात्रिभोजनत्याग, मधु, माँस और मदिरा – ये तीन मकार तथा ऊमर, कठुम्बर, पीपल का फल, और बड़ का फल तथा पाकर – इन पाँच उदम्बर फलों का त्याग करना। दसों दिशाओं में गमन का प्रमाण और भोगोपभोग की संख्या निश्चित करके आठ मद का त्याग करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अन्य कुशास्त्रों का त्याग, वर्षाकाल में गमन का निषेध, प्राणघातक आजीविका का त्याग करके, अपने शस्त्र किसी को नहीं देना चाहिए।

अष्टमी और चतुर्दशी के दिन स्त्री का स्पर्श नहीं करना तथा उपवासपूर्वक एकान्त निर्जन स्थान में वास करना अथवा एक बार और नीरस आहार करना चाहिए।

हे कोटरक्षक! प्रत्येक पर्व के दिन में उपवास अथवा धर्मध्यानपूर्वक श्री जिनमन्दिर में बैठकर पापों का त्याग करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पात्रदान करना अर्थात् सम, दम, व्रत, नियम आदि का पालन करनेवाले उत्तम मुनि उत्तम पात्र; सम्यग्दृष्टि श्रावक मध्यम पात्र तथा अविरति सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र–इन तीन प्रकार के पात्रों के लिये औषध, शास्त्र, अभय और आहार – इन चार प्रकार का दान सत्कारपूर्वक देना चाहिए।

इस प्रकार दान करने से उत्तम पुण्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। पश्चात् पंच कल्याणक प्रतिष्ठा आदि में द्रव्य का व्यय करना और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय का निरन्तर आराधन करना तथा त्रिकाल सामायिक करना चाहिए।'

मुनिराज के ये वचन सुनकर कोतवाल कहने लगा—'हे मुनिश्रेष्ठ! हमारे कुल में जीवों का वध प्रथम है, इसलिए इस जीव घात के अतिरिक्त अन्य जो धर्म सम्बन्धी क्रम वर्णन किया है, वह मैंने ग्रहण किया।

हे मुनिपुंगव! मैं नगर का श्रेष्ठ कोतवाल हूँ, इसलिए जीवों का वध करना और कारागृह में बन्द करना, वह मेरा प्रथम कर्तव्य है; इसलिए इस व्रत को मैं पालन नहीं कर सकता।

हे आचार्यवर! मेरे पितामह, प्रपितामह और पिता के समय से जीव के वध का क्रम चालू है, इसलिए क्रम से मैं बँधा हुआ हूँ; इसलिए इस व्रत को मैं ग्रहण नहीं कर सकता परन्तु अन्य समस्त ही धर्म ग्रहण करता हूँ।'

मुनिराजश्री ने कहा—'हे कोतवाल! अधिक कहने से क्या लाभ? यह देख! तेरे बगल में जो मुर्गा युगल बैठा है, उन्होंने जिस प्रकार संसार परिभ्रमण करके महान कष्ट सहन किये हैं, उस प्रकार से तू भी करेगा!'

कोतवाल—'हे दिगम्बरेश! इस मुर्गेयुगल के भवभ्रमण की कहानी का आप वर्णन करें, जिसे सुनकर मुझे सम्बोधन प्राप्त हो।'

मुनिराजश्री ने कोतवाल की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—महाराज यशोधर और उनकी माता चन्द्रमति ने अत्यन्त कुसंगति के योग से कर्कशभाव उत्पन्न किया, जिससे कृत्रिम मुर्गे को मारकर कुलदेवी को बलिदान किया।

हे कोतवाल! मिथ्यात्व के योग से ये दोनों निज धन और शरीर का त्याग करके महा भयभीत होते हुए क्षुधातुर मयूर और श्वान हुए। फिर वापिस मरकर मत्स्य और शंशुमार हुए। वहाँ से प्राण विसर्जित कर बकरा-बकरी हुए। तत्पश्चात् बकरा और मरीच हुए। वहाँ प्राण त्याग करके नवीन पुच्छ के सहेरासहित मुर्गा युगल हुए जो तेरे बगल में बैठे हुए हैं। इस प्रकार श्रीमुनि द्वारा मुर्गा युगल के भवभ्रमण का संक्षेप कथन सुनकर कोतवाल ने समस्त कुलधर्म का त्याग करके श्रावक के व्रत ग्रहण किये। तत्पश्चात् मन-वचन-काया से श्रीमुनिराज को भावसहित नमस्कार किया।

❖ ❖ ❖

यह कथा सुनकर क्षुल्लक महाराज ने कहा—राजन! जिस समय मुनिराज ने हम दोनों मुर्गों के भवभ्रमण का वर्णन किया, वह सुनकर हर्षपूर्वक हम दोनों जीवदया का परिपालन करके अपूर्व लाभ के योग से अत्यन्त सन्तोष को प्राप्त हुए। तत्पश्चात् हमने उत्कण्ठापूर्वक जहाँ मधुर शब्द का उच्चारण किया, वहाँ तुरन्त ही उसे सुनकर मैथुन कर्म में उपस्थित मेरे पुत्र यशोमति ने धनुष में बाण लगाकर अपनी पत्नी कुसुमाबली से कहा—

'प्रिय! अभी तुझे शब्दबेधी धनुर्वेद दिखाता हूँ।' इस प्रकार कहकर राजा ने बाण चला दिया, जिससे पिंजड़े में स्थित हम दोनों का शरीर छिन्न-भिन्न हो गया और हम दोनों मरण को प्राप्त हुए।

राजन! हम दोनों मुर्गा उस तीक्ष्ण बाण द्वारा मरकर जन्मान्तर के पुत्र यशोमति की कुसुमाबली के गर्भाशय में उत्पन्न हुए।

नृपवर! पापों की परम्परा से मैं अपने पुत्र का पुत्र और मेरी माता चन्द्रमति अपने

पौत्र की पुत्री हुई। मेरा जीव तो अभयरुचिकुमार नामक पुत्र और मेरी माता का जीव अभयमति नामक पुत्री हुई।

पृथ्वीनाथ! हम दोनों भाई-बहिन, काम की शक्ति समान रूप-लावण्ययुक्त चन्द्रकला समान वृद्धिगत होने लगे। हम दोनों कला, गुण से प्रवीण निज सौजन्यता और विनय-गुण से समस्त कुटुम्बीजनों का मन हर्षित करते हुए आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करने लगे।

कालान्तर में हमारे पिताश्री ने युवराज पद का पट्ट मेरे मस्तक पर आरोहण करके स्वयं शिकार करने के लिये पाँच सौ कुत्ते और अनेक शस्त्रधारी सुभटों को साथ लेकर महावन की ओर गमन किया। वहाँ मार्ग में रमणीक उपवन में एक वृक्ष की तलहटी में प्रासुक शिला पर उग्र तप के भार से क्षीण काय और कामदेव के विदारक सुदत्त नामक भट्टारक को देखा।

राजा यशोमति चिन्तवन करने लगे कि सिद्धि के विनाशक अपशकुन करनेवाले ये साधु कहाँ से आये? ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों से बाह्य ये मेरे द्वारा मारे बिना कहाँ जायेंगे? ऐसा विचार कर उस जन्मान्तर के पुत्र और वर्तमान के पिता यशोमति ने मुनि को मारने के लिये बिजली के वेग समान और पवन वेगतुल्य तीक्ष्ण नखोंयुक्त पाँच सौ कुत्ते उन वीतरागी मुनिराज पर छोड़ दिये।

वे कुत्ते ऐसे ज्ञात होते थे कि मानो मृगादि जीवों को मारने का शस्त्र ही हो। उन कुत्तों की वक्र पूँछ पापियों के चित्त समान, जीभ हिंसारूप वृक्ष के पल्लव समान और नख हिंसारूप वृक्ष के अंकुर समान दृष्टिगत होते थे।

वे हिरणों के विदारक कुत्ते, श्री मुनिराज के तप की सामर्थ्य से मुनिराज के निकट जाकर उनके चरणों में नमस्कार करके विनयपूर्वक चरण के समीप बैठ गये।

जब कुत्तों को छोड़ना निरर्थक हुआ, तब राजा यशोमति स्वयं खड्ग लेकर श्रीमुनिराज को मारने हेतु उद्यत हुआ। उस समय कल्याणमित्र नामक राजश्रेष्ठी, जो कि मुनिराज के निकट बैठे हुए थे, उन्होंने राजा यशोमति और मुनिराज के बीच आकर विनयपूर्वक कहा—'राजा मनुष्यों की पीड़ा को हरनेवाला होता है, तो यदि राजा ही व्रतयुक्त यतिश्वर को मारेगा तो विंध्याचल पर्वत पर वास करनेवाले भीलों की क्या दशा

होगी ? अर्थात् विंध्याचल पर्वत पर वास करते हुए भीलजन, मुनि की हत्या में प्रवर्तते हैं, परन्तु राजा तो मुनिराज की रक्षा करता है और यदि राजा ही मुनि हत्या में प्रवर्तमान होगा तो भीलजन क्या करेंगे ?

इस कारण हे प्रजा पालक! मुनिराज की हत्या से निवृत्त होकर पवन, वरुण, वैश्रवण द्वारा स्तुति करनेयोग्य और विषयों से विरक्त इन श्री मुनि पुंगव को नमस्कार करना ही योग्य है।'

राजा यशोमति ने कहा—'कल्याणमित्र! जो नग्न है, स्नानरहित है, वह अमंगल और कार्य का विनाशक है, उसे मारे बिना कैसे छोड़ सकता हूँ ? मुझे यमराज की आज्ञा का पालन करना पसन्द है और तू कहता है कि मैं नमस्कार करूँ, तो मैं प्रणाम किस प्रकार करूँ ? क्योंकि जो अयोग्य है, उसका विनय करना वेदमार्गी द्वारा नीति विरुद्ध है; इस कारण इसे अवश्य मारूँगा।'

कल्याणमूर्ति ने समझाते हुए कहा—'श्रीमान्! यदि नग्नता ही अमंगल है तो नग्न और धूल से धुसरित शरीर महादेव तथा कैची हाथ में लेकर नग्न मूर्ति क्षेत्रपाल भी है। इसके अतिरिक्त अरुण चरणों में घुँघरू बाँधकर लोहखण्ड का कड़ा हाथ में लेकर अस्थि के आभूषण पहनी हुई मनुष्यों के माँस को खानेवाली, हाथ में कपला और श्मशान में वास करनेवाली नग्न शरीरा योगिनी किस प्रकार मंगल हो सकती है ? क्योंकि जो जीवदया के घातक और हिंसा का स्थान हो, वह मंगल नहीं होता।

नृपवर! जो जीवदया के प्रतिपालक, संयम के धारक साधु भट्टारक नग्न-दिगम्बर हैं, वे अमंगल नहीं परन्तु सच्चे मंगल वे ही हैं। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आभूषणों के धारक और नग्न हैं, उन्हें दूषण लगाने से पापार्जन होता है।

पृथ्वीपति! तुमने स्नानरहित मुनि को निन्दारूप वचन कहा तो यज्ञ कर्म में स्नान कहाँ है ? जिस प्रकार क्षारद्रव्य से वस्त्र मलरहित हो जाता है, इसी प्रकार मल से भरे हुए घट समान यह शरीर, स्नान करने से शुद्ध नहीं होता। स्नान करने से, सुगन्धादि लेप और पुष्पमाला आदि धारण करने से देह पवित्र और निर्मल नहीं होती परन्तु शरीर के संयोग से सुगन्धादि विलेप अपवित्र हो जाते हैं।

यह शरीर क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह आदि से पूर्ण है, यह सप्त धातु-उपधातुमय अपवित्र है, तथापि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप से पवित्र हो जाता है।

हे राजन! दुद्धर तप के धारक ऋषियों का सर्वांग पवित्र होता है, क्योंकि उनकी लार का रस और शरीर का मैल भी रोग का नाश करता है।

नृपवर! जिन ऋषीश्वरों के चरणों की रज ही पापरूप पंख का नाश करती है, इस कारण उन ऋषीश्वरों को ईर्ष्यारहित प्रणाम करना ही सर्वथा योग्य है, क्योंकि जिन मुनिश्वरों को आमर्षोषधि, श्रेष्ठखिल्लोषधि, विडोषधि, अक्षीणमानसऋद्धि, और सर्वोषधि के प्रभाव से सर्प नहीं डसते तथा सिंह, शार्दूल, भील, पुलिन्द आदि दुष्ट जीव भी विनय से प्रणाम करते हैं।

यदि वे मुनि पुंगव रोष (क्रोध) करें तो इन्द्र का भी स्वर्ग में से पतन करें और मेरुसहित तीन लोक को पलट डालें! तीन लोक में ऐसा कौन सा बलवान तेजस्वी पुरुष है जो ऋद्धियुक्त श्रीमुनि के सन्मुख रह सकता है

प्रजापालक! इन महाशक्ति के धारक श्रीमुनि प्रणाम करनेयोग्य सज्जनों से प्रसन्न नहीं होते और जो निन्दा करता है, उसके प्रति द्वेष नहीं करते परन्तु शत्रु और मित्र दोनों से समभाव रखते हैं। इन महामुनि को शत्रु, मित्र, तृण, कंचन, गृह-श्मशान, और धूल तथा रत्न में समभाव है। ऐसे शान्तचित्त तपोनिधि महामुनि पर खड्ग उठाना कहाँ तक योग्य है?

ये महामुनिवर समस्त परिग्रहरहित, समस्त जीवों के उपकारी हैं, जिनका प्रभाव श्रावकों के अतिरिक्त देवेन्द्रों पर भी पड़ता है। नृपेश! तुम भी प्रत्यक्ष देख रहे हो कि महाक्रूर स्वभावी, हिंसक पाँच सौ श्वान आपने महामुनि को मारने के लिये छोड़े थे, परन्तु श्री मुनिराज के प्रभाव से वे शान्तचित्त होकर विनयवान शिष्य की भाँति मुनिराज के पादमूल में पूँछ हिलाते हुए बैठे हैं।

राजन! अज्ञान अवस्था और क्रोध से विमुक्त होकर श्री साधु के चरणों की वन्दना करो।'—इत्यादि कहकर कल्याणमित्र सेठ ने श्री मुनिराज का अधिक परिचय प्रदान करते हुए कहा कि—

❖ ❖ ❖

'गुणों के समूह की निधि कलिंग देश के सुदत्त राजा, सुकुमाल चोर के बन्धन और वधन से उदास होकर परम यति हुए हैं।

जिस समय सुकुमाल चोर को बन्धन में डालकर कोतवाल ने राजा सुदत्त के सन्मुख उपस्थित किया, उस समय राज कर्मचारीगण श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने नृपति विज्ञप्ति की—'हे स्वामी! इस अपराधी चोर को हाथ, पैर और मस्तक छेद का दण्ड देना चाहिए।' ऐसा सुनकर राजा को संसार, देह, भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो गया।

यह सुदत्ताचार्य महाराज! तृणवत राज्य का परित्याग करके परम दिगम्बर होकर गिरि और वन के वासी हुए हैं।'—ऐसा कहकर कल्याणमित्र सेठ ने कहा—'हे राजन! यशोमते! अब रोषमुक्त होकर, हाथ जोड़कर श्री मुनि महाराज के चरणों में प्रणाम करो।'

इस प्रकार कल्याणमित्र के कल्याणरूप वचन सुनकर, समस्त जीवों में मैत्रीभाव धारण करके, श्री मुनिराज की महाभक्तिपूर्वक महाराज यशोमति ने पूज्य गुरुवर के चरणों में नमस्कार किया। तब श्री आचार्यवर ने धर्मवृद्धि हो ऐसे वात्सल्यपूर्वक अमृततुल्य वचन कहे।

यह सुनकर यशोमति नृप हृदय में चिन्तवन करने लगा कि ये मुनि महाराज सुमेरु समान अचल, पृथ्वी समान क्षमावान, समुद्र समान गम्भीर, दिनकर समान प्रतापी और चन्द्रमा समान सौम्य है।

ये श्री मुनि पुंगव संयम के पुंज, तप की शक्ति, माहात्म्य के सार, जिनवर की भक्ति के निवास, दया देवी के क्रिया के पर्वत, क्षमारूप कमलिनी के सरोवर और साधुवृत्ति के भण्डार, जीवों की प्रतिपालना करते हुए विराजमान हैं। मैंने पापी कृतघ्नी दुष्टात्मा ने ऐसे महात्मा को मारने का संकल्प किया, यह अत्यन्त अयोग्य कार्य किया है।

राजा यशोमति विचार करने लगा कि इस दुष्ट चेष्टा का प्रायश्चित्त यही है कि मैं अपना मस्तक छेद करूँगा। इस प्रकार नृपति के हृदयस्थ आशय को जानकर श्री मुनि महाराज ने सुखदायक वचन इस प्रकार कहे—

'नरनाथ! यह क्या अशुभ चिन्तवन कर रहे हो? क्या भ्रमर के कुल सदृश केशसहित

मस्तक के छेदने से ही प्रायश्चित्त होता है ?—नहीं, नहीं... परन्तु अपनी निन्दा और गर्हा से भी प्रायश्चित्त होता है।'

विस्मित होते हुए राजा यशोमति ने कहा—'हे गुरुवर! आपने मेरे मन की गुप्त बात किस प्रकार जान ली ?'

कल्याणमित्र—'राजन! आपके मन की बात श्री मुनिराज ने जान ली, इसमें क्या आश्चर्य है ? श्री केवली भगवान तो लोकालोक सम्बन्धी त्रिकालवर्ती समस्त चराचर वस्तुओं को एक ही समय में जान लेते हैं।'

नृपति—(हाथ जोड़कर) 'हे ऋषिवर्य! मैं एक वार्ता आपसे पूछना चाहता हूँ, वह कृपा करके वर्णन करने का कष्ट करें।'

श्री मुनिराज—'नृपवर! तुम्हारी जो इच्छा हो, वह पूछो। मैं जो कुछ जानता हूँ, वह कहूँगा।'

यशोमति—(मस्तक झुकाकर) 'हे मुनिराज! कृपा कर यह बतलाये कि मेरे पिता महाराज यशोधर अपनी मातासहित मृत्यु पाकर कहाँ उत्पन्न हुए हैं ? '

मुनिराज—'नरनाथ! तुम्हारे पितामह महाराज यशोर्ध जब सफेद बाल देखकर जिस समय वैराग्यभूषित होकर तुम्हारे पिता यशोधर को राज्य लक्ष्मी समर्पण करके स्वयं मदन का मद भंजन करते हुए तपश्चरण के योग से स्वर्ग में गये, उस समय यशोधर महाराज राज्यासन पर विराजित हो न्यायपूर्वक प्रजा पालन करने लगे।

राजन! एक दिन तुम्हारी कुलदेवी के लिये यशोधर और चन्द्रमति ने चूर्ण विनिर्मित मुर्गे का बलिदान किया। तत्पश्चात् विषमिश्रित भोजन करके मरण को प्राप्त होकर माता-पुत्र दोनों श्वान और मयूर हुए। वे दोनों तुम्हारे ही घर में वृद्धि को प्राप्त होकर श्वान द्वारा मयूर का मरण हुआ देखकर तुमने कुत्ते को मार दिया।

तत्पश्चात् तुम्हारे पिता यशोधर का जीव मयूर की पर्याय परित्याग कर नेवला और तुम्हारी दादी का जीव कुत्ते की पर्याय से भयानक सर्प हुआ। तत्पश्चात् दोनों परस्पर युद्ध करके पहले नेवले ने सर्प को मारा, पश्चात् नेवला भी मृत्यु को प्राप्त हुआ।

के राजन! तत्पश्चात् तेरी दादी का जीव सर्प के शरीर का त्याग करके शिप्रा नदी में शंशुमार हुआ जो तेरी कुब्जिका दासी को मारने के अपराध में तूने मरवाया और तेरे पिता का जीव नेवले की पर्याय से उसी शिप्रा में मत्स्य हुआ। शंशुमार की खोज करते समय धीवरों ने मत्स्य को भी पकड़ लिया, तत्पश्चात् वेदाभ्यासी भट्ट ब्राह्मणों के लिये पकाकर दिया गया।

नृपश्रेष्ठ! इस प्रकार शंशुमार और मत्स्य दोनों मृत्यु को प्राप्त हुए। उसमें तुम्हारी दादी का जीव शंशुमार की पर्याय से वन में बकरी हुई और तेरे पिता का जीव मत्स्य की पर्याय से उसी बकरी के उदर से बकरा हुआ।

राजन! संसार की विचित्रता तो देखो! कि वह बकरा अपनी माता बकरी के साथ सम्भोग करके यूथ के स्वामी बकरा द्वारा मृत्यु को पाकर अपने ही वीर्य से अपनी माता के उदर में फिर से बकरा हुआ।

राजेश्वर! एक दिन तुम शिकार के लिये वन में गये थे, वहाँ कोई हिरण नहीं मिला, इस कारण वहाँ से वापिस आ रहे थे, तब मार्ग में बकरी और यूथपति बकरे का मैथुन देखकर क्रोधित होकर तुमने भाला से उन्हें मार दिया। इसलिए बकरी के उदर से जो बकरा निकला, उसे अजपालकों को सौंप दिया। उन्होंने उस बकरे का पालन-पोषण किया।

वह बकरी मरकर महा भयानक महिष (भैंसा) हुआ। उसने तुम्हारी सवारी का घोड़ा मार दिया, इसलिए तुमने उस भैंसे को जीवित जला दिया। तत्पश्चात् पक जाने के बाद उसका माँस समस्त ब्राह्मणों को खाने के लिये दिया।

उस समय तुम्हारी माता अमृतामति जो कि कुष्ठ रोग से व्याकुल थी, उसे भैंसे का माँस रुचिकर नहीं लगा, इसलिए रसोईदारों ने उसी बकरे का पैर काटकर तुम्हारी माता को तृप्त किया; तत्पश्चात् बकरे को मारकर पितृजनों के श्रद्धा के लिये ब्राह्मणों को दिया गया।

हे नृप! तू स्मरण कर कि तूने उस बकरे और भैंसे का खण्ड-खण्ड करके श्रद्धा पक्ष में ब्राह्मणों को खाने के लिये दिया था या नहीं ?

वे दोनों—बकरा और भैंसा—मृत्यु प्राप्त करके मुर्गा युगल हुए। नन्दन वन में उनकी आवाज सुनकर तुमने बाण से उन्हें मार दिया, जो मरकर तुम्हारी कुसुमावली रानी के गर्भ से उत्पन्न होकर अभयमती नामक कन्या और अभयरुचिकुमार नामक पुत्र हुए हैं।

राजन! इस प्रकार तेरे पिता यशोधर और तेरी दादी चन्द्रमति, ये दोनों मिथ्यात्व के योग से संसार भ्रमण करके, पुण्य के योग से तेरे पुत्र-पुत्री होकर तुम्हारे घर में बैठे हैं।

तुम्हारी माता अमृतादेवी निशाचारी समान माँस का भक्षण करनेवाली, गुणसमूह रूपी महाऋषीश्वरों की निन्दा करनेवाली, कुगुरु-कुधर्म-कुदेव की वन्दना करनेवाली, जीवित मत्स्य को तृप्त घृत में पकाकर ब्राह्मणों को भोजन कराकर, पश्चात् स्वयं खाकर मदिरापान करके, जार के साथ रमण करके निजपति और सास को विष देकर मारनेवाली है, जिस कारण महा कष्ट से पीड़ित होकर आर्त-रौद्र ध्यान के योग से मरण को प्राप्त होकर छठवें नरक में महा दु:खों को सहन करनेवाला नारकी हुआ है।'

❖ ❖ ❖

क्षुल्लक महाराज—महराजा मारिदत्त! श्री सुदत्ताचार्य के मुख से मेरे भव सम्बन्धी चरित्र को सुनकर यशोमति महाराज का शोकपूर्ण हृदय कम्पायमान हो गया तथा हृदयस्थ शोक सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर पश्चात् नयनमार्ग से अश्रुधारारूप से बाहर प्रवाहित होने लगा।

❖ ❖ ❖

यशोमति—(श्री मुनिराज के चरणों में गिरकर) 'स्वामिन! जिसने मेरे पिता का घात किया है, वह अवश्य निर्दयी और पापी है।

हे दयानिधे! हे करुणासागर! मैं शीघ्र पाप शत्रु का नाश करके अब किसी भी जीवमात्र से बैर नहीं करूँगा क्योंकि मेरे पिता यशोधर महाराज और दादी चन्द्रमति ने एक बार ही पिष्ठ निर्मित मुर्गे को कुलदेवी के सन्मुख बलिदान किया, जिससे संसार भ्रमण करके असंख्य कष्ट के भाजन हुए और दुष्ट-पापी मुझ द्वारा अनेक बार मारे गये।

हे मुने! मैं ऐसा मूर्ख हो गया हूँ कि मुझे इस बात का किंचित् भी ज्ञान नहीं रहा कि मेरे पूज्य पिता और पितामही का वध किस प्रकार करता हूँ?

सत्य ही है कि जिह्वा लम्पटी माँसभक्षी ब्राह्मणों के मिथ्या उपदेश से असंख्य जनसमूह नरक-निगोद के पात्र बन गये हैं।

स्वामी! जिस धर्मरहित तथा अधर्मयुक्त श्रद्धा लक्षण और यज्ञ धर्म प्ररूपक शासन में सर्वज्ञ नहीं, उस सम्प्रदाय में जीव दयारूप विवेक किस प्रकार हो सकता है? जिस धर्म में वनचर, नभचर और जलचर जीवों का वध करके उसे धर्म बतलाया गया है, उस धर्म में दया का नाम भी नहीं परन्तु अज्ञानता से निज कुटुम्बियों का भी वध किया जाता है।

हे नाथ! मैंने भी वेदाभ्यासी विप्रों के उपदेश से अनेक जीवों का वध किया, इतना ही नहीं; अपने पिता और पितामही के जीव का भी अनेक बार घात किया, वह देखने को कौन समर्थ है?'

इस प्रकार यशोमति महाराज, श्रीमुनि के सन्मुख पश्चातापरूप वचन कहकर, कल्याणमित्र सेठ से इस प्रकार कहने लगे—

'हे वागीश्वर श्रेष्ठिन्! आपने मुझ पर महान उपकार किया है। आपके संसर्ग से मैं मुनि-हत्या के महापाप से मुक्त होकर संसार-भ्रमण से भी रहित हो जाऊँगा। इसलिए समस्त परिग्रह का त्याग करके पाणिपात्र में आहार करूँगा।

श्रेष्ठीवर! आप श्री मुनिराज से मेरी ओर से निवेदन करो कि मुझ पर प्रसन्नचित्त होकर मुझे भगवती जिनेश्वरी दीक्षा प्रदान करें।

प्रिय बन्धु कल्याणमित्र! मैं तो जिन दीक्षा ग्रहण कर रहा हूँ और तुम नगर में जाकर समस्त नगर, राजकर्मचारीगण और अन्तःपुर निवासियों को सूचित कर दो कि यशोमति राजा ने जिनदीक्षा ग्रहण की है; साथ ही अभयरुचिकुमार को राज्य प्रदान किया है और केलिकन्द सदृश सुकुमार शरीरा मृगनयना अभयमतिकुमारी का अहिछत्र नगर के राजा के अरिदमन नामक पुत्र के साथ पाणिग्रहण करो।'

इस प्रकार महाराज ने उपरोक्त वार्ता कल्याणमित्र से कही, जो तत्काल बिजली के

वेग की भाँति समस्त नगर में इस प्रकार व्याप्त हो गयी कि महाराज को बहुत ही उत्तम प्रकार के शिकार का लाभ प्राप्त हुआ अर्थात् श्री मुनि के दर्शन से धर्म का लाभ प्राप्त हुआ है।

उपरोक्त समस्त रहस्य नगरव्यापी होकर अन्त:पुर में भी पहुँच गया। उस समय रनवास में कोलाहल हो गया। समस्त रानियाँ विलाप करते हुए मस्तक और उरस्थल पीटती हुई नन्दनवन में जहाँ श्री मुनि महाराज के निकट यशोमति महाराज जिनदीक्षा के लिये उद्यमी थे, वहाँ आ पहुँचीं।

नख की प्रभा से मणियों की दिप्ती को तिरस्कार करती हुई और चलायमान हारों की मणियों से युक्त रमणियों ने महाराज यशोमति से इस प्रकार प्रार्थना की—

'हे स्वामिन! दैव ने लक्ष्मी सुख के घातक तपश्चरण द्वारा आपको ठग लिया है।

प्राणबल्लभ! आप स्वर्ग सुख के लिये तपश्चरण करते हो तो हम सब स्त्रियाँ अप्सरा हैं, सुन्दर मनोहर महल विमान हैं और प्रिय संगम है, वही सुख है।

यहाँ आपको स्वर्ग सुख से किस बात की कमी है, जो आप वर्तमान सुख का त्याग करके आगामी सुख की वांछा करके तपश्चरण के कष्ट को सहन करते हो?'

इस प्रकार धूर्ता स्त्रियों ने अनेक प्रकार के स्नेहरूप पार्श्व से महाराज यशोमति को रोकने का प्रयत्न किया किन्तु राजा के चित्त में कुछ भी असर नहीं हुआ और वे जिनदीक्षा के लिये दृढ़ चित्त रहे।

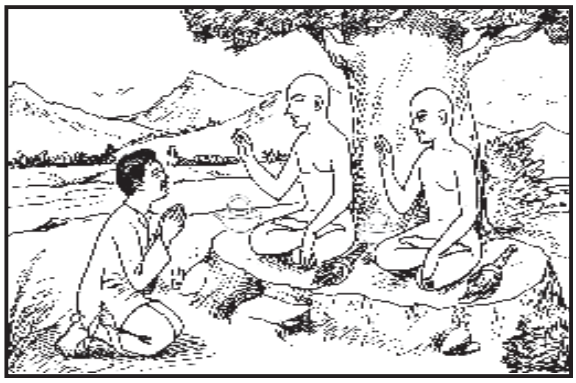

❖ ❖ ❖

क्षुल्लक महाराज, मारिदत्त राजा को सम्बोधन करते हुए कहते हैं—राजन!

जब मुझे और मेरी बहिन अभयमति को इस समस्त वृतान्त के समाचार विदित हुए तो हम दोनों तुरन्त ही अनेक वाजिंत्रों के समूह से व्याप्त मदोन्मत्त हाथी पर चढ़कर नन्दन वन में जहाँ मुनिराज विराजमान थे, वहाँ पहुँचे। हम दोनों भाई-बहिन ने यशोमति महाराज को समस्त राज्य परिकर ध्वजा और चाँवर से रहित तथा चारित्र रत्न के लिये हाथ फैलाकर जमीन पर सामान्य मनुष्य की तरह विराजित देखा।

नृपवर! उस समय हम भी वहीं बैठ गये। तत्पश्चात् श्री मुनिराज के मुख कमल से हमारे भवान्तर की कथा सुनकर हमें तुरन्त ही जातिस्मरण हो गया और हम दोनों उसी समय मूर्च्छायुक्त होकर जमीन पर गिर पड़े। उस समय हमारी माता स्नेह से मुग्ध होकर विलाप करने लगी।

दासियों ने तत्काल शीतलोपचार करके हम दोनों को सचेत किया। जैसे ही हमारी मूर्च्छा दूर हुई, हम दोनों ने श्री मुनिराज के पावन चरणों में वन्दन किया और उन्हीं के निकट बैठ गये।

नृपवर! उस समय मेरी माता कुसुमाबली मुझे मुनि चरणों के निकट बैठे हुए देखकर मेरा हाथ पकड़कर अपनी गोद में बैठाते हुए मुख चुम्बन करते हुए कहने लगी— 'प्रिय पुत्र! तू क्यों उदासचित्त हो गया? तू तो अभी बालक है। तू इन बातों को क्या समझता है? उठ, घर चल। पिताश्री द्वारा प्रदान किये हुए राज्य का शासन सम्हाल' - इत्यादि वचन बोलती हुई अपनी छाती कूटकर विलाप करने लगी।

तत्पश्चात् विह्वल चित्त होकर मूर्च्छा से पृथ्वी पर गिर पड़ी, उस समय अन्तःपुर की समस्त रानियों ने अनेक प्रकार से शीतोपचार करके समझाया और इस प्रकार प्रिय वाक्य कहने लगीं—

पहली रानी ने कहा—'प्रिय बहिन! उठ, उठ। प्रिय वचन बोल। नाथ के कहे हुए वचनों को धारण कर। तूने मेरे दुर्भाग्य का तिरस्कार करके सौभाग्य दिया तो अब किसलिए विलाप करती है।'

दूसरी रानी ने कहा—'हे सखी! तू क्यों दुःखी होती है? तुमने मुझे वस्त्राभूषणों से

भूषित करके भरतार के पास भेजा था तो अब भरतार तपश्चरण में तत्पर है, तब यदि तू ऐसा करेगी तो मेरी खबर कौन लेगा ?'

तीसरा अन्य रानी इस प्रकार कहने लगी—'हे बहिन ! क्यों दु:खी होती है ? हे कल्याणरूपी ! कल्याणरूप व्रत ग्रहण करने के लिये जाते हुए अपने पति का अनुकरण कर।'

उस समय कुसुमाबली महारानी अपने हृदय में विचार करने लगी - ये दोनों बालक, मुनिराजश्री के वचन श्रवण कर मूर्च्छित क्यों हो गये ?

कुसुमाबली—'प्रिय पुत्र ! मुनिराज तो अपने स्वच्छ ज्ञान द्वारा जगत के समस्त चराचर पदार्थों को जानते हैं। तुमने क्या जाना और देखा कि जिससे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर शयन करने लगे अर्थात् बेहोश हो गये ?'

प्रत्युत्तरस्वरूप अभयरुचिकुमार ने कहा—'मातुश्री ! हम दोनों ने मुनिराज के मुख कमल से हमारी भवावली का श्रवण किया है। उसका ही स्मरण हो जाने से हम दोनों मूर्च्छित हो गये थे क्योंकि ज्ञानी मुनि के वचन कभी भी अन्यथा नहीं होते।'

'प्रिय पुत्र ! मुनिराजश्री ने तुम्हारे किस प्रकार के भवों का वर्णन किया है ? वह सुनने की मुझे अत्यन्त उत्कण्ठा हो रही है, तो क्या तुम उनका प्रतिपादन कर सकोगे'— माता ने कहा।

अभयरुचिकुमार ने कहा—'माता ! संक्षेप में कहता हूँ, वह तू सुन।'

❖ ❖ ❖

'अम्बिके ! हम दोनों राजा यशोधर और चन्द्रमति थे। उस भव में आटे का मुर्गा बनाकर देवी के लिये बलि चढ़ायी। उस मिथ्या कर्म के प्रभाव से, विष मिश्रित भोजन के योग से, मरण प्राप्त करके मयूर और श्वान हुए। वहाँ से अरण्य में नेवला और सर्प; वहाँ से शिप्रा नदी में शंशुमार और मत्स्य; वहाँ से बकरा और बकरी; वहाँ से बकरा और भैंसा; वहाँ से मुर्गा युगल और वहाँ से चयकर तुम्हारे स्वच्छ उदर से पुत्र-पुत्री हुए हैं। इस कारण हे वर्तमान भव की माता ! हे पूर्व भव की पुत्रवधू ! अब तू श्री मुनिराज के चरणों में प्रणाम कर।'

इस प्रकार हमारे कहने से श्री मुनिराज को प्रणाम करके, महाराज यशोमति के आदेश से, महाराज यशोमति और हमने नगर की ओर गमन किया। हमारे साथ सभी रानियाँ, राजा, कर्मचारी और कल्याणमित्र सेठ भी नगर में पहुँच गये।

❖ ❖ ❖

नगर में पहुँचकर कल्याणमित्र सेठ ने कहा—'प्रियभाई अभयरुचिकुमार! तुम्हारे पिता महाराज यशोमति तो जिनदीक्षा के लिये उद्यमी हैं। अब तुम इस सप्तांग राज्य का न्यायपूर्वक पालन करो और परिवारीजनों तथा अपनी माता को सन्तुष्ट करो।'

अभयरुचिकुमार—'श्रेष्ठीवर! यह यशोमति पूर्व भवान्तर में नेत्रानन्ददायक मेरा पुत्र था। उसे मैंने ही राज्यासन पर स्थापित किया था। अब इस भव में चन्द्रमा समान मैं उसका पुत्र हुआ हूँ। सेठजी! दैव ने कैसी उत्तम शिक्षा दी है?

श्रेष्ठीवर! अब तुम ही कहो कि दान क्रम को क्या मैं उल्लंघन करूँ? अर्थात् अपने हाथ से दिये हुए दान को वापिस ग्रहण करूँ?

अब तो मोह पटलरूप सघन वस्त्र से वेष्ठित स्नेहरूप पर्वत की गुफा का स्फुटन करके तपोलक्ष्मी का सुखावलोकन करूँगा।'

कल्याणमित्र—'प्रिय कुमार! अभी तपश्चरण का कहाँ समय है? इस समय तो तुम्हें सर्व प्रथम राज्य विद्या की शिक्षा लेना आवश्यक है क्योंकि राज्य विद्या बिना राज्य शासन करना दुसाध्य है और राज्य शासन बिना समस्त प्रजा अन्यायमार्ग में प्रवर्तन करने लगती है; इसलिए श्रावकधर्म और मुनिधर्म दोनों नष्ट हो जाते हैं। जब जिनराज कथित दोनों धर्म धरातल से पलायन कर जायें तो राजगृह में आपका जन्म लेना ही व्यर्थ हो गया! इसलिए राज्य करना परमावश्यक कर्म है।

क्षमा, इन्द्रियों का दमन, समभाव, सत्य और निर्मल शौच द्वारा ही जीव दया प्रतिपादित की गयी है। इसलिए पूर्ण दया के पालक मुनियों का धर्म, गृहस्थों से ही चलता है, यह मैंने निश्चित जाना है।

इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र और खगेन्द्रों द्वारा पूजित श्री भगवान सर्वज्ञ भासित जो धर्म है,

वह राज्य शासन के बिना नष्ट हो जाता है।'

❖ ❖ ❖

अभयरुचिकुमार क्षुल्लक महाराज, मारिदत्त को अभी कहने लगे—नृपश्रेष्ठ! यद्यपि उस समय मैं संसार के दु:खों से अत्यन्त भययुक्त था, तथापि पिता द्वारा प्रदत्त पापरूप राज्य को अंगीकार किया ही।

राजन! जिस समय मेरा राज्याभिषेक हुआ, उस समय विविध प्रकार के रत्नजड़ित वस्त्र-आभूषणों से भूषित दिव्य अंगनाओं का समूह चाँवर ढोलता था।

अनेक प्रकार की शोभा और उत्सवसहित मेरे पिता यशोमति महाराज ने मेरा राज्याभिषेक किया। तत्पश्चात् मुझे और मेरी माता आदि समस्त कुटुम्ब को सम्बोधित करके वन की ओर गमन कर दिया। वहाँ मुनिराजश्री से विनयपूर्वक प्रार्थना करके भव-भ्रमणनाशिनी दिगम्बर जिनदीक्षा अंगीकार कर ली।

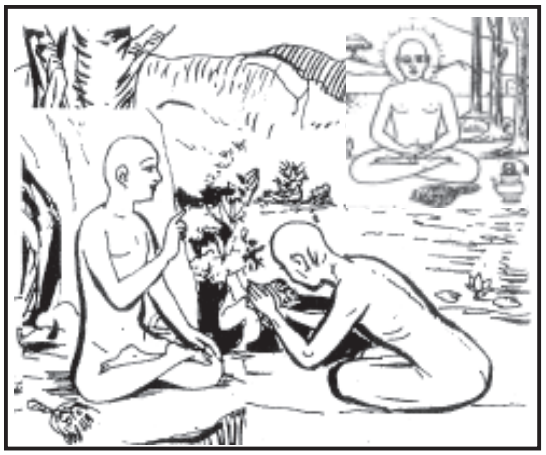

नृपवर! मेरे पिता यशोमति ने जिस समय तपश्चरण ग्रहण किया, उसी समय अन्त:पुर की रानियों ने भी आर्यिका का व्रत ग्रहण कर लिया।

यशोमति महाराज ने दीक्षा ग्रहण करते समय अपने हाथ द्वारा केशलोंच किया, उस समय मानो अन्तरंग में से कृष्ण-नील लेश्या का तिरस्कार किया! जो वस्त्राभूषण और शस्त्रादि समस्त परिग्रह का त्याग किया, वह मानो अन्तरंग राग-द्वेष का ही परिहार किया।

नृपराज! मेरे पिता ने ऋषियों के चारित्र को ग्रहण करके घोर वीर तपश्चरण का आरम्भ किया। जो तपश्चरण जन्म-मरणादि व्याधियों का नाशक है, उसे ही धारण करके यशोमति मुनि, राग-द्वेष, मान-मत्सर आदि भावों का त्याग करके कर्मरूप पाप का नाश करने के लिये निर्जन वन, श्मशानभूमि और गिरिगुफा आदि में निवास करते हुए बेला, तेला, पक्ष, मासोपवास धारण करते थे।

गुणरूप मणियों से भूषित हमारे पिता ने घर के मोह का परित्याग करके, अपने मन को रोककर माया, मिथ्या और निदान, इन तीन शल्यों का खण्डन किया तथा पाँच इन्द्रियों को दण्डित कर उन पर विजय प्राप्त की।

राजन! हमारे पिता यशोमति तो उपरोक्त प्रकार से तपश्चरण से अपने कर्मों को नष्ट करने लगे और मैं संसार से उदास तो था ही परन्तु पिता और कल्याणमित्र सेठ के आग्रह से यद्यपि मैंने राज्यभार ग्रहण कर लिया था, तथापि अपने मन की उदासीनता को कहाँ तक रोकता?

इसलिए कितने ही समय पश्चात् अति विनययुक्त अपने द्विमात भाई को कुल की लक्ष्मी से शोभित राज्यभार समर्पण करके उपशमभावसहित समस्त ग्राहारम्भादि कार्यों का त्याग करके मैं और मेरी बहिन अभयमति - दोनों संसार, देह भोगों से विरक्त होकर, जहाँ उद्यान में श्री दिगम्बर साधु विराजमान थे, वहाँ जाकर उन मुनिराजश्री को नमस्कार करके प्रार्थना की—'स्वामिन! हमें जिनदीक्षा प्रदान करें।'

इस प्रकार हमारी प्रार्थना सुनकर वे वीतरागभाव के धारक श्री भट्टारक महाराज (मुनिराज) कहने लगे—

'अहो वत्स! अभी तो तुम क्षीण शरीर, कमलदलतुल्य कोमलांगी बालक हो और जिनदीक्षा अत्यन्त दुसह्य है, उसका पालन बालकों से नहीं हो सकता, इसलिए उत्तम श्रावक के व्रत को तुम दोनों ग्रहण करो।

हे पुत्र! तुम दोनों भाई-बहिन यद्यपि संसार-देह-भोगों से विरक्त चित्त हो, इस कारण तुम्हारे परिणाम अभी जिनदीक्षा ग्रहण में वृद्धिगत हो रहे हैं परन्तु तुम अभी सुकुमार

अल्प व्यस्क बालक हो; इस कारण मुनिराज के लघु भ्राता क्षुल्लक के व्रत को धारण करो।

कुमार! यद्यपि तुम्हारा हृदय उच्च श्रेणी के आरोहण में संलग्न है, तथापि पहले इस क्षुल्लक व्रत का साधन करो। इसमें पूर्ण सिद्धि मिल जाने के पश्चात् मुनिव्रत अंगीकार करना। ऐसा करने से तुम्हारा निर्वाह पूर्ण रीति से हो जायेगा।

राजकुमार! यह उत्कट श्रावक अर्थात् एकलव्रती तक तो श्रावक ही है, उससे आगे मुनिव्रत होता है। ये ऐलक और क्षुल्लक भी मुनिराज के लघुभ्राता हैं। यह व्रत धारण करने से मुनिव्रत का पालन करना सहज हो जाता है। इसलिए इस समय तुम्हें क्षुल्लक व्रत धारण करने की प्रेरणा देता है।

वत्स! सर्व प्रथम इस बात का विचार करना चाहिए कि इस जीव का शत्रु पाप है और मित्र धर्म है। ऐसा विचार करके जो शास्त्र जानता है, वही श्रेष्ठ ज्ञाता होता है।

राजकुमार! जिस महानुभाव को अपने को निर्दोष ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी रत्नों का पिटारा बनाना हो, उसे तीनों लोक में पति की तरह इच्छा करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थरूपी वनिता स्वयं प्राप्त हो जाती है।

प्रिय अभयरुचिकुमार! हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द – ये चार प्रकार के रौद्रध्यान और इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन और निदान बन्ध, ये चार प्रकार का आर्तध्यान, ये दोनों ध्यान नरक, तिर्यंचगति के कारण होने से दोनों का त्याग करके निरन्तर धर्मध्यान में तत्पर रहना योग्य है।

जो कामदेव का नाश करनेवाली, समभाव करनेवाली, दुर्गति गमन से निवारण करनेवाली जगत गुरु की शिक्षा और धर्मरूप वृक्ष की वृद्धि के लिये जल सारणी समान है, ऐसी बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करना योग्य है।

वे बारह भावनायें इस प्रकार हैं—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मभावना।

हे वत्स! मैंने जैसा आचरण कहा है, तू उसी प्रकार से पालन कर अर्थात् तू क्षुल्लकवृत्ति धारण कर क्योंकि मुनिव्रत धारण करने में तू असमर्थ हो जायेगा।

राजन! मैंने उस समय श्री आचार्य की आज्ञा प्रमाण कर संसार-समुद्र पार करने के लिये जहाज समान क्षुल्लक व्रत अंगीकार किया अर्थात् अन्य समस्त वस्त्राभरणों का त्याग करके मात्र एक सफेद वस्त्र और एक लंगोटी मात्र का ग्रहण किया तथा मस्तक के केश को दूर करके पीछी और कमण्डल को धारण किया। इसी प्रकार अभयमति को क्षुल्लिका के व्रत दिये।

हमारे गुरु श्री सुदत्ताचार्य प्रमादरहित जीवों की दयायुक्त पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए यहाँ इस नगर के उद्यान में पधारे हैं और उन्हीं यति-पति के साथ हम भी आये हैं। श्रीगुरु की आज्ञा प्रमाण गुरु के चरण-कमल की वन्दना करके भिक्षार्थ (आहार हेतु) निकले हैं।

तपश्चरण करते हुए तथा जिनभगवान का स्मरण करते हुए, शुभाचरण के धारक हमें मार्ग में गमन करते हुए ये किंकर पकड़कर यहाँ ले आये हैं।

राजन! तुम्हारे सेवकों ने हम दोनों को तुम्हारे सन्मुख लाकर उपस्थित किया, तत्पश्चात् जब तुमने हमारा चरित्र पूछा तो हमने अपना कृतकर्म द्वारा संसार के परिभ्रमणरूप समस्त वृतान्त आपको कहा है। अब जैसा आपको ठीक लगे वैसा करो।''

❖ ❖ ❖

क्षुल्लक महाराज का उपरोक्त समस्त जीवन चरित्र जानकर मारिदत्त नृप और चण्डिकादेवी दोनों संसार से उदासचित्त होते हुए संसार से विरक्त होकर सर्व प्रथम समस्त पशु युगलों को होम करने का जो कार्य प्रारम्भ किया था, उसका निषेध करके धर्म में तत्पर हुए। उस समय उन दोनों से प्रतिबोधित होकर राजा अपने हृदय में विचार करने लगा—

इस लोक में पवित्र और प्रधान बालक युगल यथार्थ में पूज्य है। मस्तक के ऊपर चूड़ामणि रत्न की भाँति वन्दनीय है।

इस प्रकार चिन्तवन करके मारिदत्त नृपति, चण्डिकादेवी और उसके उपासक भैरवानन्द ने चण्डिका गृह में बलि प्रदान करने के लिये जो कुछ सामग्री उपस्थित की थी, वह सब पृथ्वीतल में फेंक दी। तत्पश्चात् राजा ने कर्मचारियों को बुलाकर कहा—

'हे कर्मचारी! तुम शीघ्र जाओ और उपवन को सुशोभित करो।'

कर्मचारीगण—(हाथ जोड़कर) 'जो आज्ञा महाराज की! अभी जाकर उपवन को

शृंगारित करते हैं।'

इस प्रकार महाराज की आज्ञा शिरोधारण करके समस्त कर्मचारियों ने शीघ्र जाकर वृक्ष, लता, फल, पुष्पादि से मनोहर वन, जिसकी रक्त पत्रों से युक्त आम की डालियों पर अनेक पक्षी मनोहर ध्वनि करते हुए अत्यन्त रमणीक दृष्टिगत हो रहे थे, उसी निर्मल वन को मुक्ता फलों की जाली तथा रेशमी वस्त्र, मण्डप और रत्न विनिर्मित चन्दोवा आदि से ऐसा सुशोभित किया कि मानो दूसरा स्वर्ग का विमान ही स्वर्ग की लक्ष्मी को छोड़कर धरती पर आया है।

—इत्यादि प्रकार से वन को सुशोभित करके महाराज के निकट आकर निवेदन किया—

कर्मचारी—'श्री महाराज की जय हो! आपकी आज्ञानुसार पूरा वन सुशोभायुक्त हो गया है।'

इस प्रकार कर्मचारियों की बात सुनकर चण्डिका देवी जो कि अप्रगटरूप से बैठी हुई थी, वह प्रगट होकर महाराज मारिदत्त से कहने लगी—

'राजन! यद्यपि आपके कर्मचारियों ने उपवन को सुशोभित किया है, तथापि मैं श्री क्षुल्लक महाराज के निवास को तपोवन बनाऊँगी।'

मारिदत्त—'मातुश्री! आपकी जो अभिलाषा हो, वही करो।'

इस प्रकार नृपति की सम्मति प्राप्त कर चण्डिकादेवी ने अपनी अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व इन अष्ट गुणों द्वारा उस वन को अधिक शृंगारित किया।

तत्पश्चात् श्री अभयरुचिकुमार क्षुल्लक, अभयमति क्षुल्लिका तथा मारिदत्त और भैरवानन्द को साथ लेकर महोत्सवपूर्वक तपोवन में ले जाकर उपस्थित किया।

तत्पश्चात् देवोपुनीत सिंहासन पर क्षुल्लक युगल को विराजमान करके स्वयं प्रगट होकर श्री क्षुल्लक महाराज के सन्मुख उपस्थित हो गयी। वह चण्डमारीदेवी जो थोड़े समय पूर्व अस्थि, माँस, रुधिर, वसा आदि से सर्वांग व्याप्त थी, मनुष्यों के मुण्डों की माला कण्ठ में धारण करके महा भयानक मूर्ति थी, वह श्री क्षुल्लक महाराज का उपदेश सुनकर

अपने असली रूप में आकर समस्त हिंसादि कर्म का त्याग करके सौम्य बदन हो गयी।

वह चण्डमारी देवी महावात्सल्यांगधारिणी, प्रसन्न बदना, स्वर्ण का पात्र निज करकमल में धारण करके सौम्यभावयुक्त अपने पैर तक कटिमेखला लटकाती हुई, अदृश्य लावण्य और सौभाग्य से सारभूत लम्बी, हाथ के तेज से मनोहर उछलती स्वच्छ जल से पूर्ण भृंगार से शोभायमान हाथ, जिसके पैर नुपुरों की ध्वनि को सुनकर मयूरगण नृत्य करते हुए उत्तम शब्द कर रहे थे।

वह चण्डमारी देवी नखों की सुन्दर कान्तियुक्त गुरु के चरणों में नमस्कार करके अपना शिष्यपना प्रसिद्ध करती है। तत्पश्चात् जल और कमलयुक्त अर्घ्य द्वारा गुरु की पूजा करके कहने लगी—

'स्वामी! आप तो कृत्रिम मुर्गे को मारने से सम्पूर्ण भववन में भटके हो। मैंने तो असंख्य जीवों को अपनी माया से ग्रसित किया और रुधिर में स्नान किया। अब इस पाप से मैं किस प्रकार मुक्त होऊँगी। इसलिए हे देव! अब मैं पूर्वकृत तीव्र पाप से मुक्त होने के प्रायश्चित्तरूप से तीव्र तप का आचरण करूँगी, जिससे जीव वध से उत्पन्न हुआ हिंसा का पाप नष्ट हो सके।'

क्षुल्लक—'हाँ देवी! व्यन्तरदेव से लेकर सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र पर्यन्त समस्त देवों में तपश्चरण नहीं है, क्योंकि देवों को उत्कृष्ट चार गुणस्थान होते हैं, इसलिए अव्रत तक रहते हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन तो होता है परन्तु श्रावक के व्रत जो कि पाँचवें गुणस्थान में होते हैं, वे नहीं हो सकते, तो मुनिव्रत किस प्रकार होगा?

हे देवी! इस चतुर्गतिरूप संसार में दूसरे भी असंख्य जीव ऐसे हैं कि जो तप ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

हे देवी! यद्यपि समस्त पर्यायों में मनुष्य-पर्याय उत्तम है, क्योंकि मोक्ष का उपाय इस पर्याय के अतिरिक्त अन्य में नहीं है, परन्तु जो मूर्ख मोक्ष के साधनों से अनभिज्ञ होकर विषय में लीन रहते हुए हिंसादिक कर्म में प्रवत्त रहते हैं, वे रौरव नरक में गिरते हैं।'

चण्डिका—'नाथ! चतुर्गतिरूप पाताल कुँए के दुःख से और अत्यन्त भयानक घोर संसार समुद्र में गिरते हुए आपने मुझे बचाया है! स्वामी! आप देवों के देव और जैन

सिद्धान्त के रहस्य के पूर्ण ज्ञाता हैं, इसलिए आप मेरे स्वामी हैं और मैं आपके चरणों की दासी हूँ।'

तत्पश्चात् मारिदत्त राजा कहते हैं—'स्वामी! आपने कहा कि देव पर्याय में तपश्चरण नहीं - वह तो सत्य है, परन्तु यह तो बताओ कि अब मुझे क्या करना चाहिए।'

क्षुल्लक—'राजन! अभी तक तो जो हुआ, वह हुआ, परन्तु अब आज से किंचित् मात्र भी किसी जीव की हिंसा नहीं करना।'

चण्डिका—'पृथ्वीनाथ! आज से समस्त राज्य में इस बात की घोषणा कर देनी चाहिए कि समस्त प्रजा सौम्यभाव धारण करके रौद्रभावों का त्याग करे अर्थात् जो पुरुष, स्त्री, बालक और वृद्ध वन में-उपवन में या किसी भी जगह साक्षात् पशु को अथवा कृत्रिम पशु की देवता, पितृ इत्यादि के निमित्त से हिंसा करेंगे तो उसका मैं (देवी) गृह-कुटुम्बसहित नाश कर दूँगी।'

इस प्रकार चण्डिका के आदेशपूर्ण वचन सुनकर मारिदत्त नृपति इस प्रकार कहने लगे—

'मातुश्री! आपकी आज्ञा से पहले ही श्री क्षुल्लक महाराज के उपदेश से मेरा हृदय जीव हिंसा से कम्पित हो गया था क्योंकि श्री क्षुल्लक महाराज ने यशोधर के भव में कृत्रिम मुर्गा ही कुलदेवी को अर्पित किया था, उसके ही पाप से इन्होंने संसार में जो परिभ्रमण किया, उसका चरित्र हृदय विदारक है।

हे चण्डिके! ऐसा कौन पत्थर हृदय होगा कि जो श्रीगुरु की भवावली सुनकर जीव हिंसा से भयभीत न हो? मैंने भैरवानन्द की आज्ञानुसार अनेक जीव युगल एकत्रित किये, उससे ही मेरा हृदय कम्पित हो रहा है, उसमें भी आपकी आज्ञा हुई, अब तो अवश्य ही मेरे राज्य में जीव हिंसा नहीं होने दूँगा।'

चण्डिकादेवी, मारिदत्त नृपति को ऐसी आज्ञा करके तथा श्री मुनि के चरणों में नमस्कार करके अदृश्य होकर अपने स्थान को चली गयी।

मारिदत्त नृपति—'स्वामिन! आपने अपनी माता के आग्रह से कृत्रिम मुर्गे का घात करके कुलदेवी को अर्पण किया और इतने पाप से आपने संसार वन में इतना भ्रमण किया तथा इतना क्लेश प्राप्त किया कि जिसका पार नहीं, तो मैंने जो अनेक जीवों के इतने युगलों

को मारा है, जिन्हें देखने से वज्र हृदय भी दया से द्रवीभूत हो जाये, किन्तु मेरे हृदय में किंचित् भी दया नहीं आयी।

नाथ! धर्मवत्सल! उपरोक्त पापकर्म से मैं नारकी जीवों के रक्त से व्याप्त अन्धकारमय नारकियों के कोलाहल से पूर्ण महारौरव नरक में गिरकर दुसह्य वेदना का पात्र बनूँगा।

हे गुण रत्नाकर! उपर्युक्त पाप की शान्ति के लिये समस्त पापों की निवृत्ति करनेवाली निर्ग्रन्थ वृत्ति का ही आचरण करूँगा। क्योंकि जब तक निर्जन वन, गिरिगुफा आदि में निवास करके दिगम्बर वृत्ति धारण करके पाणिपात्र-आहार ग्रहण नहीं करूँ, तब तक संसाररूपी दृढ़ बन्धन से मुक्त होना कष्ट साध्य ही नहीं परन्तु असम्भव है। इसलिए आप मुझे जिनदीक्षा प्रदान कर कृतार्थ करो।'

इस प्रकार मारिदत्त नृपति के वचन सुनकर क्षुल्लक महाराज ने कहा—

'राजन! तुम्हारा विचार अति उत्तम है, परन्तु मैं स्वयं महाव्रत का धारक मुनिराज नहीं हूँ, इसलिए तुम्हें दीक्षा नहीं दे सकता। इसके अतिरिक्त यह भी एक नियम और आचार व्यवहार है कि यदि अपने गुरु निकट ही हों तो स्वयं दीक्षा-शिक्षा किसी को न दे और यदि कोई दे तो उसे पापियों की पंक्ति में गिना जाता है। इसलिए आपको मैं अपने गुरु श्री सुदत्ताचार्य के निकट ले जाता हूँ, वे ही आपको दीक्षा-शिक्षा प्रदान करेंगे।'

इस प्रकार श्री क्षुल्लक महाराज के वचन सुनकर मारिदत्त नृप आश्चर्ययुक्त अपने हृदय में विचार करने लगा—

आहा..हा..! जगत में तपस्या के समान कोई महान नहीं है क्योंकि समस्त मनुष्यों में पूज्य मैं; मुझसे पूज्य चण्डिकादेवी तथा देवी के गुरु क्षुल्लक महाराज और उनके भी गुरु श्री सुदत्ताचार्य हैं। यह सब तप की ही महिमा है।

इस प्रकार अपने हृदय में विचार करके फिर विनयपूर्वक हाथ जोड़कर नृपति ने क्षुल्लक महाराज से कहा—'हे रत्न भण्डार! आपके श्रीगुरु कहाँ विराजमान हैं? आप मुझे उनके समीप ले चलें, मैं आने को तैयार हूँ।'

इस प्रकार नृपति की प्रार्थना सुनकर क्षुल्लक महाराज, राजा को अपने साथ लेकर श्री सुदत्ताचार्य के निकट पहुँचे। वे श्री सुदत्ताचार्य महामुनि अवधिज्ञान नेत्र के धारक, देव-मनुष्यों द्वारा पूज्य, आठ मद को निर्मद करके मोहमल को निर्जीत करके गुण समृद्ध

अनेक ऋद्धियों के धारक हैं तथा कर्मों के बल को जर्जरित कर दिया है। वे दयानिधि दिगम्बराचार्य तप में स्थित, दस धर्म धारण करते हुए अपने आत्मा के ध्यान में मग्न हैं।

उन महातपस्वी आचार्यश्री के निकट पहुँच कर क्षुल्लक महाराज और मारिदत्त नृपति, इन जगत पूज्य श्रीगुरु के चरणों की वन्दना करके वहीं गुरु के चरणों में बैठ गये। तब गुणों के समूह श्री सुदत्ताचार्य ने धर्मवृद्धि का आशीर्वाद प्रदान किया।

तत्पश्चात् हर्षित चित्त होकर महाराज मारिदत्त ने श्रीगुरु को नमस्कार करके कहा—

'स्वामिन्! मुझे आपकी भवावलि सुनने की अभिलाषा है तथा यह मस्तक नीचा करके बैठे हुए गोवर्धन सेठ के भवों की कथा, मेरे संसार भ्रमण की कथा, भैरवानन्द के संसार की कथा, चण्डमारीदेवी, यशोधर राजा, चन्द्रमति महारानी और महा अवगुणों की खान दुष्चारिणी पापिष्ठा जार-कर्म-दक्षा अमृतादेवी, यशोमति नृप तथा कुसुमावलि के भावों का वर्णन आप कृपा करके कहने का कष्ट करें। जिससे हमारा संशय दूर हो। तदुपरान्त इस घोड़े के भवों का भी वर्णन करने की कृपा करें।'

इस प्रकार मारिदत्त की प्रार्थना सुनकर आचार्यश्री कहने लगे—

❖ ❖ ❖

''राजन! यदि तेरी यही इच्छा है तो मैं कहता हूँ। तू चित्त लगाकर सुन जिससे तेरे हृदय में से संशय-तिमिर का नाश होकर ज्ञानसूर्य का प्रकाश हो।

राजन! उत्तम ऋद्धियुक्त प्रसिद्ध गन्धर्व नामक देश है, जिसमें कस्तूरी की सुगन्ध से अति सुगन्धमय और अति उन्नत शिखरों की शोभा से गंधर्वनगर की शोभा को तिरस्कार करता हुआ गन्धगिरि नामक पर्वत है।

उस पर्वत के ऊपर शुभाचारी मनुष्यों के निवासयुक्त गन्धर्वपुर नामक नगरी है, जिसमें वैदर्भ नामक राजा हुआ। वह राजा शत्रुवर्ग का घातक और राजनीति में अति निपुण, न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता था। उस वैदर्भ नामक राजा की विन्ध्यश्री नामक अति मनोहरा पतिव्रता रानी थी। वह विन्ध्यश्री अपनी आवाज से कोयल तथा निज गति से हंसनी की विजेता थी। उसकी रूप सम्पदा को देखकर देवांगनायें भी लज्जित होती थीं।

उस विन्ध्यश्री रानी के गर्भ से कामदेव समान अनुपम रूप के धारक, सज्जनों द्वारा

प्रशंसनीय गन्धर्वसेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ तथा अति कोमल और क्षीण शरीर धारक उत्तम लक्षणों युक्त गन्धश्री नामक पुत्री उत्पन्न हुई।

इन पुत्र-पुत्री का मनोहर युगल ऐसा दृष्टिगत होता था कि मानो विधाता ने स्वयं इनका लालन-पोषण करके जगत में उत्तमरूप-लावण्ययुक्त बनाया हो। वह युगल जैसा रूपवान था, वैसा ही स्वभाव से सौम्य और मधुर वचनों द्वारा लोगों का मनोरंजन करता था। वह बाल युगल अपनी बाल-लीला से समस्त पुरजन और परिजनों को प्रिय था।

वह गन्धश्री नामक पुत्री सुकोमलांगी, गजगामिनी, मृदुहासिनी, अपने माता-पिता के चित्त को आनन्ददायिनी थी। वह राजा अपनी पुत्री को पुत्र समान मानते हुए राज्य का भोग करता था।

उस वैदर्भ नामक नृपति को मन्त्रविद्या विशारद, सर्व विद्याओं में निपुण, राज्य भार चलाने में चतुर, राम नामक मन्त्री था। उसके रूप, लावण्य, गुण विशिष्टा, पतिव्रता और निजपति की अनुगामिनी चन्द्रलेखा नामक प्रिय पत्नी थी। उसके उदर से उत्पन्न हुआ जितशत्रु नामक पुत्र पृथ्वी पर विख्यात था।

उस जितशत्रु का छोटा भाई भीम, पापकर्म में चतुर, भीम समान बलवान और कपट करने में निपुण था।

राजन! वह वैदर्भ नामक राजा निज चातुर्य और न्याय-परायणतार्पूवक काल व्यतीत करने लगा। एक दिन अपनी सखियों के साथ क्रीड़ा करती पुत्री गन्धर्वश्री को देखकर वह अपने मन में विचार करने लगा कि पुत्री विवाह के योग्य हो गयी है, इसके लिये वर खोजना परम आवश्यक है। इस प्रकार विचार कर वह अपनी पत्नी से कहने लगा—

'प्रिय! आज पुत्री को देखकर मुझे उसके विवाह की चिन्ता हो रही है अर्थात् पुत्री विवाहयोग्य हो गयी है। इसलिए उसके लिये योग्य वर की खोज करना चाहिए। वर भी ऐसा होना चाहिए कि जैसी रूपवती, गुणवती और रूप-लावण्य गुणयुक्त पुत्री है।'

रानी विन्ध्यश्री ने कहा—'प्राणनाथ! आपका कहना सत्य है परन्तु हम तो पुत्री के जन्म और पालन-पोषण के अधिकारी हैं। कन्या के लिये योग्य वर की शोध करना आपके अधिकार में है। इसलिए आप ही मन्त्रियों द्वारा योग्य वर की शोध करें।'

वैदर्भ नृप ने कहा—'हे प्रिय! यद्यपि तुम्हारा कहना परम सत्य है परन्तु तुमसे पूछ लेना भी सर्वथा उचित ही है।'

रानी विन्ध्यश्री ने कहा—'हे देव! यह तो आपकी कृपा है परन्तु अब आप ही जो उचित समझें, उसके साथ पुत्री का पाणिग्रहण करायें।'

इस प्रकार महारानी से वार्तालाप करके, द्वारपाल को बुलाकर, मन्त्री मण्डल को एकत्रित करने की आज्ञा प्रदान की। द्वारपाल ने समस्त मन्त्रियों को बुलाकर एकत्रित किया। राजा ने उनसे इस प्रकार पूछा—

'मन्त्रीगण! आज अपनी सखियों सहित क्रीड़ा करते हुए पुत्री को देखकर पुत्री के विवाह की चिन्ता उत्पन्न हुई है। अत: आप लोग उचित वर की शोध करें।'

राजा की बात सुनकर राम नामक मन्त्री ने कहा—'पृथ्वीनाथ! मैं आपकी आज्ञा शिरोधारण करता हूँ। यद्यपि प्रतापी राजाओं के अनेक पुत्र हैं, तथापि पुत्री के योग्य वर दृष्टिगत नहीं होता, क्योंकि नीति शास्त्र में समस्त गुणयुक्त वर कहा गया है। कहा है कि उत्तम कुल, सुन्दर लोकप्रिय स्वभाव, निरोग शरीर, पूर्ण आयु, लौकिक और पारमार्थिक विद्या, योग्य धन और स्वामित्व - इन सात गुणों की परीक्षा करना चाहिए। तत्पश्चात् कन्या का भाग्य!

स्वामिन्! उपर्युक्त गुण विशिष्ट राजपुत्र मेरी नजर में नहीं आता क्योंकि बहुत खोज करने पर भी कहीं कुल है तो गुण नहीं—इत्यादि किसी में भी सातों गुण देखने में नहीं आते। इसलिए मेरा कहना तो ऐसा है कि पुत्री स्वयं योग्य वर देखकर उसके गले में वरमाला पहनावे तो अति उत्तम होगा, क्योंकि गन्धश्री स्वयं सामुद्रिकादि अनेक शास्त्रों की ज्ञाता है, वही योग्य वर को वरे तो उत्तम है।'

मन्त्री की बात सुनकर वैदर्भ नृप ने कहा—'तो क्या आपकी राय में स्वयंवर मण्डप बनाना चाहिए?'

राम मन्त्री ने हाथ जोड़कर कहा—'श्री महाराज! अवश्य स्वयंवर मण्डप बनाना पड़ेगा और समस्त राजपुत्रों को निमन्त्रण देना पड़ेगा।'

इस प्रकार राम मन्त्री की बात सुनकर महाराज ने अन्य मन्त्रियों की भी सम्मति

चाही तो सभी मन्त्रियों ने भी राम मन्त्री की तरह स्वयंवर मण्डप की ही सलाह दी।

महाराज वैदर्भ ने समस्त मन्त्रियों की अनुमति से स्वयंवर करने का निर्णय करके यह आज्ञा प्रदान की कि स्वयंवर मण्डप की तैयारी कराओ और राजपुत्रों को बुलाने के लिये निमन्त्रण-पत्र भेजो।

सभी कर्मचारियों ने जो जिसका कार्य था, वह उसने पूर्ण किया। स्वयंवर के लिये अति उत्तम अनेक स्तम्भों का मण्डप तैयार करके राजपुत्रों को बैठनेयोग्य रमणीक मनोरंजक स्थान तैयार किया।

अनेक देशों से आये हुए राजपुत्रों का स्वागत राज्यकर्मचारियों ने सर्व प्रकार से अति उत्तम किया। तत्पश्चात् जिस समय समस्त राजकुमार अपने-अपने वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर मण्डप में बैठे, उसी समय गन्धश्री नामक राजपुत्री ने अपनी सखियोंसहित स्वयंवर मण्डप में आकर समस्त राजकुमारों पर दृष्टिपात किया। उस समय वृद्ध खोजा (दासी) ने समस्त राजकुमारों का नाम, कुल, गुणस्थान, पराक्रम आदि का वर्णन किया परन्तु राजपुत्री के हृदय में एक भी राजकुमार ने प्रवेश नहीं किया परन्तु राम नामक मन्त्री का पुत्र जितशत्रु, जो कि वस्तुतः जितशत्रु था, उसके गले में वरमाला डाल दी।

जिस समय राजपुत्री ने जितशत्रु के गले में वरमाला डाली, उस समय न्यायवान नृपतियों द्वारा धन्य.. धन्य..! वाह.. वाह..! ये शब्द सब और से प्रतिध्वनित होने लगे।

तत्पश्चात् विधिपूर्वक राजकुमारी का मन्त्री पुत्र जितशत्रु के साथ पाणिग्रहण हुआ, उस समय शंख, तुरही, भेरी आदि अनेक वाजिंत्रों के शब्द से सर्व दिशायें बहरी होने लगी अर्थात् जोरदार ध्वनि होने लगी। इसके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक प्रकार के उत्सवों से विवाह का कार्य सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात् जितशत्रु अपनी प्रियासहित सुखपूर्वक मनोरंजक क्रीड़ा करते हुए काल व्यतीत करने लगा।

एक दिन वैदर्भ महाराज शिकार के लिये अनेक शिकारी आदि अनेक शस्त्रधारी सुभटों और हिंसक जानवरों सहित वन में पहुँचे। वहाँ हिरण के युगल को घास चरते देखकर बाण का निशान लगाया। हिरण और हिरणी दोनों यह आपत्ति देखकर वहाँ से भागने लगे परन्तु भागकर कहाँ जा सकते थे?

राजा ने भी उनके पीछे घोड़ा दौड़ाकर बाण चलाया तो हिरणी बाण से विंधकर

धरती पर गिर पड़ी। उस प्राणरहित हिरणी को उस दौड़ते हुए हिरण ने जब नहीं देखा तो दिशा भूलकर चिल्लाते हुए इधर-उधर भ्रमण करने लगा।

वह हिरण निज पत्नी के विरह में व्याकुल होकर भान भूलकर अपने प्राणों का भय तजकर दौड़ते-पड़ते चिल्लाते हुए और आँखों से अश्रुपात बहाते हुए मृत हिरणी के निकट आया।

उस समय हिरण की शोक पूर्ण अवस्था देखकर राजा वैदर्भ का हृदय दयारस से भींगने लगा। उस समय करुणारस से पूर्ण, गर्वरहित होते हुए राजा वैदर्भ अपने हृदय में चिन्तवन करने लगा - धिक्! मैं इन्द्रियों के विषय में आसक्त होकर शारीरिक क्रिया में लम्पट, अज्ञानी होता हुआ इतने समय तक धर्म-अधर्म तथा उसके फल सुख-दुःख से अनभिज्ञ ही रहा।

धिक्कार है मुझे! मैंने विषयों में सुख मानकर कुछ भी परोपकार नहीं किया परन्तु निरपराध जीवों की हिंसा करके पापबन्ध ही किया।

राजा विचार करने लगा कि अब मुझे समस्त पापकर्मों का त्याग करके धर्म सेवन करना ही उचित है, क्योंकि इन विषयों का सेवन करने से कल्पकाल में भी तृप्ति नहीं होती।

इसके अतिरिक्त विषय वर्तमान में तो उत्तम ज्ञात होते हैं परन्तु अन्त समय में अति विषम और नरक में ले जानेवाले हैं।

इस प्रकार संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर नृपति अपने घर जाकर सर्व राज्य मण्डल को एकत्रित करके अपने वैराग्य की बात करने लगा।

यद्यपि समस्त राज कर्मचारीगण और रनवास आदि ने राजा के वैराग्य से शोकाकुल होकर राजा को दीक्षा लेने से रोकने के लिये अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचे, परन्तु वैराग्य विभूषित नृपति किसी भी प्रकार से नहीं रोका और अपने प्रिय पुत्र गन्धर्वसेन को राज्य शासन समर्पित करके स्वयं तपोवन की ओर गमन किया और जैनाचार्य के निकट भगवती जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

उस समय महारानी विन्ध्यश्री ने भी आर्यिकाओं के निकट समस्त परिग्रह का त्याग करके एक श्वेत साड़ी मात्र धारण करके भगवती के यश को प्रकाशित करते हुए

आर्यिका के व्रत को ग्रहण किया।

वे वैदर्भ महाराज समस्त वस्त्राभूषणादि परिग्रह का त्याग करके परम दिगम्बरी दीक्षा धारण करके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी धन से अलंकृत होकर दिशारूप वस्त्र धारण करके महामुनि हुए।

वैदर्भ महाराज मुनि होने के बाद गन्धर्वसेन, शत्रुओं के मान को मर्दन करनेवाले राज्यासन पर विराजित हुआ। वह गन्धर्वसेन गजराज, अश्वरथ, प्यादा आदि राजऋद्धियुक्त, न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा।

एक दिन वे गन्धर्वसेन महाराज अपनी सेनासहित यत्नपूर्वक पवित्र और निर्मलचित्त अपने पिता वैदर्भ मुनि के निकट गये।

उस समय वैदर्भ मुनिराज संन्यास में विराजमान थे। जिस समय गन्धर्वसेन को चतुरंग सेनासहित पूर्ण तेजयुक्त देखा, उस समय वैदर्भ मुनि ने अपने हृदय में निदान किया कि मैं मेरे व्रत के प्रभाव से इस प्रकार की ऋद्धि का धारक धरापति होऊँ।

यहाँ श्री ग्रन्थकार कहते हैं कि **अरे रे धिक्कार! इस निदान बन्ध को जिसने अमूल्य रत्न को तन्दुल के तुष में दे दिया! जिस तपश्चरण के प्रभाव से इन्द्रादि पद तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है, उस महान फलदायक व्रत के फल को किंचित् विभूति के लोभ में विक्रय कर डाला।**

तत्पश्चात् वे मिथ्यात्व से दूषित वैदर्भ मुनि, आयु के अन्त में मरण प्राप्त करके उज्जैन नगरी में यशोर्ध नामक राजा हुआ। वह यशोर्ध निज यश से समस्त दिग्मण्डल को पूरित करते हुए समुद्रान्त पृथ्वी के स्वामित्व का राजपट अपने सिर पर धारण करता था।

विन्ध्यश्री (वैदर्भ की रानी) जो आर्यिका हुई थी, वह भगवान के चरण-कमल अपने हृदय में धारण करके, तपस्या द्वारा शरीर का शोषण करते हुए और मिथ्यात्व के उदय से गंगादि सरिताओं में तीर्थ की कल्पना करके स्नान करती, अन्त समय मरण को प्राप्त होकर अजितागंज राजा के गृह में चन्द्रमति नामक पुत्री हुई।

वह चन्द्रमति स्वभाव से भोली और बुद्धि से मन्द थी। उसका विवाह महाराज यशोर्ध के साथ हुआ। तत्पश्चात् उन्हें यशोधर नामक पुत्र हुआ।

वह यशोधर अपने परिवार के पोषण में कल्पवृक्ष समान हुआ। एक दिन जब

यशोर्ध महाराज को वैराग्य उत्पन्न हुआ, तब यशोधर को राज्यासन पर आसीन करके समस्त राज्यभार से मुक्त हुए।

तत्पश्चात यशोर्ध महाराज समस्त परिवार और शरीरादि से मोह का परित्याग करके, बारह प्रकार का तप करके अन्त समय में समाधिमरण द्वारा छठवें ब्रह्मोत्तर नामक स्वर्ग में ऋद्धिधारक देव हुए।

महाराज वैदर्भ की गन्धश्री नामक पुत्री, जो कि मन्त्री पुत्र जितशत्रु के साथ विवाही गयी थी, वह पापकर्म के उदय से अपने देवर अर्थात् जितशत्रु के छोटे भाई भीम में आसक्तचित्त होकर गुप्त रीति से भोगों में आसक्त हो गयी।

एक दिन जितशत्रु ने गुप्त रीति से अपनी पत्नी गन्धश्री का कुत्सित कर्म देख लिया। **सत्य ही है कि अशोभनीय पापकर्म कितना भी छुपाकर किया जाये, परन्तु कभी तो वह प्रगट हो ही जाता है।**

जितशत्रु ने जब अपनी पत्नी का व्यभिचार देखा तो वह तुरन्त स्त्रियों के चरित्र और संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर तपोवन में जाकर दिगम्बर जैनाचार्य के निकट जिनदीक्षा धारण करके चिरकाल तक तप करके अन्त समय में समाधिमरण करके चन्द्रमति के गर्भ से यशोधर नामक पुत्र हुआ। वही राजा यशोधर, यशोर्ध महाराज के बाद राज्यशासन करते हुए न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा।

जितशत्रु की माता अपने पुत्रवधु के व्यभिचार के कारण जितशत्रु को वैराग्य होना सुनकर अपने पति रामसहित ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके अन्त समय में समाधिमरण करके दृढ़ ब्रह्मचर्य के प्रभाव से विजयार्धगिरि पर उत्पन्न हुए। राजा वैदर्भ का पुत्र जो गन्धर्वसेन था, वह भी गन्धश्री का अशोभनीय कर्म सुनकर स्त्रियों के कुत्सित कर्म की निन्दा करते हुए श्रीमद् जैनमत की शिक्षा ग्रहण करके अनशनादि व्रतों का आचरण करके निदानसहित मरण प्राप्त करके तू मारिदत्त हुआ है। अतः अब तू निज आत्मा का स्वरूप जानकार आत्मकल्याण कर।

❖ ❖ ❖

राजन! मिथिलापुरी नामक एक नगरी में गुणों के समूह से शोभायमान सम्यक्त्वरत्न से विभूषित व्रत-दानरूप कार्य और श्रुत के अर्थ का धारक जिनदत्त नामक श्रावक सेठ

प्रचुर द्रव्य का स्वामी था।

नृपवर! राजा यशोधर का घोड़ा जो जलावगाहन के समय भैंसे द्वारा मरण को प्राप्त हुआ था, वह जिनदत्त की गाय के उदर से दृढ़ और दीर्घ शरीर का धारी बैल हुआ।

कालान्तर में एक दिन जब वह बैल मरण के सन्मुख हुआ तब सेठ जिनदत्त ने उसे पंच नमस्कार मन्त्र सुनाया। उस बैल ने ध्यानपूर्वक णमोकार मन्त्र का श्रवण किया, जिसके फल में हे राजा मारिदत्त! तेरी रुक्मणी रानी के श्रेष्ठ गर्भ से पृथ्वीवलय में प्रतापधारी और शत्रुओं के मान का मर्दन करनेवाला रिपुमर्दन नामक पुत्र हुआ।

नृपवर! राम मन्त्री का छोटा पुत्र जो कि अपनी भाभी गन्धश्री के साथ व्यभिचार सेवन करता था, वह पापकर्म के योग से संसार समुद्र में गिरकर पापिष्ठ कूबड़ा हुआ। कुटिल चित्ता गन्धश्री व्यभिचाररूप कुत्सित कर्म से क्षीण शरीर धारी काल की कुटिलता द्वारा मरण को प्राप्त करके, विमलवाहन राजा की रानी के गर्भ से अमृतादेवी नामक पुत्री हुई। उसके यौवनारम्भ में दैवयोग से उसका यशोधर महाराज से पाणिग्रहण हुआ।

नृपश्रेष्ठ! वह अमृतादेवी जो कि पूर्वभव में गन्धश्री थी, उसने पूर्व संस्कार से भीम का जीव जो कि कूबड़ा हुआ, उसके साथ पुनः व्यभिचार सेवन किया।

राजन! अब तुम्हें यशोमति और अभयरुचिकुमार की कहानी कहता हूँ।

❖ ❖ ❖

राम मन्त्री जो कि मृत्यु प्राप्त कर विजयार्धगिरि पर उत्पन्न हुआ था, वह दिनकर तुल्य प्रताप का धारक, ब्रह्मचर्यपूर्वक अणुव्रतों का पालन करके समाधिमरण द्वारा शुभकर्म के योग से यशोधर राजा की रानी के गर्भ से यशोमति नामक वीर पुत्र हुआ।

राम मन्त्री की स्त्री जितशत्रु की माता, जो कि ब्रह्मचर्य के प्रभाव से विजयार्धगिरि पर चन्द्रलेखा नामक विद्याधरी हुई थी, वह धर्म सेवन करके अन्त समय में समाधिमरण द्वारा यशोमति राजा की रानी कुसुमावलि हुई।

सुभटों द्वारा रक्षित और तीक्ष्ण खुरों द्वारा चपल, पानी पीते हुए राजा के घोड़े को महिषेश्वर ने जैसे देखा कि तुरन्त ही क्रोध से भरकर घोड़े को मार दिया।

इस प्रकार मुनिराजश्री के वचन सुनकर महाराज मारिदत्त ने श्री मुनिराज को

नमस्कार करके पुनः पूछा—'स्वामिन! महिष ने राजा-तुरंग को किस कारण मारा?'

मुनिराज ने समाधान करते हुए कहा—'राजन! यह जीव पूर्व बैर के कारण एक-दूसरे का घात करते हैं। इन दोनों में पूर्व भव का बैर था अर्थात् घोड़े के जीव ने महिष के जीव का घात किया था। उसी पूर्व बैर के कारण महिष ने घोड़े को मारा है।

पृथ्वीपाल! ज्ञानीजन इसी कारण किसी जीव से बैर धारण नहीं करते, क्योंकि जो एक बार किसी का घात करता है, वह अन्य जन्म में उसके द्वारा स्वयं मृत्यु को प्राप्त होता है।

धरानाथ! जिस बैल के जीव को सेठ ने णमोकार मन्त्र सुनाया था, उसके प्रभाव से उस स्त्री के गर्भ से जन्म लेकर यौवनारम्भ में दिनकर समान प्रताप का धारक राजा होकर पृथ्वी का पालक तेरा पिता हुआ है।

राजन! ये तेरे पिता चिरकालपर्यन्त राज्यपालन करके, भगवान सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग के पथिक बनकर भगवती दीक्षा धारण करके घूमते-घूमते एक दिन तेरे नगर के श्रेष्ठ देवीगृह के निकट आये। वहाँ तप करते हुए निज चित्त में इस प्रकार वांछा करने लगे—'मैं तप के प्रभाव से इस देवी की विभूति को प्राप्त करूँ।'

नृपवर! उस मिथ्यादृष्टि ने निदान द्वारा अमूल्य रत्न को कोड़ी में बेच डाला अर्थात् मरकर मिथ्यात्व के योग से स्त्री की पर्याय में चण्डमारी देवी हुई।

तुम्हारी माता का जीव संसार में भ्रमण करके मिथ्यात्व के योग से यह भैरवानन्द हुआ, जिसे तूने बारम्बार प्रणाम किया और जिसकी आज्ञा से इस देवी के बलि चढ़ाने के लिये अनेक जीवों के युगल एकत्रित किये।

अब यह भैरवानन्द जो कि अधोमुख करके करुणारस से भरपूर हृदय से बैठा है, वह मृत्यु पाकर कल्पवासी देव होगा। राजन! उज्जैननगर का यशोवध नामक जगत प्रसिद्ध प्रजापालक था। वह षट्दर्शन का भक्त था। उसने अनेक कुदेवों के मठ बनाकर उनमें मूर्ति की स्थापना करके, अनेक तालाब बनाये, अनेक धर्मशालायें बनायीं। जिनमें सहस्रशः तपस्वियों को भोजन आदि सामग्रियों से तृप्त किया।

तदुपरान्त ऊँची ध्वजा और शिखरों से मण्डित रत्नखचित जिनराज के मन्दिरों की

भी उत्तम प्रकार से प्रतिष्ठा करायी, जैन साधुओं को आहारदान भी कराया और दु:खी जीवों को करुणा करके औषध-आहारादि दान भी किया तथा अनेक प्रकार की भोग क्रीड़ा करते हुए चिरकालपर्यन्त राज्यशासन करके, पश्चात् मरण के समय मिश्रभावना के योग से मृत्यु प्राप्त करके कलिंग देश के स्वामी महामद से मदोन्मत्त भगदत्त नामक महाराज की पत्नी से सुदत्त नाम का मैं पुत्र उत्पन्न हुआ।

सुदत्त नाम का मैं राजा, राज्यशासन करने लगा। एक दिन कोतवाल ने दृढ़ बन्धनयुक्त चोर को लाकर मेरे सन्मुख सभागृह में उपस्थित किया और नम्रतापूर्वक इस प्रकार विज्ञप्ति करने लगा—

'श्री महाराज की जय हो! आज यह चोर बहुत ही मेहनत से पकड़ा है, आप इसे योग्य दण्ड प्रदान करने की आज्ञा दें।'

सुदत्त महाराज अर्थात् मैंने कहा—'इस समय इस चोर को कारावास में स्थापित करो, बाद में विचार करके इसे दण्ड दिया जायेगा।'

इस प्रकार मेरी आज्ञा सुनकर कोतवाल, चोर को जेल में लेकर गया।

राजन! कोतवाल, चोर को ले गया, पश्चात् मेरे बाजू में बैठे हुए विद्वान ब्राह्मणों को मैंने पूछा कि इस दुष्ट चोर को क्या दण्ड देना उचित है ?

एक ब्राह्मण ने कहा—'हे महाराज! पहले इस चोर के पैर, कान, नाक, हाथ, काटना और फिर इसका मस्तक काटना चाहिए।'

दूसरे ब्राह्मण ने कहा—'पृथ्वीनाथ! यद्यपि इस चोर को यही दण्ड उचित है, तथापि ऐसा करने से आप पाप के भागीदार अवश्य होंगे। इसलिए इस पाप से मुक्त होने के प्रायश्चित्त का पहले ही विचार कर लेना आवश्यक है।'

अन्य ब्राह्मण ने कहा—'हे धरानाथ! यद्यपि इनका कहना सर्वथा सत्य है परन्तु राजनीति के विषय में ऐसा विचार नहीं किया जाता, क्योंकि यदि उसके अपराध के योग्य दण्ड न दिया जाये तो भी तुम पाप के भागीदार बनोगे, क्योंकि अपराधी को दण्ड देना राजनीति के अनुसार राजा का धर्म है और यदि अपराधी को योग्य दण्ड नहीं दिया जाये

तो समस्त प्रजा अन्यायरूप प्रवर्तन करने लगेगी।'

इस प्रकार विद्वान विप्रों की बात सुनकर राजा सुदत्त अर्थात् मैं, मन में विचार करने लगा—अहो! इस संसार में जो करो, उसमें पाप है। यदि दण्ड न दूँ तो पाप और यदि दण्ड दूँ तो भी पाप है। इसलिए समस्त पाप की जड़ यह राज्य ही है। इसलिए इस राज्य का जीर्ण तृण की भाँति त्याग करके दिगम्बर जिनदीक्षा धारण करूँगा।

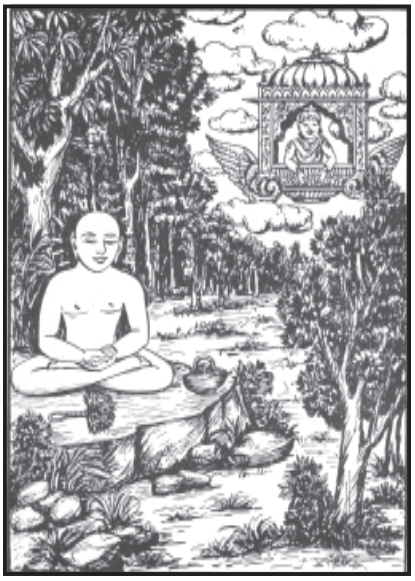

इस प्रकार विचार करके समस्त राज्य और परिवार आदि से ममत्व त्यागकर निर्जन वन में समस्त परिग्रह का परित्यागकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। तत्पश्चात् तीर्थ-क्षेत्रादि में पर्यटन करते हुए संघसहित अनेक बार इस नगर में आया।

तत्पश्चात् सुदत्ताचार्य ने भैरवानन्द से कहा कि 'अब तेरा आयुष्य अल्प अवशेष है, इसलिए तू अणुव्रतों का पालन कर।''

❖ ❖ ❖

भैरवानन्द ने संन्यास ग्रहण करके बाईस दिन तक चार प्रकार के आहार का त्याग किया और समाधिमरण करके तीसरे स्वर्ग में देव हुआ।

अभयरुचिकुमार क्षुल्लक ने भी उस समय क्षुल्लकपना त्यागकर जिनदीक्षा अंगीकार की।

अभयमति और कुसुमाबलि दोनों ने आर्यिका के व्रत धारण किये तथा चार प्रकार की आराधना का आराधन करके और बारह प्रकार का तप पन्द्रह दिन के संन्यासपूर्वक समाधिमरण करके दोनों प्राण त्यागकर दूसरे स्वर्ग में देव हुए। इस प्रकार सम्यक्त्व के बल से स्त्री लिंग का छेद करके देव हुए।

तत्पश्चात् श्री सुदत्ताचार्य, सिद्धगिरि पर्वत से समाधिमरण करके सातवें स्वर्ग में गये।

यशोमति राजा, कल्याणमित्र सेठ, अभय मुनि, मारिदत्त, गोवर्धन सेठ—ये सब संन्यास धारण करके, तप-आचरण करके सभी स्वर्ग में गये।

इस प्रकार यशोधरचरित्र पूर्ण हुआ।

यशोधरचरित्र की भवावलि

☛ वैदर्भ राजा और उनकी रानी विन्ध्यश्री

☛ उनका पुत्र गन्धर्वसेन और पुत्री गन्धश्री

☛ वैदर्भ राजा का मन्त्री राम और उसकी पत्नी चन्द्रलेखा

☛ राम मन्त्री के जितशत्रु और भीम दो पुत्र

☛ वैदर्भ राजा की पुत्री गन्धश्री का विवाह जितशत्रु के साथ हुआ।

☛ गन्धश्री अपने देवर भीम के प्रति आकर्षित हुई।

☛ राजा वैदर्भ मरकर यशोर्ध राजा हुआ।

☛ राजा वैदर्भ की रानी विन्ध्यश्री मरकर चन्द्रमति हुई।

☛ राजा यशोर्ध और रानी चन्द्रमति को यशोधर पुत्र हुआ।

☛ राजा यशोर्ध मरकर छठवें स्वर्ग का देव हुआ।

☛ जितशत्रु की पत्नी गन्धश्री मरकर अमृतादेवी हुई।

☛ जितशत्रु का छोटा भाई भीम मरकर कुबड़ा हुआ।

☛ राजा वैदर्भ का पुत्र गन्धर्वसेन-गन्धश्री का भाई मरकर राजा मारिदत्त हुआ।

☛ राम मन्त्री की पत्नी-जितशत्रु की माता मरकर चन्द्रलेखा हुई, वह मरकर यशोमति की (राम मन्त्री की) पत्नी कुसुमाबलि हुई।

☛ राजा यशोधर के पुत्र यशोमति का पुत्र अभयरुचि हुआ-अभयरुचि राजा यशोधर का जीव था।

☛ राजा यशोधर की माता चन्द्रमति मरकर कितने ही भव पश्चात् यशोधर के पुत्र यशोमति की पुत्री अभयमति हुई।

☛ राजा यशोधर मरकर कितने ही भव बाद अपने पुत्र यशोमति का पुत्र अभयरुचि हुआ।

राजा यशोधर मरकर क्या हुआ ?	माता चन्द्रमति मरकर क्या हुई ?	किसने किसे मारा ?
1. मोर	1. कुत्ता	1. कुत्ते ने मोर को, कुत्ते को यशोमति ने
2. नेवला	2. सर्प	2. परस्पर एक-दूसरे को
3. मत्स्य	3. शंशुमार जलचर	3. शंशुमार को यशोमति ने, मत्स्य को अमृतादेवी ने
4. उसी बकरी से बकरा	4. बकरी	4. बकरे को दूसरे बकरे ने, बकरी को यशोमति ने
5. अपने ही वीर्य से उसी बकरी का फिर से बकरा	5. भैंसा	5. भैंसा को यशोमति ने, बकरे को यशोमति ने
6. मुर्गा	6. मुर्गा	6. दोनों को यशोमति ने
7. अभयरुचि	7. अभयमति	7. मुनि आर्यिका हुए (किसी ने किसी को नहीं मारा)
8. स्वर्ग का देव	8. स्वर्ग का देव	8. भावी भगवान

आचार्यश्री जटासिंहनन्दी विरचित

वरांगचरित्र

इस विश्व में विनीत नामक एक देश था। वह अपने भोग-उपभोग की सम्पत्ति के कारण देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमि के समान प्रतीत होता था। उस देश में बड़े-बड़े ज्ञानी और उदार पुरुष निवास करते थे।

इस विनीत देश में सौम्याचल नामक पर्वत था, जिसके ऊँचे-ऊँचे शिखर हिमालय की समानता करते थे। ऐसे सौम्याचल पर्वत में से जगत् प्रसिद्ध रम्या नामक नदी निकलती थी। इस रम्या नदी के दक्षिण किनारे पर एक विशाल समतल भूमि खण्ड था। इसी समतल भू-खण्ड पर जगत् प्रसिद्ध रम्यातट नामक नगर बसा हुआ था। रम्या नदी के किनारे यह नगर बसने से ही इसका नाम रम्यातट प्रसिद्ध हुआ था, तथापि इस नगर की समृद्धि और विशेषताओं को देखकर कुशल पुरुषों ने इसका दूसरा नाम उत्तमपुर रखा था। इस नगर के दूसरे भी अनेक नाम इसके गुणों के कारण विख्यात थे।

इस उत्तमपुर के महाराज धर्मसेन विश्वविख्यात थे। वे विश्व-प्रसिद्ध भोजवंश में उत्पन्न हुए थे। धर्म, अर्थ और काम - तीनों पुरुषार्थों का मर्यादापूर्वक पालन करने और कराने में कुशल थे। उनके मन में यह विचार सदा चला करता था कि प्रजा का न्यायपूर्वक पालन-पोषण हो। उन्हें गुरुजनों की सेवा करने का व्यसन था। प्रमाद, अहंकार, मोह और द्वेष जैसे अवगुण उनके समक्ष आते ही नहीं थे। उन्हें सज्जनों और भली वस्तुओं के संग्रह का रोग था। वे मधुर भाषी होने के साथ-साथ निर्लोभी भी थे। साहसिकता और कार्यकुशलता उनके रोम-रोम में समाहित थी। वे अपने बन्धु-बान्धवों के परम हितैषी थे।

महाराज धर्मसेन के अन्त:पुर में तीन सौ रानियाँ थीं। वे सभी रानियाँ स्त्रियोचित लज्जा की मूर्ति थीं, विनम्रता और कुलीनता तो उनके रोम-रोम में व्याप्त थी। वे सभी रानियाँ अपने पति को प्रिय थीं और स्वयं भी पति से गाढ़ प्रेम करती थीं। सभी रानियों में

समानता होने पर भी, उन सबमें गुणवती रानी ऐसी चमकती थी कि जैसे तारों के मध्य चन्द्रमा सुशोभित होता है; उसका शरीर और मन परम पवित्र था।

प्रजापालक महाराज धर्मसेन के समस्त ही मनोरथ पुण्य के प्रताप से पूर्ण हो जाते थे। उनकी प्राणप्रिय श्रेष्ठ रानी गुणवती ने वरांग नामक पुत्र को जन्म दिया। कुमार वरांग के जन्म से ही माता-पिता को आह्लाद अन्तर में नहीं समाता था। राजपुत्र के शरीर पर अनेक शुभ लक्षण स्पष्ट दिखाई देते थे। किशोर अवस्था से ही वरांगकुमार सदा सच्चे देव की पूजा और मन-वचन-काया से गुरु का विनय करता था। कुमार वरांग लेख, व्याकरण, काव्य, संगीत इत्यादि समस्त कलाओं में पारंगत था। दिन-रात हाथी-घोड़े की सवारी और शस्त्र विद्या का अभ्यास करने में तल्लीन रहता था। छल-कपट, प्रमाद, अहंकार, लोभ आदि दुर्गुण उसमें नहीं थे। तदुपरान्त शिकार, जुआ, वैश्यागमन आदि सात व्यसनों को भी बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया था।

राजपुत्र वरांग के उदार गुणों का विचार करके तथा उसके सुन्दर शरीर और यौवन के प्रथम उन्मेष को देखकर एकाएक माता-पिता को विचार आया कि क्या कोई राजकुमारी वरांग के समान सुन्दर और शरीर से स्वस्थ होगी ? जिस समय राजा-रानी उक्त विचार में मग्न थे, उसी समय मानों वरांग के गुणों से प्रेरित होकर नगर का कोई सेठ राजमहल में आ पहुँचा। राजकुमार को देखकर उसका स्नेह प्रस्फुटित हो उठा।

सेठ ने महाराज धर्मसेन को प्रणाम करके कहा कि 'हे महाराज! समृद्धपुरी के एकछत्र राजा घृतिसेन अपरिमित वैभव और सम्पत्ति के अधिपति हैं। साथ ही जहाँ तक कुलीनता, स्वभाव, संयम, तेज, पराक्रम, विद्या, बुद्धि, धर्म, कर्तव्यपालन, न्याय और नीति का सम्बन्ध है, वे सब प्रकार से आपके समान ही हैं। महाराज घृतिसेन की अतुला नामक पटरानी है, उन दोनों के सुनन्दा नामक राजपुत्री है, जो कान्ति, कीर्ति, दया इत्यादि सब गुणों का भण्डार होने पर भी अत्यन्त विनम्र और शिष्ट है। ऐसा लगता है मानों देव कन्या ही पृथ्वी पर अवतरित हुई है।'

सेठ के अत्यन्त अर्थपूर्ण गम्भीर और मनोहर वचन सुनकर महाराज ने उसका यथायोग्य आदर-सम्मान करके विदाई प्रदान की। सेठ को विदा देकर राजा अपनी

मन्त्रशाला में गया। महाराज के बुलाने से अनन्तसेन, चित्रसेन, अजितसेन और देवसेन नामक प्रधान पण्डित मन्त्री मन्त्रशाला में पहुँच गये। सर्व प्रथम उनकी कुशलता पूछकर, तत्पश्चात् महाराज धर्मसेन ने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कहा—

'हे मन्त्रीवर! राजकुमार वरांग सर्व विद्याओं, व्यायामों, नीतिशास्त्र में पारंगत है। गुरुजनों और वृद्धजनों की सेवा में उसे अत्यन्त प्रेम है, वह कितना बुद्धिमान् और पुरुषार्थी है, यह आप लोग मुझसे अधिक जानते हैं। उसके साहस, वीरता, सेवापरायणता और सहानुभूति आदि सद्गुण तो ऐसे हैं कि उसे सम्पूर्ण पृथ्वी का एकछत्र राजा होना चाहिए। उसके अङ्ग-अङ्ग में से प्रस्फुटित सौन्दर्य का विचार करने पर वह दूसरा कामदेव हो - ऐसा लगता है। इसलिए अब अपने को उसके विवाह की चिन्ता करना चाहिए।'

मन्त्रीगण स्वयं भी राजपुत्र वरांग को पुत्र के समान प्रेम करते थे और आदरपूर्ण व्यवहार करते थे। महाराज के प्रस्ताव के अनुकूल सबने अलग-अलग अपनी सम्मति प्रस्तुत की। सभी मन्त्रियों की बात सुनने के पश्चात् राजा ने उनसे मिलने आये सेठ की बात कही। राजा की बात सुनकर सभी ने एकमत होकर महाराज घृतिसेन के नगर की ओर कुमार वरांग सहित प्रयाण किया।

महाराज धर्मसेन के चारों प्रधानमन्त्रियों ने महाराज घृतिसेन के पास जाकर कुमार वरांग के साथ उनकी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव रखा। महाराज घृतिसेन ने मन्त्रियों के कथन पर विचार करके तथा अपनी पुत्री की युवावस्था को दृष्टिगत रखकर, मन्त्रियों से कहा कि 'तुम कहते हो वैसा ही होगा।' तत्पश्चात् उन्होंने शीघ्र ही विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं।

समस्त ही धार्मिक एवं सामाजिक विधि-विधानों के विशेषज्ञ राजा ने घर की समस्त विधियों तथा संस्कारों को पूर्ण करके निर्धन और दु:खी लोगों को भरपूर दान प्रदान किया। तत्पश्चात् अपार सम्पत्ति और ठाठ-बाट से राजकुमारी को पालकी में बैठाकर महाराज घृतिसेन, उत्तमपुर की ओर रवाना हुए।

चन्द्रमा के समान सर्व प्रिय तथा प्रजा के हितैषी बड़े-बड़े अन्य राजा भी मानों वरांगकुमार के पुण्य से प्रेरित होकर अपनी-अपनी गुणवती और सुन्दर कन्याओं के साथ

उत्तमपुर की तरफ रवाना हुए। आठों दिशाओं से अनुक्रम से पुष्पमती, यशोवती, वसुन्धरा, अनंगसेना, प्रियपताका, सुकेशिका, विश्वसेना तथा प्रियकारणी उत्तमपुर जा रही थी। नगर सेठ धनदत्त भी अपनी पुत्री को लेकर आया था। वे समस्त राजकन्यायें स्वास्थ्य, सदाचार, शिक्षा आदि गुणों द्वारा समस्त प्रकार से महाराज घृतिसेन की राजपुत्री सुनन्दा के समान ही थीं और उसके समान ही उनका चरित्र उज्ज्वल और उदार था।

इसी अवसर पर महाराज धर्मसेन ने कुमार वरांग का युवराज पद-अभिषेक करने का निर्णय किया था। इसलिए उनकी आज्ञा से राजभवन के विशाल आँगन में 'कामकरण्डक' नामक अत्यन्त कलापूर्ण श्रीमण्डप का निर्माण किया गया।

कुमार वरांग, स्वभाव से ही इतने सुन्दर थे कि कोई भी व्यक्ति रूप और कान्ति में उनकी समानता नहीं कर सकता था। तथापि अभिषेक, विवाह आदि माङ्गलिक कार्यों के कारण उस समय उनके शरीर पर विविध लेप लगाया गया था, जिससे पूरा शरीर सौन्दर्य से दैदीप्यमान हो गया था, तत्पश्चात् उन्हें मङ्गल विधि के लिये सिंहासन पर बैठाया गया और उनका अभिषेक किया गया तथा उत्तम मुहूर्त में दशों ही राजकन्याओं का वरांगकुमार के साथ पाणिग्रहण कराया गया। विवाह के पश्चात् जिस प्रकार देवताओं का अधिपति इन्द्र ज्वाल्यमान मणियों की ज्योति से प्रकाशमान पर्वतराज सुमेरु पर जिस तरह आकाशचारिणी अप्सराओं के साथ गमन करता है, उसी प्रकार पृथ्वी के इन्द्र महाराज धर्मसेन का पुत्र वरांगकुमार अपनी प्राणबल्लभाओं के साथ उत्तम उद्यानों में तथा केलीवन में रति विहार करता था।

❖ ❖ ❖

एक बार भगवान श्री नेमिनाथ के प्रधान गणधर वरदत्त मुनिराज केवलज्ञान को प्राप्त होने के बाद वे उत्तमपुर नगर के मनोहर नामक उद्यान में पधारे। उनका आगमन होने पर उन्हें देखकर उद्यान के माली का चित्त गद्गद् हो गया। वह बिना विलम्ब किये शीघ्र ही महाराज को यह शुभ समाचार देने के लिये पहुँचा। माली द्वारा यह शुभ समाचार सुनते ही राजा धर्मसेन ने सम्पूर्ण नगर में इस सम्बन्धी घोषणा करा दी और स्वयं सम्पूर्ण परिवार के साथ जाकर वरदत्त केवली की प्रदक्षिणा करके उनके चरणों में नमन किया। प्रभु को

नमस्कार करने के पश्चात् हाथ जोड़कर अत्यन्त विनयपूर्वक महाराज धर्मसेन ने कहा 'हे महाराज! मुझे धर्मरूपी अमृत का पान कराओ।'

मनुष्यों में अधिपति श्री धर्मसेन द्वारा इस प्रकार निवेदन करने पर, संसार-दु:खों से तृप्त जीवों को कल्याणमार्ग का उपदेश देनेवाले ऋषियों के राजा श्री वरदत्त केवली ने श्रोता समूह पर अनुग्रह करके इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—

'जो भव्यजीव, जैनधर्म-शास्त्ररूपी जल को, मत्सर आदि दोषहीन सद्बुद्धिरूपी पात्र में आदरपूर्वक भर लेता है और परमश्रद्धा से पीता है, अर्थात् समझता है, वह जन्म-मरणरूप संसार महारणव को सरलता से पार करके मुक्त हो जाता है। इसलिए जो जीव अपने उद्धार के लिये व्याकुल हैं, उन सबको धार्मिक चर्चाओं का श्रवण और मनन करने में अपने रुचि को प्रयत्नपूर्वक बढ़ाना चाहिए, क्योंकि धर्म के तत्त्वों का सतत् अनुशीलन करके ही यह जीव जन्म-रोग-जरा-मरण आदि समस्त सांसारिक उत्पातों को जीतकर तीन लोक के लिये वन्दनीय हो जाता है।

इस संसार में समस्त प्रकार के भयों का भण्डार अज्ञान से बड़ा दूसरा कोई भय नहीं है। अज्ञान से बढ़कर दूसरा कोई अभेद्य अन्धकार इस पृथ्वी पर नहीं है। यह अज्ञान इस जीव के समस्त शत्रुओं का महाराजा है। कोई भी निमित्त हजारों प्रयत्न करके भी अज्ञान से अधिक दु:ख नहीं दे सकते।

जिस प्रकार महावत के अंकुश की संकेत न माननेवाला मदोन्मत्त हाथी प्राण के ग्राहक शत्रुओं की सेना में घुसकर अपने ऊपर बैठे हुए योद्धा के साथ व्यर्थ प्राण गँवाता है; इसी प्रकार ज्ञानरूपी अंकुश से रहित चित्तवाला जीव व्यर्थ में ही जन्म-मरण के दु:ख सहन करता है।

जिस प्रकार जंगल में चारों ओर से लगी हुई दावाग्नि से बचकर निकलने का प्रयत्न करता हुआ अन्धपुरुष फिर से उसी अग्नि में जा गिरता है; इसी प्रकार ज्ञान नेत्रों पर

अज्ञानरूपी कालिमा का गाढ़ आवरण पड़ जाने से यह जीव भी दु:ख ज्वाला में जा पड़ता है।

संसार में अत्यन्त प्रचलित इन सभी दृष्टान्तों को अपनी बुद्धिरूपी आँख से भले प्रकार परखकर सत्य श्रद्धा से युक्त सम्यग्ज्ञानी पुरुषार्थी जीव, दुर्द्धर तप किये बिना ही साधारण तपस्या करके ही अपने अन्तिम लक्ष्य क्षायिक सुख के सागर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

संसार में जिन जीवों का पुण्य क्षीण हो जाता है, उन पर कुमति का एकाधिकार हो जाता है और उन्हें मिथ्यात्व का उपदेश ही रुचिकर लगता है; इस कारण वे धर्माचरण और उत्तमभावों के रहस्य को समझ ही नहीं सकते। फलस्वरूप बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में पड़कर अनन्त काल तक दु:ख भोगते हैं। इसलिए जिन जीवों की सद्बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, वे जीव, धर्मों में सर्वश्रेष्ठ सत्य जिनधर्म का आश्रय करें कि जो त्रिलोक के सुख का सारभूत मोक्षसुख की प्राप्ति कराता है और दुराचारपूर्ण लौकिक मार्ग को छोड़ दें, जिसमें सत्य का नाम भी नहीं है।

जो जीव प्रतिसमय दूसरे की द्रव्य अथवा भावहिंसा में लगे रहते हैं; जिन्हें मिथ्या बोलने में जरा भी खटक नहीं होती; दूसरे का धन चुराना जिनकी आजीविका बन गयी है; दूसरों की स्त्रियों की प्रतिष्ठा और सतीत्व को भंग करना जिनका स्वभाव हो गया है; विपरीत श्रद्धा जिनके विवेक को ढँक देती है; अति अधिक आरम्भ और परिग्रह करना, जिनका व्यापार हो जाता है और जिनकी लेश्या-विचार तथा चेष्टा अत्यन्त कलुषित हो जाती है, ऐसे जीव नरक गति में जाकर दीर्घकाल तक दु:ख भोगते हैं।

स्पर्शन, रसना आदि पाँचों ही इन्द्रियों के अत्यन्त आकर्षक और सुखदायी जो स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द, ये पाँच भोग्य विषयों को प्राप्त करने के लिये जो लोग निर्दय और नीच कर्म करते हैं, वे लोग अपने दुष्कर्म और अधर्मों के भार से दबकर एकदम नरक में गिरते हैं।

जो लोग इस संसार में दूसरों की पत्नियों से अथवा अन्य स्त्रियों से संगम करने के लिये अधीर रहते हैं, वे मरकर जब नरक में पहुँचते हैं, तब वहाँ उपस्थित अन्य नारकी

तुरन्त ही उन पर विष मिश्रित लेप लगाते हैं, जिससे उसका सम्पूर्ण शरीर जलने लगता है। दूसरों की स्त्रियों से कामक्रिया करानेवाले को अथवा परस्त्री से निर्दयतापूर्वक सम्भोग करानेवाले को नारकी जीव ताम्र स्त्री बनाकर बलजोरी से उससे आलिंगन कराते हैं, जिससे उसका सम्पूर्ण शरीर जलने लगता है। इस प्रकार अतिशय दुःख सहन करना पड़ते हैं।

जो जीव, संसारी सम्पत्ति और भोग-विलास की सामग्री को प्राप्त करने के लिये आवश्यक समस्त ही कुकर्म अत्यन्त चाव से और तत्परता से करते हैं, वे जन्म-जन्मान्तरों में प्राप्त होनेवाले दुःखों का पार नहीं पाते और सुदीर्घ काल तक नरकगति में ही रहते हैं।

जो पुरुष इस भव में मन द्वारा संसार की समस्त विभूति तथा भोगोपभोग सामग्री के विषय में विचारशील रहता है और मानसिक परिग्रह की अभिवृद्धि करता है, वह मानसिक कल्पना का चक्रवर्ती ही सीधे नरक में जाता है, यह आश्चर्य की बात है!

पतंगा, भ्रमर, हिरण, मछली और मस्त हाथी, जो कि एक-एक इन्द्रिय-विषयों में अत्यन्त लम्पट होते हैं, तथापि परिणाम यह आता है कि अपने परमप्रिय विषय को प्राप्त किये बिना ही स्वयं नष्ट हो जाते हैं, तो फिर समस्त पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने से जीव का समूल नाश हो जाता है तो इसमें कौन-सी अतिशयोक्ति है!!

इन्द्रियों द्वारा पदार्थों का भोग करने से जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख शहद से लिपटी तलवार को चाटने के समान है! दश प्रकार के कल्पवृक्षों के कारण भोगभूमि में जो एकान्तिक सुख प्राप्त होता है, वह सुख भी विष मिश्रित मिष्ट पकवान के भोजन के समान है परन्तु अनादि काल से बँधे हुए आठ कर्मों के बँधन को खण्ड-खण्ड कर देने के कारण तीन लोक के चूड़ामणि के समान उन्नत स्थान पर जाकर विराजमान सिद्ध जीवों के अतीन्द्रिय सुख की, हे राजन्! कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती! अनुपम सुख है!'

इस प्रकार वरदत्त केवली के वचन सुनते ही कुमार वरांग का मिथ्यात्व नष्ट हुआ और सप्त तत्त्व की सच्ची श्रद्धा हुई। उसने हाथ जोड़कर भगवान से कहा—

हे प्रभु! मैं उग्र तपस्या में अडिग रह सकूँ, इतनी शक्ति मुझमें नहीं है। इसलिए मुझे

अनुव्रत प्रदान करने का अनुग्रह करें। आपकी असीम अनुकम्पा से मेरी अन्तरंग दृष्टि खुल गयी है; इसलिए कुमत और जीवन के पापमय मार्ग से मुझे पूर्ण घृणा हो गयी है। आज मुझे ऐसी दृष्टि प्राप्त हुई है कि जिसे मनुष्य तो क्या, परन्तु देव भी दूषित नहीं कर सकते। इसलिए मैं अपनी शक्ति अनुसार व्रत अंगीकार करता हूँ। हे प्रभु! मर्यादा की रक्षा करने के लिये किये जानेवाले युद्ध की हिंसा को छोड़कर अवशेष समस्त प्राणियों पर मुझे दयाभाव हो। हे प्रभु! दूसरे की हिंसा, असत्य या कटुवचन, दूसरे की सम्पत्ति का हरण, निष्प्रयोजन परिग्रह का संचय तथा अन्य की पत्नी का आलिंगन तथा उसके साथ के रति सुख का मैं आजीवन त्याग करता हूँ।'

कुमार वरांग भव्य थे, इसलिए वे स्वयं को धर्म मार्ग पर लगा सके थे। जैसे, अन्धे को आँख मिल जाये या भिखारी को खजाना मिल जाये तो उसे जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता कुमार वरांग को यह अनुव्रत धारण करने से हुई थी, क्योंकि आज तक ऐसे सुख की कल्पना भी उन्होंने नहीं की थी; ऐसा सुख जाना ही नहीं था। व्रतरूपी रत्नों को प्राप्त करने के बाद कुमार वरांग ने केवली भगवान को षाष्टांग प्रणाम किया और अन्य मुनिराजों की भी प्रदक्षिणा-वन्दना करके अपने महल की ओर प्रस्थान किया।

❖ ❖ ❖

इस प्रसंग के पश्चात् युवराज वरांग के जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। वे प्रातः उठकर सूर्योदय के पहले स्नानादि मंगल कार्य करके, अष्ट द्रव्य से भगवान की पूजा करने लग जाते थे। तत्पश्चात् गुरुओं और साधुओं की यथायोग्य विनय करके स्वाध्याय करने के लिए स्वाध्यायशाला में जाते थे। वहाँ जाकर भी शास्त्र-स्वाध्याय, चिन्तन-मनन, चर्चा इत्यादि करते रहते थे। अब उनका जीवन परिवर्तित हो गया था। उनका मन शास्त्रों के गूढ़ तत्त्व को समझने में ही लगा रहता था।

महाराज धर्मसेन जब राजसभा में लोगों को कुमार वरांग की सेवा परायणता, न्याय निपुणता इत्यादि उदार गुणों की प्रशंसा करते हुए सुनते थे, तब उनका मन / हृदय प्रसन्नता के पूर से डोल उठता था। महाराज अपने पुत्र के सुकर्मों को देखकर दिन-प्रतिदिन उसके प्रति अधिक से अधिक अनुरक्त होते थे। उनके मन का अभिप्राय जानकर उनके चारों ही

प्रधानमन्त्रियों ने राजा के समीप जाकर उनके समक्ष युवराज वरांग के राज्याभिषेक का प्रस्ताव प्रस्तुत किया तथा महाराज के सभी पुत्रों में युवराज वरांग ही यह राज्य सम्भालने योग्य है, ऐसा भी कहा। प्रधानमन्त्रियों का विचार सुनकर राजा ने सहर्ष उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया और राज्याभिषेक करने की तैयारी की आज्ञा प्रदान की।

कुमार के राज्याभिषेक के निमित्त से सम्पूर्ण नगरी का शृंगार किया गया। जब राज्याभिषेक का मंगल दिवस आया, तब राजा ने कुमार वरांग को अत्यन्त शोभायमान सिंहासन पर पूर्व दिशा में मुँह करके बैठाया और मस्तकाभिषेक किया तथा अपने सम्पूर्ण राज्य का तथा सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकार राजा वरांग को सौंप कर स्वयं निश्चिन्त हुए। कुमार के राज्याभिषेक से सम्पूर्ण राज्य आनन्दित था। मात्र उनके भाई जिन्हें राज्य प्राप्त नहीं हुआ था, वे अत्यन्त दु:खी हुए और वराङ्ग की बहुत निन्दा की। दूसरे राजकुमारों द्वारा समझाये जाने पर अधिक क्रोधित हुए और युद्ध करने हेतु तत्पर हो गये तथा कुत्सित वचन बोलने लगे। तब प्रधानमन्त्रियों ने उन लोगों को बहुत समझाकर शान्त किया।

संसार का यह सुविख्यात नियम है कि विशेष पुण्याधिकारी पुरुषों की सेवा और भक्ति उन लोगों को करना चाहिए, जिन लोगों ने पूर्व जन्म में पुण्यकर्म नहीं किया।

राजा वरांग का पुण्य विशाल था, उनकी कीर्ति दशों दिशाओं में दूर-दूर तक व्याप्त थी; इस कारण राजा वरांग ने पिता द्वारा विजित उस पृथ्वी का दिग्विजय करने का निर्णय लिया।

महाराजा धर्मसेन की पटरानी गुणदेवी अन्त:पुर की सौन्दर्य गुणों की खान अन्य रानियों सहित अन्त:पुर में विराजमान थी। उसी समय राजा द्वारा भेजे गये सेवक ने महारानी को उनके पुत्र वरांग के राज्याभिषेक की सूचना प्रदान की। पुत्र को राज्य प्राप्ति के समाचार सुनकर माता आनन्द विभोर हो गयी। जो व्यक्ति समाचार लेकर आया था, उसका महारानी ने वस्त्राभूषण द्वारा सम्मान किया। महाराज की दूसरी रानियाँ भी यह समाचार सुनकर प्रसन्न हुईं।

इन सभी रानियों में रानी मृगसेना राजा को अत्यन्त प्रिय थी। यह समाचार सुनकर वह क्रोध से इतनी खिन्न हो गयी कि उसने अपना मुँह नीचे कर लिया और वहाँ से उठकर

अपने प्रासाद में पहुँच गयी। अपने प्रासाद में आकर रानी ने अत्यन्त रुदन किया। उसने विचार किया कि संसार में ऐसा नियम है कि यदि बड़ा पुत्र सुयोग्य हो तो राज्य उसे प्राप्त होता है परन्तु ऐसा क्यों हुआ कि बड़ा पुत्र सुयोग्य होने पर भी, दूसरे पुत्र को राज्य क्यों दिया गया ?

रानी मृगसेना ने एकान्त में अपने पुत्र को बुलाकर कहा—'हे बेटा! वरांग को राज्य प्राप्त हो रहा है, इसकी सूचना तुझे ही प्राप्त कर लेनी चाहिए थी न ? अगर तुझे पता नहीं था और तेरी अपनी या राजा की शक्ति कम समझकर तू चुप रहा तो तेरे पुरुषार्थ और पुरुषत्व दोनों को धिक्कार है। जीवन के मोह में पड़कर जो व्यक्ति हीन पुरुषों के समान आचरण करने लगता है, शक्तिहीन होने के कारण जो पुरुष पराक्रम करना छोड़ देता है तथा जिसके बल और पराक्रम दूसरे लोग नष्ट कर देते हैं, उस मनुष्य को इस पृथ्वी पर जन्म धारण करने से क्या लाभ है ? मैं जब-जब गुणदेवी के सौभाग्य का विचार करती हूँ और उसके पुत्र की उत्कृष्ट विभूति और वैभव का विचार करती हूँ, तब-तब क्रोध की अधिकता से मेरा सिर फटने लगता है और अब इन प्राणों को मैं किंचित्मात्र भी रख सकूँ, ऐसा नहीं है।'

माता द्वारा उक्त प्रकार से लांछित होने से सुषेणकुमार ने कहा—'हे माता! मुझे इस बात का पता नहीं था, ऐसा नहीं है तथा हीन शक्तिवाला हूँ, ऐसा विचार करके भी मैं चुप नहीं रहा; यह सब मेरे पिताजी ने ही किया है - ऐसा जानने पर भी, मैंने तो उसी समय युद्ध करने के लिये तैयार होकर तलवार निकाल ली थी, तथा कितने ही कुमारों ने भी मेरा साथ दिया था परन्तु मुझे उस बूढ़े मन्त्री ने रोक दिया था।'

अपने पुत्र की बात सुनकर रानी मृगसेना ने अपने विश्वस्त मन्त्री को बुलाया। मन्त्री के आने पर पहले तो उसका बहुत आदर-सत्कार किया, पश्चात् साहसपूर्वक कहा—'मेरे माता-पिता ने तुम्हें हमारी सेवा के लिये यहाँ भेजा था और समय आने पर तुमने ऐसी सहायता की भी है परन्तु जिस वृक्ष को तुमने इतनी चिन्ता और परिश्रम से बड़ा किया है, अब उस वृक्ष को ही कैसे काटते हो ? अगर यदि हम तुम्हारी दृष्टि में शुद्ध हैं, अगर यदि हम तुम्हारे शुद्ध पक्षपाती हों, अगर हमारे परिजनों और मित्रों ने यदि तुम पर

कभी कोई उपकार किया हो तो तुम इस वरांग के स्थान पर सुषेण को राज्यसिंहासन पर आसीन करा दो।'

मन्त्री की बुद्धि प्रखर होने के साथ ही सत्पथगामिनी थी, इसलिए रानी के नीति और न्याय से प्रतिकूल ही नहीं, अपितु सर्वथा युक्तिहीन वचन सुनकर भी उसके मन में किसी भी प्रकार के पक्षपात की भावना जागृत नहीं हुई। वह अत्यन्त दूरदर्शी था, इसलिए उसने रानी के वचन पर बहुत देर तक मन में ही विचार किया; तत्पश्चात् उसने कहा—'जो व्यक्ति पुण्यात्माओं का नाश करना चाहता है, वह सबसे पहले अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक स्वयं इस संसार में नि:शेष हो जाता है। जिस व्यक्ति के भाग्य से लक्ष्मी उतर गयी है, उसे प्रयत्न करके भी उच्च पद पर नहीं बैठाया जा सकता। इसी प्रकार जिसकी लक्ष्मी पुण्य और पुरुषार्थ के कारण बढ़ रही है, उसकी प्रतिष्ठा और पद का नाश करना सम्भव नहीं है। जिसके पल्ले में बुद्धि नहीं है, उसके द्वारा विचारित योजना निश्चय से विनाश के उदर में समा जाती है। इससे हम सभी का हित और कल्याण इसी में है कि हम राजा वरांग की शरण में रहकर शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करें।'

मन्त्री के द्वारा इतना सब समझाये जाने पर भी रानी ने अपनी बात का परित्याग नहीं किया और मन्त्री को अकार्य करने के लिये मजबूर किया। मन्त्री ने रानी के पिता के साथ अपने सम्बन्धों का विचार करके रानी से कहा—'यदि सुषेण का पुण्य अभी अवशेष होगा तो वह राज्य-सिंहासन पर तो अवश्य बैठेगा। मैं आज से ही प्रयत्न प्रारम्भ कर देता हूँ'—ऐसा कहकर बहुत देर तक मन्त्री ने एकान्त में रानी मृगसेना और सुषेणकुमार के साथ मन्त्रणा की। अब, मन्त्री की एक ही अभिलाषा थी कि कुमार सुषेण राजगद्दी पर विराजमान हों और वरांग के राज्य का शीघ्रातिशीघ्र पतन हो जाये। इसलिए अब उठते-बैठते, चलते-सोते आदि समस्त अवस्थाओं में वरांग के राज्य के दुर्बल और दूषित अंगों को ढूँढ़ने में मन्त्री स्वयं ही पूरा समय व्यतीत करता था।

इस प्रकार बहुत समय बाद मृगति के एक छत्र अधिपति ने युवा राजा वरांग के लिये दो श्रेष्ठ घोड़े भेजे। उन दोनों की जाति तथा अवयव उन्नत और शुभ थे। उनकी अवस्था भी अभी उस समय किशोर थी, दोनों का रूप अत्यन्त आकर्षक था। घोड़े में

जितने भी शुभ लक्षण हो सकते हैं, उन सबका तो वे निवासभूमि ही थे। जब राजा ने इन दोनों किशोर घोड़ों को देखा, तब एकाएक वह बोल उठा कि इन दोनों किशोरों को कौन अच्छी तरह शिक्षित कर सकता है ?

राजा के यह शब्द सुनकर मन्त्री को अपना षड्यन्त्र करने का अवसर प्राप्त हो गया। उसने खड़े होकर कहा कि 'यदि कोई मुझसे अधिक उत्तम प्रकार से इन किशोर घोड़ों को शिक्षित कर सके, ऐसा हो तो मैं उसके साथ रहकर घोड़ों को शिक्षित करूँगा और देखूँगा कि कौन शीघ्र घोड़ों को शिक्षित करता है ?' मन्त्री के ऐसे उत्सुकतापूर्ण वचन सुनकर राजा ने उसे वे दोनों घोड़े सुशिक्षित करने के लिए सौंप दिये, क्योंकि सब जानते थे कि इस मन्त्री से अधिक सर्व शास्त्रों में पारंगत कोई दूसरा नहीं है।

मन्त्री ने विधिपूर्वक चार माह तक दोनों घोड़ों को पालतू बनाकर शिक्षित किया। एक घोड़े को शुभगति तरफ आदि न्याययुक्त शिक्षा देकर सर्वथा उपयोगी बनाया तथा दूसरे को छलकपट करने का अभ्यास कराकर भयावह बना दिया। इस प्रकार दोनों घोड़ों को शिक्षित करने के बाद एक दिन घोड़ों को लेकर वह राजा के समक्ष उपस्थित हुआ। नगर के बाहर एक विशाल वृत्ताकार क्रीड़ाक्षेत्र था, वहाँ राजा और प्रजा नव घोड़ों का कौशल देखने के लिए एकत्रित हुए। सबके समक्ष मन्त्री वहाँ सीधे घोड़े पर सवार होकर अलग-अलग चाल चलाता था। उसे देखते ही युवा राजा का चित्त उन घोड़ों में मुग्ध हो गया। राजा वरांग, घोड़े की चाल इत्यादि क्रियाओं में इतने निपुण थे कि उस विषय में कोई दूसरा उनकी समानता कर ही नहीं सकता था।

राजा वरांग, घोड़ों की शिक्षा से परम सन्तुष्ट हुए - ऐसा जानकर मन्त्री ने कहा— 'हे महाराज! यह दूसरा घोड़ा, इस प्रथम घोड़े से भी अधिक विशिष्ट है और वह आपके ही सवार होने योग्य है'—ऐसा कहकर मन्त्री ने उस कुशिक्षित घोड़े को युवा राजा वरांग के समीप लाकर उपस्थित कर दिया।

भवितव्य ऐसा ही था, जिससे घोड़े पर आरूढ़ होने की तीव्र अभिरुचि के कारण अथवा यौवन में सुलभ आत्मगौरव की भावना के कारण ही युवराज वरांग ने उस कुशिक्षित घोड़े की परीक्षा करना आवश्यक नहीं समझा और उसी समय उस घोड़े पर

सवार होने के लिए उद्यत हो गये और तुरन्त ही सवारी के लिये अनुपयुक्त वेशभूषा में ही विधिपूर्वक चढ़ गये। आश्चर्य की बात यह है कि उन्होंने तुरन्त ही शीघ्रता से उसे चलाना प्रारम्भ कर दिया। घोड़े को तो कुशिक्षा दी गयी होने से उसे रोकने के लिए जैसे बारम्बार घोड़े की लगाम खींचे, वैसे-वैसे वह क्रोध से युक्त होकर उद्दण्ड होता जा रहा था। अतः उस पर नियन्त्रण रखना भी असम्भव होने लगा।

कुछ ही देर में घोड़े की गति पवन समान तीव्र हो गयी, जिससे वह धनुष से छोड़े गये बाण की भाँति बहुत दूर निकल गया। मन्त्री की कुशिक्षा ने घोड़े को इतना अधिक दुष्ट बना दिया था कि अश्वचालन में कुशल राजा वरांग जैसे-जैसे उसे वापस मोड़ने की मेहनत करते, वैसे-वैसे वह घोड़ा अत्यधिक क्रोधित होकर अपनी गति किंचित् भी नहीं घटाता था। मन्त्री ने इस घोड़े को विपरीत आचरण करने की ही शिक्षा दी थी, उसे रोकने के लिए राजा जितनी मेहनत करे, वह उतनी ही शीघ्रता से भागता था। मार्ग में अनेक गाँव, खेत, नगर, राज्य आदि आये, उन्हें शीघ्रता से पार करके किसी अज्ञात देश में वह उसी प्रकार पहुँच गया, जिस प्रकार ऊपर की ओर फेंका गया जल नीचे आता है।

इस ओर उसे बेरोक भागता देखकर उसका पीछा करने के लिये कितने ही अत्यन्त वेगवाले घोड़े उसके पीछे दौड़ाये गये परन्तु वे भी उसे उसी प्रकार से पकड़ नहीं सके, जिस प्रकार वेग से झपट्टा मारकर उड़नेवाले गरुड़ को आकाश में सभी पक्षी मिलकर भी नहीं रोक सकते। वह दुष्ट घोड़ा ऊँचे-नीचे मार्गों में, झाड़ियों में, जंगल में अत्यन्त वेग से चला जा रहा था, जिससे वरांग का मुकुट तथा उसके शरीर के आभूषण गिर गये। उसका हृदय विषाद से भर गया। पूरा शरीर आवेग से काँपने लगा और गला सूख गया।

इतनी देर तक घोड़े की अत्यन्त तीव्र गति को सहन करने के कारण राजा की शक्ति धीरे-धीरे न्यून होने लगी और पराक्रम तथा पुरुषार्थ भी शिथिल पड़ गये। अन्ततः घास से ढँके हुए एक कुएँ में दोनों जाकर गिरे। अपने पूर्वकृत अशुभकर्म के उदय से कुएँ में गिरते ही घोड़ा मर गया परन्तु युवक राजा ने पहले ही किसी बेल को पकड़ लिया, जिससे मृत्यु से बच गया और धीरे-धीरे कुएँ से बाहर निकल आया, परन्तु बाहर निकलते ही अत्यन्त कठोर स्थल पर मूर्च्छित होकर गिर गया। थोड़ी देर बाद जंगल की शीतल वायु

के कारण थकान उतरने से होश में आकर अपनी हालत देखकर संसार की अस्थिरता की निन्दा की।

जब उसे अपने पूरे परिवार का स्मरण हुआ तो हृदय दु:ख से भर गया और विलाप करने लगा परन्तु तुरन्त ही उसका स्वमान जागृत हो उठा कि वह राजपुत्र है। पहले तो मन्त्री का छल याद करके अत्यन्त क्रोधित हुआ परन्तु संसार की अस्थिरता देखकर वैराग्य हो गया। फिर हिम्मत करके दिशा का भान न होने पर भी धीरे-धीरे चलने लगा। थोड़ी देर पश्चात् देखता है कि एक बाघ उसका पीछा कर रहा है और वह अत्यन्त निकट आ गया है, तब तुरन्त ही वह अतिशीघ्रता से एक वृक्ष पर चढ़ गया और पूरी रात्रि उस वृक्ष पर ही अत्यन्त कष्ट से व्यतीत की।

वियोग का शोक और भविष्य की चिन्ताओं से राजा वरांग उदास था। भूख और प्यास से अत्यन्त व्याकुल हो गया था। वृक्ष पर ऐसी विषम परिस्थिति में एक रात बिताने पर उसे लगा कि कितनी रात्रियाँ व्यतीत हो गयीं। वह बाघ भी उसके माँस के लोभ से पूरी रात वहाँ से अन्यत्र नहीं गया। उसी समय राजा वरांग ने देखा कि एक जंगली हाथी, हाथिनी के साथ जा रहा था। उसने विचार किया कि यदि यह हाथी यहाँ आवे तो बाघ के साथ युद्ध हो और मैं यहाँ से निकल सकूँ, ऐसा विचार कर उसने हाथी को ललकारा। मनुष्य की ललकार सुनकर हाथी क्रोधित होकर उस ओर आने लगा। हाथी को इस ओर आता देखकर बाघ अत्यन्त क्रोधित हुआ और उछलकर हाथी के गण्डस्थल पर पंजा मारा। इस प्रकार बाघ से घायल होते हाथी का क्रोध भी चरम सीमा पर पहुँच गया; इसलिए उसने बाघ को नीचे गिराकर दाँत से मार डाला। बाघ को मारने के बाद हाथी भी दूसरी ओर चला गया।

एक बड़ा संकट टलने से राजा को बहुत सन्तोष हुआ। भूख के कारण राजा की दुर्वस्था हो रही थी और प्यास के कारण भूख से भी अधिक व्याकुल हो गया था; इसलिए वह पुरुषार्थी राजा तुरन्त ही पानी की शोध में निकल पड़ा। हाथी के चलने से जो मार्ग बना था, वह मार्ग पकड़कर राजा वरांग चलने लगा। थोड़ी दूर जाकर एक तालाब दृष्टिगोचर हुआ। विवेकी राजा ने तालाब के पास जाकर पहले अपने हाथ-पैर धोये और तत्पश्चात्

कमल के पान से पानी पीकर अपनी तृषा शान्त की। एक समय था कि जब राजा वरांग अपने महल में सोने-चाँदी के पात्र में सुगन्धित और शीतल, अप्सरा समान युवतियों के हाथ से दिया गया जल, जितना चाहिए उतना पीता था और एक समय अभी का है कि उसी राजा ने ऐसा पानी पिया कि जिसमें सिंह, बाघ आदि की लार और हाथियों का मदजल होने के उपरान्त अप्रासुक और अनछना भी था।

आज राजा पथरीली जमीन पर नंगे पैर चले जा रहे थे, उनके समक्ष कोई मार्ग ही नहीं था। पुण्य कर्म के उदय से जिस राजा को पहले पाँच इन्द्रिय के भोग्यविषय परिपूर्ण मात्रा में प्राप्त होते थे, वही पुण्य-कर्मों की फलदान शक्ति रुक जाने से, वह राजा वरांग आज एक इन्द्रिय को शान्त करने में भी असमर्थ था।

राजा वरांग जैसे अतुल और असीम वैभव तथा प्रभुता के स्वामी का, कि जिसका प्रताप सूर्य के समान सम्पूर्ण विश्व को आक्रान्त कर देता हो, पूर्व पुरुषार्थ (पुण्य) के नष्ट हो जाने से उसकी भी जितनी सम्पत्ति होती है, क्षणभर में लुप्त हो जाती है, तो फिर सामान्य मनुष्य का तो कहना ही क्या, कि जो सर्वथा दूसरे की आज्ञा का पालन करने में तत्पर रहते हैं। दिन-रात हजारों प्रकार के क्लेश भोगते हैं तथा जिनकी आजीविका के साधन अत्यन्त निकृष्ट हैं!!

युवक राजा ने पानी पीकर अपनी प्यास बुझायी और शारीरिक थकान को भी दूर करने के लिये स्नान करने का निर्णय किया। स्नान करने के लिये वह राजा धीरे-धीरे तालाब में उतरा। तालाब में उतरकर राजा ने अपने शरीर को रगड़-रगड़कर अपनी इच्छानुसार पूर्ण स्नान किया। तत्पश्चात् राजा को तालाब के मध्य जाकर तैरने की इच्छा हुई। अपने पूर्वकृत कर्म का फल वहाँ इसरूप में मिलना होने से भवितव्यता की प्रेरणा से उसने तालाब के अगाध पानी में तैरना शुरु किया। तालाब में बहुत समय तक तैरने के पश्चात् जब राजा बाहर निकलने का विचार कर वापस मुड़ा कि तुरन्त ही मगर ने उसका पैर अत्यन्त जोर से अपने मुँह में पकड़ लिया। उसने अपना पैर छुड़ाने की बहुत मेहनत की परन्तु छुड़ा नहीं सका।

राजा वरांग विचार करने लगा कि किसी उपाय से महा कठिनाई से बाघ का

भय दूर हुआ, वहाँ यह दूसरी विपत्ति कहाँ से आ पड़ी ? पूर्व भव में बाँधे हुए शुभ या अशुभ कर्मों का फल जीव को कहीं छोड़ता नहीं है। भले फिर वह अपने राज्य में रहे या अपना राज्य परित्यागकर बाहर चला जाये! चाहे तो धरती पर ही एक स्थान से दूसरे स्थान में भागता फिरे या मित्रों और सम्बन्धियों से घिरा हुआ रहे! चाहे तो आकाश में उड़ जाये या बहुत मजबूत तालाब घर में छुप जाये! कर्मों के फल की अटलता की ऐसी विधि है कि किसी भी कारण या योजना से उनका प्रतिकार नहीं हो सकता।

मगर से बचना अशक्य लगने से, उसने बारह भावनाओं का चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। उसने अपना चित्त शुभध्यान में लगाया और पंच परमेष्ठी को नमस्कार करके उनकी स्तुति करने लगा। ऐसा चिन्तन-मनन-स्तुति करते हुए उसके चेहरे पर किंचित् भी आकुलता दिखायी नहीं देती थी।

महाराज वरांग अपने उपयोग को बदलकर अपने आत्मा का चिन्तवन करने लगे। वे विचारने लगे कि इस मगर के मुँह में से छूटकर मेरा बचना या मरना निश्चित ही है। मैं व्यर्थ ही आकुलता करके नवीन कर्म का बन्ध करता हूँ। क्रमबद्ध में होगा तो मैं बचूँगा और मरना होगा तो मरूँगा ही, उसमें कोई कुछ नहीं कर सकता। यदि मेरा बचना निश्चित होगा तो कोई देव आकर भी मुझे मदद करेगा। अभी राग की उपस्थिति होने से राजा वरांग बचने के लिये मेहनत करते थे परन्तु साथ ही साथ विचार करते थे कि मैं तो भगवान पूर्ण परमारत्मा वर्तमान में ही हूँ। मुझे और इस शरीर को कुछ सम्बन्ध ही नहीं तो अन्य से तो क्या सम्बन्ध!! अरे! केवली भगवान तो कहते थे कि यह जो रागादि विकारी पर्याय है, उसका भी मैं कर्ता नहीं! अरे, कर्ता तो नहीं परन्तु वास्तव में तो रागादि विकारी पर्याय का ज्ञाता भी नहीं!!! मैं तो मात्र मेरे ज्ञान को ही जानता हूँ। मैं ही ज्ञान, ज्ञाता, और मैं ही ज्ञेय हूँ - तो फिर इस मगर द्वारा मुझ पर उपसर्ग तो कोई वस्तु ही नहीं है। मगर को यह शरीर चाहिए और मुझे मेरा आत्मा चाहिए, तो फिर भले वह इस शरीर-जड़ पुद्गल को ले जाये!

❖ ❖ ❖

अत्यन्त सरल और शुद्ध अन्त:करण से जब राजा वरांग इस प्रकार आत्मस्तुति कर रहे थे, तब अकस्मात ही उनके पूर्व पुण्य के उदय से और आयुकर्म अवशेष होने से किसी

यक्षिणी की दृष्टि उन पर पड़ी। कठोरतम विपत्ति में पड़े हुए तथा सब प्रकार से विवश होने पर भी अपने पुण्य को धारण कर रखे हुए राजा को देखकर उसकी महिलासहज करुणा उमड़ पड़ी और प्रत्यक्ष दर्शन दिये बिना उस मगर के मुख में से वरांग का पैर छुड़ाया। मगर के मुख में से पैर छूटते ही वह तुरन्त तालाब के बाहर आया, पंच नमस्कार मन्त्र का उच्चारण किया और चारों ओर देखने लगा कि मुझे किसने बचाया है ? परन्तु किसी को निकट न देखकर विचार किया कि **भवितव्यता बलवान है!**

राजा जब उक्त प्रकार से विचार कर रहा था, तब उसे बचानेवाली देवी उस पर प्रसन्न होकर सूक्ष्मरूप का त्याग करके अपने मूलस्वरूप में वरांग की परीक्षा करने के लिये उनके सन्मुख उपस्थित हुई। उसकी सुन्दरता का वर्णन करना अशक्य है, उसकी सुन्दरता अनुपम थी, उसने वरांग के समीप आकर कहा कि—'हे आर्य! मैं जानना चाहती हूँ कि तुम कहाँ से आये हो ? यहाँ रहने में क्या प्रयोजन है अथवा यहाँ से तुम कहाँ जाओगे ? यदि तुम्हें कोई बाधा न हो तो इन प्रश्नों का उत्तर प्रदान करो।'

जिसके निर्दोष और पूर्णरूप के साथ संसार का अन्य कोई सौन्दर्य स्पर्धा न कर सके - ऐसी रूपवती को देखते ही युवक राजा गम्भीर विचारधारा में खो गया। उसने विचार किया कि क्या यह रूपराशि किसी देव की प्राणप्रिया है ? मनुष्य है ? अथवा किसी राक्षसी ने मनुष्य का रूप धारण किया है ? सिंहादि हिंसक प्राणियों से भरपूर ऐसे जंगल में निडर और नि:शंक होकर घूमती है, यह कौन होगी ? यह अचानक कहाँ से आ गयी ? यह किसकी पुत्री या पत्नी होगी ? इसकी एक-एक बात में शंका उत्पन्न होती है।

ऐसी परिस्थिति में उस स्त्री ने राजा से कहा कि—'हे आर्य! मैं एक विशाल राज्य के अधिपति की सन्तान हूँ। मेरा पूर्वपुण्य समाप्त हो गया है, इसलिए सब ही भूलकर और सब ही खोकर इस निर्जन वन में अकेली रहती हूँ। पूर्व जन्म में कोई पुण्य किया होगा,

जिसके प्रताप से इस अटवी में भटकते हुए मुझे यहाँ आपके दर्शन हुए। क्या कहूँ, आपको देखते ही मेरा मन और शरीर आपके वश हो गये हैं। मैं अत्यन्त दु:खी हूँ। संसार में मुझे अन्य कोई सहारा नहीं है; इसलिए मुझे स्वीकार करो। मैंने इतने दारुण दु:ख सहन किये हैं कि एक प्रकार से मेरी चेतना ही नष्ट हो गयी है। मेरा कोई ठिकाना नहीं और मैं मेरी विपत्तियों का सामना नहीं कर सकती। अब आप ही मुझे शरणदाता हो। मेरा उद्धार आप ही कर सकते हो।'

उस स्त्री को देखते ही ऐसा लगता था कि वह विविध ज्ञान और सकल कलाओं में पारंगत हो, साथ ही साथ वह इतनी ढीठ थी कि उत्तर न मिलने से वरांग को बारम्बार हिलाती थी। उसके बलवान स्पर्श के कारण और अपने बाल तथा शरीर की रुक्षता और वस्त्रों की दुर्दशा देखकर वरांग शर्म से नम गया था, तथापि शर्माते हुए थोड़ा बोला कि—'हे आर्य! तुम्हारे प्रिय वचन निश्चय से मेरे लिये सुभाषित हैं; इसलिए ग्रहण करने योग्य हो सकते हैं, परन्तु तुम यह भी जानती हो कि प्रिय वाक्य की तरह सत्य वचन ही शोभा पाते हैं। तुम देखती हो कि वर्तमान में यहाँ मेरे निर्वाह का ही कोई मार्ग नहीं; इसलिए हे आर्य! मैं तुम्हारा सहारा किस प्रकार बन सकता हूँ, यह तुम्ही बताओ! जो व्यक्ति जागृत हो, वह दूसरे को जगा सकता है अथवा जो स्थिर हो, वह दूसरे की डगमग अवस्था का अन्त कर सकता है परन्तु जो स्वयं सो रहा हो, वह दूसरे को किस प्रकार जगाये अथवा जिसकी स्वयं की स्थिति डाँवाडोल हो, वह दूसरे को किस प्रकार स्थिर करे?'

युवक राजा वरांग का ऐसा उत्तर सुनकर वह बोली कि—'हे आर्य! तुम्हें ऐसा प्रत्युत्तर देना शोभा नहीं देता। ऐसी बातें तो वे ही करते हैं कि जो कपुरुष हों अथवा जिनकी सभी अभिलाषाएँ तथा प्रेमपिपासाएँ शान्त हो गयी हों। मैं तुम्हारी शरण में आयी हूँ और तुम्हारे प्रति अतूट भक्ति रखती हूँ; इसलिए मेरा स्वीकार करो।'

कुमार वरांग का यौवन चढ़ाव पर ही था तथा सुन्दर सुभग तो वह था ही; तदुपरान्त सामने खड़ी सुन्दरी के प्रिय वचन भी काम को जगानेवाले थे, तथापि उन्हें सुनने से राजकुमार को अपनी पत्नी में ही रति केन्द्रित करनेवाला 'स्वदार सन्तोष व्रत' ग्रहण किया था, वह स्मरण आया। फलस्वरूप कुछ देर विचार करके राजा ने उससे कहा कि—'हे

आर्य! आज से थोड़े समय पूर्व मुझे परमपूज्य केवली के दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ था। उस समय मैंने अनेक मुनियों के समक्ष 'स्वदार सन्तोष व्रत' ग्रहण किया था। यह व्रत मनुष्य के कामाचार को नियन्त्रित करके, उसे समाधि की ओर ले जाता है। मैं कामी नहीं, यह बात नहीं तथा पुंसत्व से रहित भी नहीं तथा तुम्हारे विषय में विचार करूँ तो हे सुन्दरी! तुम कमनीय युवती नहीं–ऐसा तो विचारा ही नहीं जा सकता। सत्य तो यही है कि मैं स्वादारसन्तोष व्रत से भूषित हूँ और तुम तो जानती हो कि किसी भी व्रत को ग्रहण करके तोड़ना कितना नीच काम है?'

यह सुनकर देवी प्रसन्न हुई और उसे विश्वास हो गया कि युवक राजा की बुद्धि स्थिर है और ग्रहण किये हुए व्रत को पालन करने में अत्यन्त दृढ़ है। पश्चात् उसने अपना वास्तविक स्वरूप प्रगट किया और वरांग की परीक्षा की थी, उसके लिये क्षमायाचना की। वरांग की बहुत प्रशंसा करके वह अचानक आकाश में अदृश्य हो गयी।

❖ ❖ ❖

इस प्रकार युवक राजा वरांग दो भय–संकट से बचे थे, तथापि अभी यह प्रश्न खड़ा ही था कि अब जाना कहाँ? करूँ तो क्या करूँ? बहुत विचार करके वहाँ से आगे चल निकले। मार्ग में आगे बढ़ने पर बीच में कोई खानेयोग्य फल खाकर अपनी भूख मिटायी। अपने जीने के ध्येय को सार्थक करने के लिये वे आगे–आगे चले जा रहे थे और उस हालत में उनका एकमात्र साथीदार उनके दो हाथ थे।

❖ ❖ ❖

आगे जाने पर युवक राजा वरांग को पुलिंद जाति के वनवासियों ने देखा। अत्यन्त डरावने हजारों की संख्या में वे चले जा रहे थे। वरांग को देखते ही उन्होंने अपने डण्डे, तलवार, धनुष–बाण हाथ में लेकर उसे चारों ओर से घेरकर बाँध लिया। वे वरांग को बाण की अणी मारते–मारते अपने निवास में ले गये। वहाँ पहुँचकर वरांग को उनके राजा की झोपड़ी पर ले गये। उस झोपड़ी के चारों ओर हाथी के दाँत की बाड़ थी, हिरणों के टुकड़े, माँस तथा लाशों से भरी पड़ी थी। बैठने के मण्डप में चर्बी, अँतड़ियाँ आदि फैले हुए पड़े थे, जिनमें से ऐसी दुर्गन्ध आ रही थी कि जिसे क्षण भर के लिये दूर से सूँघना भी असम्भव

था। दुराचारी, निर्दय, भीलों से दु:ख प्राप्त करते बन्धन में पड़े हुए तथा शारीरिक वेदना के कारण अत्यन्त व्याकुल युवक राजा घोर घृणा को उत्पन्न करनेवाले तथा आँखों में शूल समान चूभते इस झोंपड़े में रखे गये।

युवक राजा वरांग विचार करते हैं कि फल को जाने बिना पापमय प्रवृत्ति में लिप्त मेरे द्वारा पूर्वजन्म में कैसे अशुभ कर्म हुए होंगे कि जिनका उदय होने पर इतने कटुक फल प्राप्त होते हैं, कि जिससे मुझ पापी को आज भी संकटरूपी घातक और उन्नत लहरों से व्याप्त इस दु:खरूपी समुद्र से छुटकारा नहीं मिलता। कुत्सित तथा पापमय कर्मों का आचरण कितना दु:खद और भयंकर है ? कुकर्मों का अन्त सदा खराब ही होता है। भगीरथ प्रयत्न करने पर भी उन्हें टाला नहीं जा सकता, क्योंकि उनकी शक्ति ही ऐसी है कि जिसका कोई प्रतिरोध नहीं किया जा सकता।

जिस स्थान में उसे बन्दी बनाकर रखा गया था, वह स्थान केवल अन्धकार से ही बनाया ज्ञात होता था। उसके समस्त कोनों में चमड़ा ही भरा हुआ था। जिसमें से सड़ी हुई दुर्गन्ध आ रही थी। विविध प्रकार के कीड़े-मकोड़े और मच्छर का तो अक्षय भण्डार था। तदुपरान्त भूख से शरीर टूट रहा था, अपमान की ज्वाला शरीर को जला रही थी, रस्सी का बन्धन अंग-अंग में जलता था, स्थान की गन्ध और रक्तादि की धारा विकट वेदना को उत्पन्न करते थे। आँख के समक्ष जो कोई आता, वह अप्रिय था तथा दु:ख और चिन्ता भी अपरिमित थी। इन सब कारणों से बेचारे युवक राजा को एक रात बिताना ऐसा लगा कि मानों हजारों रात्रियाँ व्यतीत हो गयी हों।

❖ ❖ ❖

प्रात:काल होते ही पुलिंदों के अधिपति के सेवक, जिनके अन्त:करण इतने मलिन थे कि उनसे दया की सम्भावना करना अशक्य था; राजा वरांग को जबरदस्ती पकड़कर वनदेवी के मन्दिर में इस प्रकार घसीटकर ले गये, जिस प्रकार यज्ञ में नियुक्त ब्राह्मण, यज्ञ के बकरे को बलिदान करने के लिये ले जा रहा हो। इस दौरान पुलिंद पति के अनुपम और अमित पराक्रमी पुत्र को, जो कि शिकार की इच्छा से जंगल में जा रहा था, उसे अत्यन्त कुपित महाविषैले सर्प ने डंक मारा, क्योंकि उसके पैर के नीचे सर्प आ गया था। डंक

लगते ही विष इतने वेग से पूरे शरीर में फैल गया कि वह भीमकाय पुलिंद क्षण भर में ही मूर्च्छित होकर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके सेवक उसे उसके पिता के समीप ले गये। उसका पिता घबराकर तुरन्त ही विष का प्रतिकार खोजने के लिये वनदेवी के मन्दिर में पहुँचा। वहाँ उसने राजा वरांग को बन्धन में विवश पड़ा हुआ देखा। पुलिंदपति ने राजा वरांग से पूछा कि क्या आपको विष का उपचार करना आता है ? राजा वरांग ने कहा कि मैं किसी भी विष उतार सकता हूँ। यह सुनते ही पुलिंदपति ने उसका बन्धन खुलवाया और उससे प्रार्थना की कि मुझ पर अनुग्रह करके मेरे पुत्र को बचावें।

राजा वरांग, पुलिंदपति के पुत्र के समीप पहुँचकर परम ऋषियों, श्रेष्ठ योगियों तथा साधुओं द्वारा विधिवत बताये गये मन्त्र का पाठ करने के साथ श्री जिनेन्द्र भगवान के स्तवनों का भी उच्चारण करते हुए युवक पुलिंद के शरीर पर जल का छिड़काव करने लगा। धीरे-धीरे थोड़ी ही देर में युवक पुलिंद एकदम जागृत हो गया। यह देखकर पुलिंदपति ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि—'हे नाथ! हमने आपको पहिचानने में भूल करके बहुत कष्ट दिया है। हम मूर्ख बुद्धियों ने आपके प्रति अपराध किया है, जिसे आप क्षमा करें।' राजा वरांग ने उन्हें तुरन्त ही सरलता से माफ किया, जिससे प्रसन्न होकर भीलों के सरदार ने उन्हें बहुत भेंट प्रदान करके कहा कि आपके योग्य भोजन ग्रहण करो और आपकी चोट मिटने के पश्चात् यहाँ से विदाई लो।

युवराज वरांग ने कहा—'मुझे आहार की या भेंट की आवश्यकता नहीं है। मुझे मात्र किसी नगर की ओर जानेवाला मार्ग दिखाओ और विदा दो, जिससे मैं शीघ्र किसी नगर में पहुँच सकूँ।' पुलिंदराजा के इशारे से बहुत भील बहुत दूर तक साथ जाकर राजा वरांग को बहुत देशों की ओर जानेवाला उत्तम मार्ग दिखाकर स्वयं वन में वापस आ गये। भील लोगों के चले जाने के बाद राजा वरांग विचार करने लगा कि अब मुझे कहाँ जाना ? मुझे देश में वापिस जाना या दूसरे देश में जाऊँ ? उसने विचार किया कि मेरे पूर्वकृत कर्मों के विपाक ने राज्य सिंहासन से खींचकर क्षण में ही जिस प्रकार मुझे अमित वैभव और प्रभुता से वंचित कर दिया है, यदि मेरा पुण्य बाकी होगा तो वह कर्म ही मुझे समय आने पर उसी प्रकार से राज्य सिंहासन पर स्थापित करेगा। विविध विपत्तियाँ सहन करने पर भी,

उसके आत्मबल की सीमा नहीं थी; इसलिए अपने देश के बदले दूसरे देश जाने का निर्णय करके, अपने इष्ट की सिद्धि के लिये एक दीर्घ मार्ग पर चल निकला। जहाँ सूर्य अस्त होता, वहाँ किसी वृक्ष पर चढ़ जाता और रात्रि व्यतीत करता तथा प्रातःकाल होती ही उतरकर चलने लगता।

❖ ❖ ❖

एक दिन इसी प्रकार के मार्ग पर चलते हुए उसे व्यापारियों के काफिले ने देखा और तुरन्त ही उन सब निर्दयों ने उसे चारों ओर से घेरकर रोक लिया। उन्होंने राजा को खिजाकर पूछा कि 'तू कहाँ जा रहा है ? क्या जासूसी कर रहा है ? तेरा क्या प्रयोजन है ? तेरे अधिपति का नाम क्या है ? अभी वह कहाँ है ? उसका नाम क्या है ? उसके सैन्यबल का प्रमाण कितना है ? यहाँ से कितने योजन दूर है ? इत्यादि सभी बातों का उत्तर दे।'

उत्तर देते हुए युवक राजा वरांग ने कहा कि 'न तो मैं किसी का गुप्तचर हूँ या न मैं धन-सम्पत्ति की शोध करता हूँ, न मेरे मन में कुछ पाप है और न चोरी मेरी आजीविका है तथा मैं किसी के द्वारा भेजा हुआ किंकर भी नहीं हूँ। तुम इतना विश्वास करो कि भाग्य का मारा हुआ मैं केवल निरुद्देश्य ही भ्रमण कर रहा हूँ।'

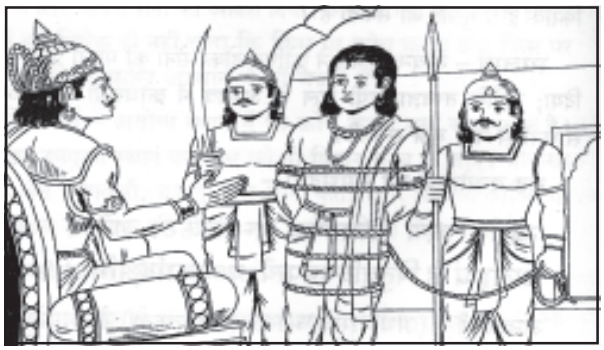

इस उत्तर से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने कहा कि 'हम लोग कुछ नहीं जानते दोष और गुणों का विवेक करने में हमारे प्रधान अत्यन्त कुशल हैं; इसलिए तुम्हारे सन्दर्भ में वे ही निर्णय करेंगे, क्योंकि ऐसे विषय में क्या कर्तव्य युक्ति संगत होगा, उसे वे ही समझते हैं।' ऐसा कहकर वे युवराज को अपने प्रधान के समीप ले गये।

परिपूर्ण यौवन, सुन्दर तथा बन्धन से बँधे हुए राजा के शुभ लक्षणों से व्याप्त शरीर को देखकर ही प्रधान सार्थपति को उसकी कुलीनता का विश्वास हो गया; इसलिए उन्होंने आज्ञा की कि—'इन्हें तुरन्त बन्धन से मुक्त करो। यह सैकड़ों सार्थों के स्वामी हैं,

चोर नहीं हो सकते। यह कोई प्रबल प्रतापी राजा का पुत्र है अथवा स्वयं ही कोई बड़ा राजा है। इनका शरीर और मुखाकृति मनमोहक है। ये बेचारा इस प्रकार की आपत्ति में किस प्रकार फँस गया?'

सार्थपति ने राजा वरांग से पूछा—'हे आर्य! तुम कहाँ से आ रहे हो? यहाँ से कहाँ जा रहे हो? तुम्हारे माता-पिता कहाँ रहते हैं? तुम्हारा गोत्र क्या है? यदि तुम्हारे इष्ट कार्य में विघ्न न होता हो तो मेरे प्रश्नों का उत्तर प्रदान करो।'

राजकुमार स्वभाव से ही बुद्धिमान तथा लोकाचार में कुशल था, इसलिए उसने अपने पर व्यतीत तकलीफें तथा आगे-पीछे का कर्तव्य विचारकर उत्तर में मात्र इतना ही कहा कि 'मेरी वर्तमान अवस्था ही सब स्पष्ट कर देती है तो कहने के लिये दूसरा क्या प्रयत्न किया जाये? इन सभी बातों से क्या प्रयोजन? कृपा करके मुझे छोड़ दें।'

युवक राजा के अत्यन्त सज्जनता और साधुतायुक्त वचन सुनकर सार्थपति ने अपने साथियों की गोष्ठी में प्रसन्नता और उत्साह से प्रसिद्ध किया कि अरे, इनकी परमोत्कृष्ट कुलीनता को तुम लोग देखो तो सही! अपने विभिन्न व्यवहार से न तो इन्हें आश्चर्य होता है और न तो अपना अपमान करने से ये अपने पर कुपित होते हैं। इस प्रकार इनके गुणों की हृदय से महिमा करते हुए सार्थपति की नजर इनके दुर्बल तथा कृश कपाल और नेत्रों पर अटक गयी। यह देखकर उसने आदर और स्नेह से राजा का हाथ अपने हाथ में लेकर आग्रहपूर्वक अपने तम्बू में ले गया। तम्बू में पहुँचते ही सार्थपति ने युवक राजा के पैर धोने के लिये पानी मँगाया तथा अपने सामने ही उसने शरीर मर्दन, लेपन आदि कराया। उसने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि वे राजा को सुकुमारतापूर्वक जल्दी स्नान करावें। तदुपरान्त सार्थपति, राजा के लिये उत्कृष्ट भोजन बनाता था। शुरुआत के थोड़े दिन तो सार्थपति उसी के साथ भोजन करता रहा, कि जिससे युवक राजा को संकोच न हो। पात्र की सुविधानुसार अपनी शक्तिप्रमाण सार्थपति उत्तमोत्तम वस्त्राभरण प्रदान करता था और तथापि कहता था कि असुविधा के बदले क्षमा करना। यह सब देखकर वरांग राजा ने थोड़ा समय उसके साथ में चलने का निर्णय किया।

सार्थ की रक्षा के लिये सभी दिशाओं में नियुक्त रक्षकों ने शीघ्रता से वणिकों की

गोष्ठी में आकर उनके प्रधान सागरवृद्धि से कहा कि—'यह अंगरक्षक अपनी-अपनी दिशा में तत्परता से निरीक्षण कर रहे थे तथा भीलों को देखकर डर गये थे। हे स्वामी! अत्यन्त शक्तिशाली, निकृष्टतम निर्दय, सम्भवत: न रोके जा सकनेयोग्य काल तथा महाकाल नाम से प्रसिद्ध पुलिन्दों के नायक, भीलों की चार हजार प्रमाण तीन सेनाओं के साथ अपने पर टूट पड़े हैं, ऐसी स्थिति में जो कुछ हितकारी हो, वह करने की आज्ञा प्रदान करो।'

सर्व दिशाओं में नियुक्त रक्षकों के उक्त समाचार सुनकर सार्थपति सागरवृद्धि ने अपने विश्वस्त पुरुषों तथा स्वामीभक्त सेवकों को बुलाकर उत्साहवर्धक प्रशंसामय वाक्यों द्वारा भविष्य में उन्नति की आशा आदि से उनका सत्कार करके, उन्हें आज्ञा की कि वे सब युद्ध के लिये अतिशीघ्र तैयार हो जायें। अपनी सेना के सुभटों को युद्ध के लिये सुसज्जित देखकर तथा आक्रमण करनेवाली भीलों की तीनों सेनाओं के राग्यवाद्यों की ध्वनि सुनकर युवक राजा वरांग ने सेठ के समीप पहुँचकर कहा कि—'हे सार्थपति! ढाल के साथ एक उत्तम तलवार मुझे भी प्रदान करने की कृपा करो।'

सार्थपति ने उसे समझाया कि—'हे भद्रमुख! पहली बात तो यह है कि तुम सुकुमार युवक हो; दूसरी बात यह है कि बहुत कष्टों के कारण तुम दुर्बल और कृश हो गये हो तथा सम्भवत: तुम नहीं समझते कि युद्ध के सन्मुख जाना कितना कष्टकारक और कठोर है। हे वत्स! हथियार का क्या करेगा, मेरे साथ ही तू यहाँ बैठ।'

सार्थपति और पुलिन्दपति दोनों की सेना ऐसे तीक्ष्ण और घातक शस्त्रों से सुसज्जित थी, मानो चंचल बिजली का स्वरूप हो! काल और महाकाल दोनों पुलिन्दपति स्वयं भी अत्यन्त बलशाली और उग्र थे तथा उनके साथ बारह हजार निर्दय सेना थी। वे दोनों जंगली हाथी की भाँति बाणों की वर्षा बरसाते हुए सार्थपति की सेना पर टूट पड़े। सार्थपति की सेना ने भी भीलों की सेना को बाण से बेंध डाला। यह देखकर दोनों—काल और महाकाल का क्रोध अत्यन्त बढ़ गया और फलस्वरूप वे अत्यन्त रुद्र और उद्दण्ड हो गये। पुलिन्दभट और सार्थपति के योद्धाओं के घोर युद्ध से पहले तो ऐसा लगता था कि दोनों बराबरी से लड़ते हैं, परन्तु तुरन्त ही पुलिन्दों का जोर बढ़ा और उनके द्वारा दबने से सार्थपति के सैनिक भय से आकुल-व्याकुल होकर बुरी तरह से हारने लगे।

सार्थपति के योद्धाओं को अचानक अपने घर-परिवार तथा अपनी प्राणप्यारी की याद आने पर विचार करने लगे कि हम तो न्यायमार्ग से धन कमाकर शान्तिपूर्वक जीवन जीनेवाले हैं; इन जंगलियों से युद्ध में पार नहीं पाया जा सकता। इस प्रकार विचार कर उन्होंने बुरी तरह से भागना शुरु किया। अत्यन्त शक्तिशाली पुलिन्दों की विजयी सेना ने सार्थवाह की सेना को कीड़े-मकोड़े की तरह छिन्न-भिन्न हुआ समझकर अपने पुरुषार्थ में सफल होने के कारण असंख्य सम्पत्ति से परिपूर्ण सार्थ को 'इस ओर से... इस ओर से...' कहकर लूटना, काटना, मारना शुरु कर दिया।

इस लूटमार में लीन भीलों की सेना को देखकर प्रबल पराक्रमी युवक राजा वरांग के क्षोभ की सीमा नहीं रही। जिससे वे अत्यन्त ढीठ सिंह समान आवेश में आकर भीलों पर टूट पड़े। 'युद्ध में उतरे हुए इन नीच पुलिन्दों को खोज-खोजकर मारकर, विपत्ति में पड़े हुए वणिकों की रक्षा और पालन करूँगा अथवा लड़ते-लड़ते इन्हीं नीच पुलिन्दों के समूह में घुसकर, इनके प्रहारों से मरकर वीरगति चला जाऊँगा'—राजा वरांग ने ऐसा निर्णय किया। वहीं एक पुलिन्द उनके सामने से निकला। वरांग ने एक लात मारकर उसे पृथ्वी पर डाल दिया, क्योंकि उनके पराक्रम का न तो कोई प्रतिरोध कर सकता था और न कोई सहन कर सकता था! तथा तुरन्त ही उस सिंह समान शक्तिशाली राजा वरांग ने उस गिरे हुए भील के हाथ में से ढालसहित तलवार खींच ली; फिर क्या था? शस्त्र चलाने में कुशल राजा ढंग से तलवार को चलाते हुए बाणों की वर्षा में घुस गया, तथापि अपने रण कौशल्य के कारण बाणों को व्यर्थ करता जाता था। थोड़ी ही देर में वह पुलिन्दपति के पुत्र के समीप जा पहुँचा।

युवराज पुलिन्द-काल व्यवस्थित युद्ध करने की शिक्षा से अछूता था; इसलिए उसने वरांग राजा पर जंगली मस्त हाथी की तरह आक्रमण किया। वरांग ने पुलिन्द पुत्र के इस बार को अपनी शस्त्रविद्या द्वारा रोककर सामने ऐसा प्रहार किया कि काल के प्राण-पंखेरू वहीं उसका शरीर छोड़कर चले गये। काल का पिता साक्षात् यम की प्रतिमा होने से महाकालरूप से जाना जाता था। उसे जब अपने पुत्र की मृत्यु के समाचार प्राप्त हुए तो अत्यन्त क्रोध से भरकर वह स्वयं वरांग के साथ युद्ध करने लगा। उन दोनों के बीच थोड़ी

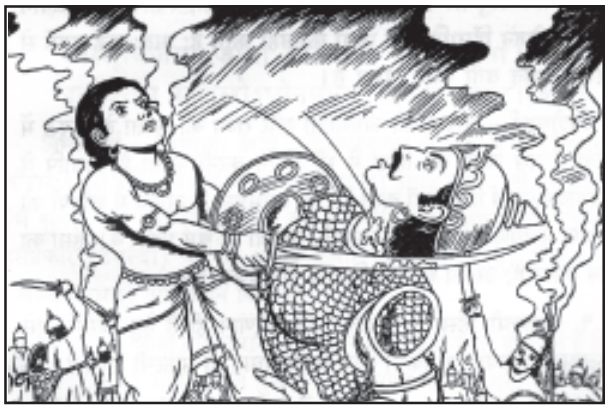

देर युद्ध चला। पुलिन्दनाथ महाकाल अपने पुत्र की मृत्यु के कारण अत्यन्त क्रोध में था परन्तु युवक राजा वरांग युद्धकला में कुशल होने के कारण उसे महाकाल का कोई प्रहार नहीं लगा। पश्चात्, वरांग का क्रोध अत्यन्त वृद्धिंगत हो गया और महाकाल पर एक ऐसा ही प्रहार किया कि वह धरती पर गिर गया और वह भी उसके पुत्र का वियोग दूर करने के लिये उसके पास जाता रहा अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुआ।

अपने सेनापति महाकाल की मृत्यु देखकर दूसरे पुलिन्द इतने भयभीत हो गये कि आधे तो भाग गये। कितने ही शरण में आ गये और शेष वरांग के हाथ से उनके सेनापति महाकाल से जाकर मिल गये अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुए। इस प्रकार शत्रु तथा शत्रु सेना का मर्दन करके युवक राजा वरांग वापस समरांगण में आ गये। समरांगण में आते ही अपने शरीर पर लगे हुए अनेक घावों के कारण वरांग राजा बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े।

विजयी राजा वरांग के युद्ध में से वापस आने के समाचार सुनकर सार्थमति अत्यन्त ही आतुरता से उनसे मिलने के लिये भागता हुआ आया। उसने आकर देखा कि युवक वरांग आँख बन्द करके धरती पड़ा है। नजदीक आकर देखा तो पता पड़ा कि वह अभी बेहोश ही हुआ है परन्तु जीवित है। बाण और तलवार के प्रहार से अपने शरीर को भूषित करके अत्यन्त ही परिश्रम के कारण राजपुत्र अचेत होकर जमीन पर पड़ा था परन्तु स्वभाव से, लावण्य से भरपूर उनका शरीर उस अवस्था में भी आकर्षक था!

वरांग को ऐसी स्थिति में देखकर सार्थपति अत्यन्त दु:खी हृदय से कहने लगे कि —'हाय वत्स! तुझे क्या हो गया है? हे श्रेष्ठ! तू कुछ बोल, ऐसे मौन धारण करके आनन्दपूर्वक क्यों धरती पर पड़ा है? हे भद्र! उठो और शीघ्र हम सब पर कृपा करो! हे नाथ! कृपा करके प्रतिवचन बोलो। उठो, चलो! अभी तुम बालक ही हो, अनेक कष्ट

सहन करने के कारण दुर्बल और कृश हो गये हो। कोई साथी भी नहीं, पहनने के लिये कवच भी नहीं, तथापि साधारण वस्त्र पहनकर ही तुम अकेले ने ही शत्रु सेना को मारकर समाप्त कर दिया। कोई हीन इच्छा बिना और विशेष प्रयत्न बिना ही तुम मुझे अधम-ऋणी बनाकर इस लोक से जा रहे हो ? तुम अत्यन्त उदार तथा कुशल हो ! यह मुझ पर अपार उपकार किया और मैं कुछ न कर सका। इस समय तुम प्राणहीन होकर जाओगे तो मैं क्या करूँगा ?'—इत्यादि वाक्य कहकर सार्थपति अत्यन्त करुण विलाप करने लगे।

इस दौरान दूसरे वणिकों ने उसे चन्दन का लेप लगाया, वैद्यों ने भी घाव भरने के लिये लेप लगाया और शीतल हवा करने लगे। थोड़ी देर में थकान दूर होने से राजा वरांग धीमे-धीमे आँख खोलकर बैठ गये। वरांग को जीवित देखकर सार्थपति सागरवृद्धि के हृदय सरोवर में प्रसन्नता की लहरें उठने लगीं। अपने ऊपर किये हुए उपकार के बदले में वरांग के लिये कुछ करने की भावना प्रबल होती थी; इसलिए उत्तमोत्तम लाखों रत्न तथा कोटि प्रमाण स्वर्ण लाकर उस अद्वितीय पराक्रमी राजा वरांग के सामने रख दिया।

भेंट के रूप में सामने रखी हुई विपुल सम्पत्ति को देखकर भी विवेकी वरांग को किंचित् भी आश्चर्य या कौतुहल नहीं हुआ क्योंकि वह तो स्वयं कुलीन था और इससे अनेकगुनी सम्पत्ति का स्वामी रह चुका था। सार्थपति की मानसिक भावना का अनुमान करके वरांग ने इतना ही कहा कि तुम यह धनराशि तुम्हारे इष्ट तथा प्रियजनों में वितरण कर दो। वरांग की सन्मति, लोभ द्वारा जीती नहीं जा सकती, इसलिए उनके कहे अनुसार ही सार्थपति ने अन्य मुखियों से कहा कि जैसे कश्चिद्भट—वरांग कहे, तदनुसार करो।

❖ ❖ ❖

सार्थपति के साथ चलनेवाले वैद्यों ने उत्तम औषधियों से वरांग के घाव थोड़े ही दिनों में भर दिये थे। तत्पश्चात् अत्यन्त शुभमुहूर्त में सार्थपति ने आगे आनेवाले राष्ट्र में प्रवेश करने के लिये प्रयाण किया। उस समय नरेश्वर वरांग भी सागरवृद्धि के साथ एक पालकी पर चढ़कर धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। सार्थ के साथ चलनेवाले नट, विट, याचक, पुरोहित आदि लोगों ने युवक वीर की विशाल कीर्ति को मार्ग में आनेवाले समस्त देशों में प्रसिद्ध कर दिया। विभिन्न गाँव, विभिन्न नगर तथा विविध राष्ट्र में यथासुविधा

पड़ाव डालते हुए सागरवृद्धि सार्थ निर्विघ्न लाभप्रद वस्तुओं का व्यापार करते-करते उस नगर में जा पहुँचा, जहाँ से वह व्यापार के लिये निकला था।

नगर के सर्वश्रेष्ठ सागरवृद्धि सेठ अपार सम्पत्ति के उपार्जनरूपी कार्य में सफल होकर वापिस नगर में आ रहे हैं, यह समाचार सुनकर सम्पूर्ण नगर के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध आदि सभी लोग उनका स्वागत करने आ पहुँचे। सागरवृद्धि की श्रीमतीजी भी अपने पति को सफल यात्रा से वापिस आये हुए अपने पति के स्वागत के लिये अन्य स्त्रियों के साथ आयी थी। अभी तक कश्चिद्भट **(कोई योद्धा-क्योंकि वरांग का नाम अभी तक अज्ञात है)** की यशोगाथा सम्पूर्ण नगर में फैल गयी थी; इसलिए श्रीमती सागरवृद्धि भी अपनी सहेलियों के साथ पहले उसे देखने गयी। पवित्र स्नेहादि भावों से परिपूर्ण सेठानी को देखकर ही कश्चिद्भट संकोच में पड़ गया; इसलिए उसे अपनी माता समान पूज्य मानकर उनका आदर करने के लिये तुरन्त खड़ा हो गया। साध्वी सेठानी ने भी उसे पुत्र से भी अधिक माना था। तत्पश्चात् उस पतिपरायणा ने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने जीवितेश के समीप जाकर शालीनता, शिष्टाचार और विनय से उनका स्वागत किया।

तत्पश्चात् सार्थपति ने भी अत्यन्त उत्साह से अपने बन्धु-बान्धवों, पत्नियों, पुत्रों, मित्रों से मिलकर उनके कुशल समाचार पूछे। नगर में समस्त मुख्य लोगों से प्रेमपूर्वक मिलने के पश्चात् उन्होंने अपनी यात्रा के विवरण के प्रसंग में पुलिन्द सेना के आक्रमण से लेकर कश्चिद्भट द्वारा उन सबकी मृत्यु तथा अपनी विजय तक की बात कही। यात्रा विवरण सुनकर नगर के अठारह श्रेणी के प्रधान तथा सागरवृद्धि ने सम्मानपूर्वक कश्चिद्भट का नगर में स्वागत किया और भेंट प्रदान की। जब सागरवृद्धि अपने घर पहुँचे, तब उन्होंने अत्यन्त वात्सल्य और आदरपूर्वक कश्चिद्भट को बुलाकर अपने घर में पड़ी हुई अनेक प्रकार की अतुल सम्पत्ति अलग-अलग करके दिखलायी तथा अपने परिवारीजनों से परिचित कराते हुए कहा कि ये तेरी बहिनें हैं, ये तेरे छोटे भाई हैं, यह तेरी माताजी है, यह तेरे सेवक आदि आश्रितजन हैं। ये सब पुत्र-मित्र तथा समस्त सम्पत्ति तेरे वश में ही है - ऐसा भेदभाव बिना समझ। सार्थपति ने इस प्रकार अपने आप सदा ही बढ़ती अपनी स्थावर तथा जंघम सम्पत्ति, सजीव तथा निर्जीव वैभव आदि कश्चिद्भट को दिखाकर अपने को

कृतकृत्य माना। तत्पश्चात् बहुत समय अपने घर में कुटुम्बियों के साथ उनके बीच रहकर सुख से जीवन व्यतीत किया।

❖ ❖ ❖

इस प्रकार पर्याप्त समय व्यतीत होने के बाद एक दिन नगर के श्रेणियों के प्रधान सेठ सागरवृद्धि, शास्त्र से अनुकूल संयमी तथा विचारक अपने समव्यस्क वृद्धों से मत-विनिमय करके अपनी धर्मपत्नी को साथ लेकर कश्चिद्भट के घर में गया। आवश्यक शिष्टाचार के पश्चात् सेठ ने कश्चिद्भट के सन्मुख अत्यन्त शुद्ध प्रस्ताव रखा कि—'इस नगर के अनेक प्रमुख व्यवसायी ऐसे हैं कि जिनकी सम्पत्ति करोड़ों से अधिक नहीं परन्तु असाधारण हैं। तुम्हारे स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सुशिक्षा तथा सदाचार आदि गुणों को देखकर वे सब अपनी सुशील तथा स्वस्थ कन्याओं का तुम्हारे साथ विवाह करने को उत्सुक हैं। हमारा आग्रह है कि हे वत्स! तुम भी स्वीकार कर लो!'

कश्चिद्भट ने सेठजी को उत्तर दिया कि—'जब मेरे पूर्वजन्म में उपार्जित भाग्य ने मुझे छोड़ दिया था, मेरी सम्पत्ति और वैभव नष्ट हो गया था, शारीरिक बल का मूल भी चला गया था तथा जंगल में इधर से उधर भटकता फिरता था, तब किसी पुण्यकर्म के उदय से आपके साथ मुलाकात हो गयी; मेरे लिये इतना ही बहुत है। इन सबसे (कन्याओं से) क्या हो सकनेवाला है?'

यह सुनकर सेठजी ने फिर से आग्रह किया कि—'हे पुत्र! हमारे पास जो कुछ भी है, वह सब तुम्हारा ही है, संकोच छोड़कर उसका भोग करो। जिसे चाहो उसे दो तथा जिस प्रकार की अभिलाषा हो, उस प्रकार उसका उपयोग करो, परन्तु जो तुमने अभी कहा, वैसा मत कहो।'

पितातुल्य सेठजी द्वारा उक्त वचन कहे जाने पर विनम्रतापूर्वक कुमार ने कहा कि—'मैं मनचाहे खेलकूद करता हूँ, शिक्षित शिष्ट पुरुषों के साथ ज्ञानगोष्ठी करता हूँ और इस प्रकार से आनन्द से ही समय व्यतीत करता हूँ। यदि मेरे जीवन की यह रीति ही बहुत रोचक हो और मैं प्रसन्न हूँ तो फिर विवाह करने से क्या लाभ है? उससे मुझे मुक्त करो।'

इस उत्तर के आधार से सेठ, कश्चिद्भट के मन की बात समझ सके थे, इसलिए

उन्होंने विचार किया कि जैसा चलता है, उस प्रकार ही चलने देना चाहिए। पश्चात् सार्थपति इधर-उधर की मनोरंजक बातें करके वापिस आये और अपने धर्म तथा कर्तव्यपालन में सावधानी से लग गये।

❖ ❖ ❖

इस घटना के थोड़े दिन पश्चात् नगर के सब वणिक श्रीमानों की पुत्रियाँ विहार के लिये उद्यान में गयी थीं। वहाँ उन्होंने बहुत आदर और भक्ति से कश्चिद्भट को आमन्त्रण दिया था। जब वे वहाँ पहुँचे, तब वे सब उत्तम कलश लेकर उनके बगल में खड़ी हो गयी और उन्हें सानुनय निवेदन करने लगी कि वे भी सेठ बनना स्वीकार कर लें। यह सुनते ही वरांग विचारों के भँवर में फँस गये।

राजा वरांग विचार करने लगे कि—देखो तो सही, यह कर्म की विचित्रता! यह निमित्त -नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा गजब का है! देखो, पहले जीवन के प्रभात में राजपुत्र था। पश्चात् धीरे-धीरे राजकुमार अवस्था पार करके युवराज अवस्था को प्राप्त हुआ और पश्चात् मैं स्वयं राजा हुआ। वहाँ अचानक राज्यसिंहासन से नीचे गिरा और सीधा जंगल में! वहाँ से वापिस अब सेठ बना! यह कर्मों की विचित्रता तो देखो कि पूर्व के पुण्य के कारण राजा बना! पापकर्म के उदय से जंगल में गया! फिर वापिस पुण्य के उदय से सेठ बना! कहावत भी है कि 'कर्म से राजा, कर्म से रंक।'

अरे! केवली भगवान तो कहते थे कि यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध वास्तव में कुछ वस्तु ही नहीं। जैसे कि पूर्व के पुण्यकर्म के उदय के निमित्त से मुझे राज्यपद मिला नहीं था परन्तु पुण्यकर्म का उदय होने की उस समय की योग्यता ही थी और उस समय इस वरांगकुमार को राजा बनना निश्चित ही था। पुण्यकर्म का उदय तो व्यवहार से निमित्त कहलाता है। बस! बाकी तो प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक समय की योग्यता-तत्समय की योग्यता ही मुख्य कारण है।

परद्रव्य मुझे सुखी या दुःखी कर ही नहीं सकता। वास्तव में होता ऐसा है कि प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय का परिणमन अनादि से निश्चित है और उस परिणमन में मैं अनुकूल प्रतिकूल की विपरीत कल्पना करके सुख-दुःख का अनुभव करता हूँ, परन्तु वह परद्रव्य का निश्चित परिणमन तो मेरे ज्ञान का ज्ञेय है। मैं तो जाननेवाला हूँ,

बस! अरे! केवली प्रभु ने ऐसा भी कहा है कि शुद्धनिश्चय से तो उस परद्रव्य को जाननेवाला इन्द्रियज्ञान-खण्ड-खण्ड ज्ञान है, वह भी परद्रव्य ही है। क्योंकि द्रव्य इन्द्रिय के निमित्त बिना उसे जानना नहीं होता! और मैं तो स्वतन्त्र-स्वाधीन, ज्ञातादृष्टा पूर्ण परमात्मा हूँ। मैं ज्ञायक, मुझे ही जानता हूँ और जो पर को जानता है, वह परद्रव्य है! आहा..हा..! गजब वीतरागी सिद्धान्त।

❖ ❖ ❖

जब सेठ की पुत्रियों को अनुपम पराक्रमी कश्चिद्भट की विचारधारा का पता पड़ा तो उन्होंने मिलकर मंगल कलशों द्वारा श्रेष्ठी पद की आवश्यक विधियों को पूर्ण किया और ललित नगर के सेठों की प्रधानता का द्योतक पट् उन्हें बाँध दिया। इस प्रकार कश्चिद्भट वणिकों का नेता बन गया।

❖ ❖ ❖

अब हम उत्तमपुर का दृश्य देखें... जब वरांग को घोड़ा उठाकर भागा, तब राजा धर्मसेन सहित अन्य राजाओं, शिष्ट राजपुत्र, समस्त मन्त्रियों तथा सेनापति सहित सैनिक भी उस घोड़े का पीछा करते हुए बहुत दूर तक गये परन्तु घोड़े का वेग बहुत अधिक होने से, उस दुष्ट घोड़े को कोई रोक नहीं सका था और सबको राज्य में खाली हाथ वापिस आना पड़ा था। वरांग को खोजने में असफल सैनिक वापिस आकर कहते थे कि—'हे महाराज! वह दुष्ट घोड़ा इतना प्रबल और कुशिक्षित था कि उसे वश में करना असम्भव था। उस घोड़े को विपरीत आचरण की शिक्षा दी गयी थी।'

वापिस आये हुए सैनिकों की बात सुनकर राजा ने अपने समस्त बुद्धिमान तथा भक्त मन्त्रियों को बुलाया और कहा कि—'तुम लोग भले प्रकार से विचार करो कि वर्तमान राजमण्डल में अपना कौन ऐसा शत्रु है कि जिसने इस प्रकार से वरांग का अपहरण कर लिया है। यह अपहरण क्या अपने बीच में से किसी ने कराया है या किसी बाहर के शत्रु ने?'

इस प्रकार मन्त्रियों को वरांग के अपहरण के विषय में खोज करने सम्बन्धी आज्ञा प्रदान की और स्वयं भी अपने अनेक दूत प्रत्येक नगरों में वरांग की खोज करने के लिये भेज दिये।

कुमार वरांग की खोज के लिये पीछे गये हुए बहुत से सैनिकों को कुएँ में गिरा हुआ मरा हुआ घोड़ा मिला किन्तु कुमार के अशुभ की आशंका का कोई चिह्न दिखलायी नहीं दिया। मार्ग में वरांग के हाथ-पैर के आभूषण प्राप्त हुए। उन्होंने वापिस आकर राजा धर्मसेन को समस्त विगत कह सुनायी और कुमार के प्राप्त कुण्डलादि आभरण बतलाये। पुत्र की विपत्तिरूप हिमपात के कारण सर्वदा विकसित राजा का मुखकमल भी म्लान हो गया। उनके मुखकमल को देखकर उस कमल का स्मरण होता था, जो कमल थोड़े समय पहले ही पूर्ण विकसित था परन्तु तुषारपान होने से थोड़े समय में ही मुरझाकर श्रीहीन हो गया था। जिस प्रकार जब नाग के मस्तक से मणि ले ली जाये अथवा मदोन्मत्त हाथी के आगे का दाँत तोड़ दिया जाये तो पूरा शरीर बलिष्ठ, स्वस्थ होने पर भी उसकी शोभा नष्ट हो जाती है; उसी प्रकार सहज कान्तिमान राजा, पुत्र के अपहरण के पश्चात् कान्तिहीन और निस्तेज प्रतीत होता था।

इस प्रकार महाराजा के निस्तेज हो जाने से कोई साहस करके अन्तःपुर में ये समाचार देने गया। वहाँ जाकर महारानी गुणदेवी को वरांगकुमार के समस्त समाचार कह सुनाये। समाचार सुनते ही महारानी गुणदेवी—'हा पुत्र! तुझे कौन हरण कर ले गया?' ऐसा कहकर बेहोश होकर धरती पर गिर पड़ी। उसे गिरते देखकर समस्त सेविकायें और दूसरी रानियाँ दौड़कर आयी और शीतोपचार करके रानी को जगाने लगीं। कुछ समय पश्चात् चेतना वापिस आने पर रानी करुण विलाप करने लगी कि—'हाय दैव! यह दुर्घटना मुझ पर क्यों नहीं आ पड़ी? हे बेटा! तेरे बिना जी कर क्या फायदा? हे पुत्र! मेरे लिये तू ही तीन लोक की राज्य की प्राप्ति से होनेवाली प्रभुता और वैभव से भी बड़ा सुख था। हा! मैंने ऐसे सुपुत्र को खो दिया! अब तुझे याद करते हुए किस प्रकार जिऊँ? राजपद की प्राप्ति के कारण तेरा वह दैदीप्यमान प्रतापी स्वरूप मैं किस प्रकार भूलूँ? मैंने अन्य जन्म में हिरण के बच्चे को उसके माता-पिता से दूर किया होगा! इस संसार में देहधारी जीवों का जन्म लेना कितना रक्षा हीन है? कितना अनित्य है? कितना भयंकर सारहीन है, वह मैंने आज भलीभाँति अनुभव कर लिया है! पूर्वभव में आत्मा जो अच्छे-बुरे कर्म बाँधता है, उन कर्मों के फलरूप जीवों को सुख-दुःख अवश्य भोगना पड़ता है। उसे न

तो कोई रोक सकता है या न कोई वश में कर सकता है। मनुष्य तो क्या परन्तु, देव भी कर्म के उदय को रोक नहीं सकते।' इस प्रकार होनहार पुत्र का अकस्मात् वियोग हो जाने से उत्पन्न हुए दु:ख ने राजा-रानी के सन्ताप को चरम सीमा से भी आगे बढ़ा दिया था।

युवराज वरांग की अनुपमा आदि पत्नियाँ शील तथा स्वभाव में देवों के अधिपति इन्द्र की इन्द्राणी-समान ही थी। जब उन्हें समाचार प्राप्त हुए कि कोई दुष्ट घोड़ा, युवराज को लेकर भाग गया है तो वियोग की कल्पना से ही वे अथाह भयसमुद्र में डूब गयीं। विषाद की तीव्रता के कारण उनके विकसित तथा सुन्दर मुखकमल म्लान लगते थे, आँखों में से आँसुओं की धारा बहती थी। वे हताश होकर यमराज को सम्बोधन करती थी कि—'हे कृतान्त! तू इतना निर्दय है कि तुझे निश्चय से स्त्री हत्या का दोष लगेगा, क्योंकि तूने हमें हमारे स्वामी से अलग किया है, या तो हमें वहाँ ले जा, जहाँ हमारे स्वामी हैं अथवा उन्हें वापिस हमारे समीप ले आ; नहीं तो निश्चय समझ कि तेरे सिर पर स्त्री हत्या जैसे अधम दोष का टीका लगेगा!'

इस प्रकार वरांग के माता-पिता, पत्नियाँ तथा समस्त राज्य शोकाकुल होकर दु:ख सागर में बहुत समय तक डूबा रहा। थोड़े समय पश्चात् विवेक जागृत होने पर, 'धर्म ही एक शरण है'—ऐसा विश्वास लाकर - ऐसी श्रद्धा करके सभी धर्म कार्य में लग गये। राजा भी स्वयं युवराज वरांग को खोजने के लिये पूरी मेहनत कर रहे थे।

❖ ❖ ❖

इस ओर वरांग राजा ललितपुर में बाह्य सुख तथा आन्तरिक दु:ख के मिश्रित अनुभव को करते हुए विचित्र अवस्था में दिन व्यतीत कर रहा था।

उस समय मथुरा नाम की नगरी में इन्द्रसेन नामक प्रसिद्ध राजा राज्य करता था। महाराज इन्द्रसेन का देवेन्द्रसेन नाम का बड़ा पुत्र, जिसे अपने पराक्रम, सैन्य आदि का बहुत अभिमान था, उसकी आधीनता आजू-बाजू के समस्त सामन्त राजाओं ने स्वयं आकर स्वीकार की थी। वे दोनों पिता-पुत्र, सूर्य-चन्द्र की भाँति राज्य करते थे। उनके सैन्य की कोई समानता नहीं कर सकता था। इस कारण से वे अत्यन्त उद्दण्ड हो गये थे। उन्हें अपने अनुचरों द्वारा ज्ञात हुआ कि ललितपुर के राजा के पास उत्तम हाथी है। उस

हाथी की शक्ति का अनुमान करना कठिन था। वह हाथी इतना दृढ़ और विशाल था कि चलता-फिरता पर्वत ही लगता था! उस हाथी का नाम मधुप्रभ था। राजा इन्द्रसेन, उस मधुप्रभ हाथी को ललितपुर के राजा से प्रेमपूर्वक न माँगकर छीन लेना चाहता था। अपने अभिमान से उसने अपने एक दूत को पत्र देकर ललितपुर भेजा।

दूत ने ललितपुर राजसभा में आकर इन्द्रसेन का पत्र दिया, जिसे पढ़कर राजा देवसेन अत्यन्त क्रोधित हो गया क्योंकि उस पत्र में कहीं 'साम नीति' का उपयोग नहीं हुआ था। पत्र पढ़ते ही देवसेन राजा के मान को ठेस पहुँची; इसलिए उसने वह पत्र धरती पर फैंक दिया। तदुपरान्त दूत का आधा सिर मुँडाकर अत्यन्त कठोर शब्द कहे और कहा कि—'तेरे राजा को कह देना कि यदि हिम्मत हो तो युद्ध करके हाथी ले जायें।'

ललितपुर से अर्ध मुण्डन कराकर वापिस आये हुए दूत को देखकर इन्द्रसेन के क्रोध का पार नहीं रहा। उसने कुछ पूछे बिना युद्ध की घोषणा कर दी और युद्ध की तैयारी करने लगा।

राजा इन्द्रसेन के प्रस्थान के साथ ही समस्त राजकुमार, जिनका प्रधान उपेन्द्रसेन था, तथा अन्य समस्त राजा अपनी विशाल सेना के साथ युद्ध हेतु चल पड़े। चलते-चलते उन्हें पता भी नहीं पड़ा कि वे शत्रु देश में आ गये हैं। शत्रु सेना जैसे ही ललितपुर में प्रवेश हुई कि मार्ग में जो कोई गाँव आदि थे, उन्हें नष्ट करने लगा। लूट-मार के कारण समस्त लोगों ने प्रधान नगरी में शरण लिया। इन्द्रसेन ने चारों ओर से ललितपुर को घेर लिया था।

ललितपुर को घिरा हुआ जानकर राजा देवसेन ने अपने मन्त्रियों को बुलाकर कहा कि—'मैं जानता हूँ कि इन्द्रसेन का सैन्यबल बहुत अधिक है, उसे वापिस धकेलना बहुत कठिन है। ऐसी स्थिति में मैं उसे हाथी देना भी नहीं चाहता और उसके साथ युद्ध करना भी नहीं चाहता तथा राज्य छोड़कर भागना भी नहीं चाहता। अब जो कोई मार्ग हो, वह तुम विचारकर कहो।'

बहुत चर्चा के पश्चात् विजय नामक मन्त्री ने कहा कि—'इस समय युद्ध के अतिरिक्त दूसरे कोई मार्ग नहीं है।' बहुत तर्कों से विजय मन्त्री ने राजा को समझाया, जिससे राजा देवसेन उस पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और युद्ध के लिये तत्पर होकर युद्ध की

तैयारी की आज्ञा प्रदान की। विजय मन्त्री चाहता था कि अपने राजा की विजय अवश्य हो, इसलिए उसने राजा की आज्ञापूर्वक सम्पूर्ण नगर में घोषणा करा दी कि—'जिसे राज –सम्मान प्राप्त करने की इच्छा हो अथवा जो लोग राज्य का गौरव बचाने में अपनी सम्पत्ति का मोह परित्याग कर सकें तथा जिन्हें स्वयं पुरुष होने का स्वाभिमान है, वे सभी शीघ्रता से महाराज की सेवा में उपस्थित हों।'

उस समय कश्चिद्भट शत्रु सेना को निहार रहा था, जिसने राजा को चारों ओर से घेर लिया था। राजा की ओर से की गयी घोषणा सुनकर उसने विचार किया कि जो दूसरे को विपत्ति के समय मदद करता है, वही सच्चा बन्धु है और, महाराज देवसेन मेरे सगे मामा हैं तथा वे अभी शत्रु द्वारा पीड़ित हो रहे हैं। सगे–सम्बन्धियों का कर्तव्य है कि अपने कोई सगे–सम्बन्धी विपत्ति में हो और स्वयं भले चाहे जितना दूर हो परन्तु उनकी सहायता के लिए आना ही चाहिए, तो फिर मुझे मेरे कर्तव्य का ज्ञान होने से तथा मैं तो एकदम नजदीक होने से, मुझे सहायता अवश्य ही करना चाहिए।

कश्चिद्भट विचार करता है कि यदि मैं अभी ऐसा कहूँ कि मैं उत्तमपुर के अधिपति महाराज धर्मसेन का पुत्र वरांग हूँ – तो कोई मेरा विश्वास नहीं करेगा और मेरा अपमान होगा। यदि मैं वणिकों की ओर से युद्ध करने जाऊँगा तो वणिकपुत्र कहलाऊँगा और मेरे उत्साह की अवहेलना होगी। उसने विचार किया कि यदि मैं ऐसा कहूँ कि मैं एक अज्ञात योद्धा हूँ और समस्त प्रकार से शस्त्र चलाने में मैं कुशल हूँ – तो उसमें कुछ दोष नहीं और मेरे प्रताप द्वारा मुझे पहचान लिया जायेगा। इस प्रकार विचार कर घोषणा सुनते ही वह अत्यन्त उत्साह में आ गया और अपने पूर्वज सेठ सागरवृद्धि को बुलाकर आदरपूर्वक बैठाया तथा उनसे निवेदन किया कि—'मैं महाराज देवसेन के साथ समरभूमि में जा रहा हूँ, अत: मुझे स्वीकृति प्रदान कर विदा कीजिए।'

कश्चिद्भट के ऐसे वचन सुनकर धर्मपिता सागरवृद्धि आकस्मिक समाचार से कम्पित होने लगे। उन्होंने कश्चिद्भट से प्रार्थना की कि—'मैं तुम्हारी शूरवीरता को जानता हूँ तथा मैंने आँखों से भी देखा है कि तुम्हारे जैसा पराक्रम किसी का नहीं है, तथापि यदि तुम कुछ लाभ प्राप्त करने के लिये युद्ध में जा रहे हो तो तुम्हें जो अपेक्षित हो, वह सुख

सामग्री मैं प्रदान करता हूँ। अपने घर में असंख्य कोटि स्वर्ण पड़ा है, तो हे वत्स! तुम्हें जो चाहिए, वैसे भोगों को भोग परन्तु इस युद्ध में जाने का निर्णय त्याग दो। प्रवास के समय भीलों के साथ का दारुण युद्ध याद करने से मैं काँप उठता हूँ; हे वत्स! युद्ध करने से लाभ क्या है ?'

धर्मपिता द्वारा उक्त प्रकार का निषेध होने से कश्चिद्भट ने विचार किया कि खेद का विषय है कि यह साधु स्वभावी सेठ, शारीरिक और मानसिक बल से हीन है। बेचारा अपनी जाति के अनुकूल संस्कारों से भरा है और वैसी ही बातें करता है। मुझे भी यह अपनी ही जाति का समझता है। कश्चिद्भट ने कहा—'हे पिताजी! न तो मुझे सम्पत्ति का कोई प्रयोजन है और न मुझे राज्य से कोई मतलब! मैं तो संकट में पड़े हुए स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, आश्रमवासी साधु तथा आर्यिकाओं तथा श्रावक-श्राविकाओं की रक्षा करने के लिए इस युद्ध में जाना चाहता हूँ। प्रजा का कल्याण करने में राजा देवसेन के परिपूर्ण विजय को देखने की इच्छा से, शत्रु वध करने की अभिलाषा के कारण, तुम्हारा यश बढ़ाने के अभिप्राय से तथा अपना धर्मकर्तव्य पूरा करने की प्रेरणा से ही मैं समरभूमि में जा रहा हूँ; इसलिए आप मुझे जाने की स्वीकृति प्रदान करें।'

सागरबुद्धि सेठ ने पुत्र का दृढ़ निर्णय जानकर उसे मौनपूर्वक स्वीकृति प्रदान की तथा स्वयं कश्चिद्भट की ओर से राजा के समीप प्रस्ताव लेकर गया। उसे जाकर राजा से कहा कि—'हे महाराज! मेरा पुत्र आपकी ओर से युद्ध करना चाहता है। आपकी जो इच्छा हो, वह करो।'

विजय आदि मन्त्रियों ने उसके विषय में पहले से ही सुना हुआ था; इसलिए उन्होंने महाराज से कहा कि—'कश्चिद्भट के विषय में हमने पहले से ही बहुत सुना है। उसने एक साथ भीलों की बारह हजार प्रमाण सेना को पराजित कर दिया था; इसलिए वह इस वणिक सेठ का पुत्र नहीं हो सकता। उसमें वणिक होने का एक भी लक्षण नहीं है, इसलिए आपके साथ वह कश्चिद्भट शत्रुओं को अवश्य पराजित करेगा, इसमें आश्चर्य क्या ?'

मन्त्रियों की यह बात सुनकर राजा ने आनन्दोत्साह से कहा कि—'युद्ध के लिये विजयभेरी बजाओ, जिससे शत्रुओं का हृदय काँप उठे।' पश्चात् विजयभेरी बजायी गयी

और सबके साथ मन्त्रणा करके कश्चिद्भट को बुलाया गया। राजा का आमन्त्रण प्राप्त करके कश्चिद्भट के हर्ष की सीमा नहीं रही। वह तुरन्त ही अपने समव्यस्क मित्रों के साथ राजसभा में पहुँच गया। कश्चिद्भट और महाराज देवसेन एक-दूसरे को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। महाराज उसके शरीर पर शुभ लक्षण देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होंने कहा कि—'जो व्यक्ति भूपाल तथा उसके शासन विरुद्ध आचरण नहीं करता, राष्ट्र तथा राजा के विकासमय जीवन में उपस्थित हुए अनर्थों को शान्त करता है, घनघोर संग्राम में सब ओर से आक्रमण होने पर भी जिसका धैर्य और कर्तव्यबुद्धि अस्त नहीं होते, जो अकस्मात् ही कहीं से आकर युद्ध में सहायता करता है, वही सच्चा बन्धु है, वही पुत्र है, वही मित्र है तथा श्रेष्ठ गुरु भी वही है। यदि मैं मेरे पुण्यकर्म के प्रभाव से अथवा तेरे सौभाग्य से अथवा राज्य में बसनेवाले सज्जनों के शुभकर्मों के कारण इस युद्ध में शत्रु सेना को पराजित करके वापिस आऊँगा तो मेरी पुत्री के साथ आधा राज्य भी तुझे प्रदान करूँगा।'

इस प्रकार अपने अनुराग को वचनों द्वारा प्रगट करके ललितेश्वर ने रत्नों का हार, मुकुट, केयूर, कुण्डल, कमरबन्ध तथा पद का सूचक पट्ट बाँध दिया। तत्पश्चात् महाराज ने आज्ञा की कि सभी लोग शीघ्रातिशीघ्र युद्ध के लिये तैयार हो जायें।

❖ ❖ ❖

समरयात्रा के समय मदोन्मत्त हाथी पर बैठे हुए महाराज देवसेन ऐसे लगते थे जैसे कि ऐरावत हाथी पर इन्द्र! अप्रतिमल्ल नामक हाथी पर समस्त शस्त्रों से सहित कश्चिद्भट बैठा हुआ था। हाथी पर विराजित वह ऐसा लगता था मानो कि प्रातःकाल का सूर्य उदयाचल पर प्रगट हुआ हो।

दोनों सेनायें युद्ध में आमने-सामने आ गयीं। अत्यन्त क्रोध के कारण जैसे शंख फूँका गया कि तुरन्त ही दोनों सेना के योद्धा एक-दूसरे पर टूट पड़े। दोनों सेनायें एक-दूसरे पर भयंकर आक्रमण करके युद्ध कर रही थीं। दोनों सेनाओं के भट्ट स्वामीभक्त थे। अपने महाराज की विजय के लिये प्रतिज्ञा कर चुके थे। अपने राजा के प्रति राग तथा शत्रु दल के प्रति द्वेष से पूर्ण थे। इसलिए अत्यन्त वेग से परस्पर एक-दूसरे के अंग काट-काटकर फेंक रहे थे। इस प्रकार दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया था।

मथुराधिपति इन्द्रसेन के साथ जितने राजा थे, उनमें से बहुभाग के राजा तो अर्थ के लोलुपी थे। इन राजाओं को महाराजा देवसेन ने अर्थ का लालच देकर तोड़ लिया और अपने वश करके इन्द्रसेन से विरुद्ध करके उसकी थोड़ी ताकत तो ऐसे ही कम कर दी। महाराज देवसेन, इन्द्रसेन को व्यक्तिगत युद्ध में पराजित करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ऐसी व्यूह रचना की थी कि जो किसी भी ओर से तोड़ना असम्भव थी।

विजय मन्त्री की सेना ने थोड़ी ही देर में उपेन्द्र की सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यह देखकर उपेन्द्र अति रौद्ररूप धारण करके विजय मन्त्री की सेना पर टूट पड़ा। उपेन्द्र के आक्रमण से विजय परास्त जैसा हो गया। उसे देखकर कश्चिद्भट उसके सामने आया और उपेन्द्र के साथ युद्ध करने लगा। कश्चिद्भट निर्दयतापूर्वक शत्रु की सेना का संहार कर रहा था। उसे देखकर उपेन्द्र सैन्य ने हंसते-हंसते उससे कहा कि—'हे भद्रपुरुष! ललितेश्वर के आधे राज्य से तुझे क्या लाभ ? राज्य करना तेरे वंश में अनुचित है। सुनन्दा को प्राप्त करके भी तू क्या करेगा ? वह भी कालरात्रि के समान है। यहाँ राजा, राजा के साथ युद्ध करता है; इसलिए इस युद्ध में सम्मिलित होने के लिये तू योग्य नहीं है क्योंकि तू सार्थपुत्र है, इसलिए अब तू शीघ्र यहाँ से चला जा और अपने प्राणों की रक्षा कर।'

उपेन्द्रसेन के ऐसे वचन सुनकर कश्चिद्भट का हृदय विक्षत हो गया; इसलिए अत्यन्त क्रोधित होकर उसने कहा कि—'मैं तो जो हूँ, वह हूँ अथवा तू जो मानता है, वह हूँ, परन्तु उससे तुझे क्या मतलब है ? मैं आज इस हाथी पर बैठा हूँ जो तुम्हें चाहिए था। अब मैं इसी हाथी पर बैठकर तुझे और तेरे पिता को यमलोक पहुँचाऊँगा, इसमें कोई शंका नहीं है।'

कश्चिद्भट के वचन सुनकर उपेन्द्र भी अत्यन्त क्रोधित हुआ और दोनों एक-दूसरे के सामने अपने हाथियों को लाकर घोर युद्ध करने लगे। एक-दूसरे पर बाणों की वर्षा करने लगे। दोनों योद्धा एक-दूसरे के हाथी को भी मारते थे, परन्तु कश्चिद्भट के हाथी को अधिक चोट नहीं लगी, जबकि उपेन्द्रसेन के हाथी का एक दाँत टूट गया तथा कश्चिद्भट द्वारा चक्र मारने से उसके अंग कटने लगे। उपेन्द्रसेन, कश्चिद्भट पर और कश्चिद्भट, उपेन्द्रसेन पर तोमर, बाण, चक्र, भाला आदि अलग-अलग शस्त्र फेंककर

घोर युद्ध कर रहे थे। अन्ततः कश्चिद्भट ने इतने जोर से चक्र फेंका कि उपेन्द्र का एक हाथ कट गया और ऐसा होने पर भी एक मुहूर्त तक उसने कश्चिद्भट के साथ युद्ध किया। अन्त में कश्चिद्भट ने उपेन्द्र की छाती में शक्ति मारकर तुरन्त ही उस पर कूद कर उसका सिर छेद दिया। उपेन्द्रसेन के प्राण निकल गये और उसके सैनिक कितने ही तो मारे गये और कितने ही कश्चिद्भट से डरकर भाग गये।

इस प्रकार घोर युद्ध होते-होते मथुराधीश तथा देवसेन भी आमने-सामने आ गये। एक-दूसरे को देखते ही उनके मुख विकृत हो गये। जंगल में यौवन के उन्माद से मत्त दो भीमकाय हाथी समान समर में लड़ने की अभिलाषा से वे दोनों एक-दूसरे के अति निकट जा रहे थे। वज्रसमान अभेद, अग्नि समान दाहक तथा विष समान मारक अनेक आकृति के शस्त्रों से अत्यन्त त्वरा से उन्होंने एक-दूसरे पर आघात करना शुरु कर दिया। इस समय तक दोनों के केतु कटकर गिर गये थे। दोनों के हाथी के पैर घायल गये थे। देवसेन ने चक्र उठाकर मथुरा के राजा पर छोड़ दिया। उस प्रहार से ललितेश्वर ने शत्रु के उस हाथी को ही काट दिया, जिस पर बैठकर वह उस पर गदा चला रहा था। अचानक उपेन्द्र के मृत्यु के समाचार सुनते ही इन्द्रसेन का क्रोध ज्वाला की भाँति बढ़ने लगा। अचानक युद्ध का स्वरूप बदलने लगा। इन्द्रसेन ने अकेले ने अपने अनेक शत्रुओं को मार दिया। देवसेन भी इन्द्रसेन के प्रहार से दबने लगे।

देवसेन को दबा हुआ देखकर कश्चिद्भट, इन्द्रसेन की ओर आया और उसके साथ भयंकर युद्ध करने लगा। कश्चिद्भट को युद्ध में सामने आया हुआ देखकर इन्द्रसेन के क्रोध का पार नहीं रहा क्योंकि कश्चिद्भट ने ही उपेन्द्र को यमलोक पहुँचाया था तथा उसके हाथी को भी मारा था। क्रोध में आकर दोनों एक-दूसरे पर बाणों की वर्षा करने लगे, क्योंकि दोनों ने अपने शत्रु को मारने की प्रतिज्ञा कर ली थी। कश्चिद्भट अत्यन्त शीघ्रता से एक के पश्चात् एक बाण की वर्षा करता था। उसके बाण से इन्द्रसेन का धनुष टूट गया। इन्द्रसेन दूसरा धनुष उठावे, इतनी देर में तो कश्चिद्भट की बाण की वर्षा ने इन्द्रसेन का एक हाथ मूल में से काट दिया और बाण की चोट से वह जर्जरित हो गया। उसके सभी सैनिक इधर-उधर भागने लगे। ऐसी स्थिति से इन्द्रसेन की बुद्धि भी काम करना बन्द कर

गयी और वह अत्यन्त भयभीत हो गया। वह हाथी से उतरकर घोड़े पर बैठकर वापिस भागने लगा। उसे भागते देखकर कश्चिद्भट को उस पर दया आयी और उसे भागने दिया। इन्द्रसेन के भागने से उसका सैन्य बल तितर-बितर हो गया।

महा मतिमान कश्चिद्भट समस्त शत्रुओं को पूर्ण पराजित करने के पश्चात् अपने तेज के कारण मध्याह्न के सूर्य की भाँति चमक रहा था। युद्ध पूर्ण होने के पश्चात् कश्चिद्भट ने राजा देवसेन के समीप आकर कमल समान उनके शुद्ध चरणों में मस्तक झुकाया। महाराज देवसेन ने उसे उठाकर अपनी छाती से लगाया। उस समय महाराज का मन सुख-सरोवर में डुबकी लगा रहा था। उन्होंने कश्चिद्भट से कहा—'हे आये! मैंने तुम्हारे पराक्रम को अपनी आँखों से देखा है। तुम्हारे समान अन्य कोई पराक्रमी इस पृथ्वी पर हो ही नहीं सकता।' पश्चात् उसी समय वहीं सेठ सागरवृद्धि का बहुत सम्मान किया तथा कश्चिद्भट को हाथी पर बैठाकर उस पर राजाओं के योग्य छत्र लगाया गया। तत्पश्चात् सबने अत्यन्त उत्साह से राजधानी में प्रवेश किया।

❖ ❖ ❖

कश्चिद्भट को उत्तम हाथी पर बैठकर विजय होकर आते देखकर नगरवासी बहुत प्रसन्न हुए तथा उसे बहुत आशीर्वाद देने लगे। सार्थपति सागरवृद्धि भी महाराज देवसेन के साथ उत्तम हाथी पर बैठकर नगर में प्रवेश कर रहे थे।

तत्पश्चात् राजा ने सबका यथायोग्य सम्मान किया। महाराजा ने कश्चिद्भट तथा सार्थपति का विशेष सम्मान किया। तत्पश्चात् सब अपने घर पहुँचे। संग्राम से आने के बाद एक दिन पश्चात् ज्ञानी वृद्ध पुरुषों के साथ शान्तिपूर्वक बैठकर महाराज देवसेन अपनी पुत्री के विवाह के विषय में चर्चा कर रहे थे। निर्णय होने के बाद उन्होंने कश्चिद्भट को बुलाया। जब कश्चिद्भट आ गया, तब राजा ने सस्नेह उससे पूछा कि—'यदि तुम्हें कोई तकलीफ न हो तो में तुम्हारे माता-पिता के सम्बन्ध में जानना चाहता हूँ। हे वत्स! तू कान्तिमान है, तेरा तेज और सामर्थ्य असीम है तथा विज्ञान का साक्षात् भण्डार है। तेरी इन योग्यताओं के कारण ही तुम्हारी विशाल कीर्ति समस्त दिशाओं में व्याप्त हो गयी है। इन सद्गुणों के कारण मुँह से निकल ही जाता है कि तुम्हारे माता-पिता को धन्य है। यदि

तुम्हें विशेष विरोध न हो तो अपने वंश के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करो।'

कश्चिद्भट दूसरे के मन के अभिप्राय को भलीभाँति समझता था, इसलिए वह महाराज का अभिप्राय समझ गया, परन्तु अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करने में उसे संकोच हो रहा था; इसलिए उसने अपने सम्बन्धी वास्तविकता छुपाकर कहा कि—'महायशस्वी अनुपम वीर कश्चिद्भट ललितपुर के सार्थपति सागरवृद्धि का ज्येष्ठ पुत्र है, यह बात सम्पूर्ण जगत जानता है। मैं भी ऐसा ही कहता हूँ कि वे ही मेरे सर्वोत्तम सगे और पूज्य पिता हैं। हे महाराज! इस धरती पर मेरे दूसरे कोई पिता नहीं हैं – ऐसा आप निःसन्देह समझें। आपके प्रश्न पूछने की शैली से मैं आपके हृदयगत अभिप्राय को समझता हूँ, मैं जानता हूँ कि मुझे मेरे वंश-कुल के सम्बन्ध में पूछने का कारण आपकी पुत्री है, क्योंकि पुत्री के विवाह प्रसंग में वर के सम्बन्ध में जानना तो आवश्यक है ही परन्तु आपकी रूप-गुणवती पुत्री आपके घर में ही रहे क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में मैं विवाह नहीं कर सकता, किन्तु आप यह निश्चित समझें कि मैं वणिक पुत्र ही हूँ।'

भरी सभा में कश्चिद्भट के शब्द सुनकर, इतना बड़ा सुअवसर त्यागकर भी उसकी आन्तरिक तथा बाह्य प्रसन्नता को लक्ष्य में रखकर महाराज देवसेन ने समझदारीपूर्वक कहा कि—'हे वत्स! युद्ध से पहले, आज की भाँति ही भरी सभा में मैंने स्पष्ट घोषणा की थी कि यदि तुम्हारे प्रताप से मैं मथुराधीश इन्द्रसेन को पराजित करूँगा तो मैं प्राणों से भी प्रिय पुत्री सुलक्षणा का विवाह तुम्हारे साथ करूँगा और साथ ही आधा राज्य भी प्रदान करूँगा। इस प्रकार की घोषणा करने के पश्चात्, अब उस पर तुम्हारी इच्छानुसार विचार करना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है। जो राज्यसभा में घोषित किया गया हो, उससे विपरीत तो क्या, उससे कम कार्य करना भी राजाओं को शोभा नहीं देता।'

इस प्रकार वार्तालाप करने के पश्चात् राजा ने कश्चिद्भट को अपनी पुत्री प्रदान करने का निर्णय करके विवाह का दिन निश्चित कर दिया। विवाहोपलक्ष्य में सम्पूर्ण नगर को बहुत सजाया गया। राजा ने अपनी पुत्री का अत्यन्त धूमधाम से कश्चिद्भट के साथ विवाह किया और आधा राज्य भी प्रदान किया। इस प्रकार विवाह हो जाने के पश्चात् वर-वधू को विदाई के लिये अत्यन्त मूल्यवान पालखी में बैठाकर और सागरवृद्धि के घर

पहुँचाया। सार्थपति के घर में उस नवदम्पति का अत्यन्त धूमधाम से स्वागत हुआ और अठारह दिन तक महोत्सव किया गया।

❖ ❖ ❖

पूर्व में उपार्जित पुण्य के फल को भोगनेवाला कश्चिद्भट भी इन सबमें फँसकर अपने पूर्व के बन्धु-बान्धवों को भूल गया था तथा नूतन सगे-सम्बन्धियों में घिरा हुआ रहकर प्रसन्नता से समय व्यतीत कर रहा था। बहुत समय कश्चिद्भट ने अपनी नवीन पत्नी राजपुत्री के साथ प्रसन्नता से व्यतीत किया।

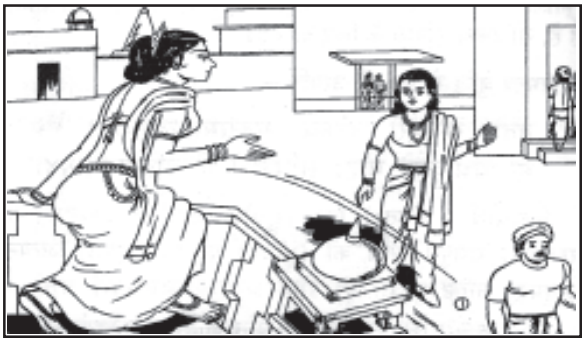

एक दिन की घटना है कि कश्चिद्भट, महाराज देवसेन के साथ योग्य सेवा आदि जानने के लिये अन्त:पुर में प्रवेश कर रहा था। संयोगवश सहजभाव से मनोरमा नामक किसी राजपुत्री ने उसे देखा। कश्चिद्भट के शुद्धरूप और परिपूर्ण यौवन को देखकर उस राजपुत्री का मन उस पर आसक्त हो गया। फिर क्या था? उसकी दैनिक क्रियाओं में भी वह आलस्य करने लगी, क्योंकि प्रेम पीड़ा से अनभिज्ञ वह भोली राजकुमारी, कामदेव का वार सहन नहीं कर सकी। उसकी हरकतों के कारण उसकी सखियाँ भी समझ गयीं कि इसे कामदेव सताता है।

राजनन्दनी नामक दासी उसके मनोभावों को समझ गयी, इसलिए उसने मनोरमा से कहा—'हे सखी! तू किसलिए ऐसे कष्ट सहन करती है? कब तक रहस्य तेरे मन में रख सकेगी? मुझे कहेगी तो मैं अवश्य तुझे सहायरूप होऊँगी।'

यह बात सुनकर मनोरमा ने कहा—'हे सखी! मुझे एकमात्र तेरा ही आधार है। जब मैंने महाराज के साथ कश्चिद्भट को अन्त:पुर में आते देखा है, तब से मुझे अन्यत्र कहीं चैन नहीं पड़ता; तू कुछ भी उपाय करके मुझे उनसे मिला दे। हे सखी! शीघ्र से शीघ्र तू मेरे इस कामदाह को शान्त कर।'

कमलाक्षी राजकुमारी का भाव जानकर उस सखी ने कहा कि—'आर्य! जितने भी उपाय सम्भव हैं, उन सब उपायों द्वारा मैं तेरे मनोगत कार्य को पूर्ण करूँगी।' थोड़े समय में ही उस कुशल सखी ने, किसी को भी ज्ञात न हो, इस प्रकार कश्चिद्भट से एकान्त में जाकर मिली और उसे मनोरमा की प्रेमगाथा पूर्णतः सांगोपांग कह दी।

परम सुन्दर तथा लक्ष्मीवान कश्चिद्भट, सखी के वचन सुनकर ही समझ गया था कि उसका प्रस्ताव अनैतिक और अनेक दोषों से युक्त था। वह व्रती होने से इस प्रकार के विषयों में मेरु समान अडिग था। उसने अत्यन्त विनयपूर्वक दासी से कहा—'तुम्हारा प्रस्ताव सर्वथा अनुचित है। देवीजी! तुम्हारा प्रस्ताव किसी भी दृष्टि से युक्त नहीं है, ऐसा करना किंचित्मात्र भी शोभास्पद नहीं है। तदुपरान्त वरदत्त केवली ने अत्यन्त अनुग्रह करके मुझे स्वदारसन्तोषव्रत ग्रहण कराया था।'

कश्चिद्भट की बात सुनकर सखी बोली—'तुम अनुपम सुन्दर मनोरमा पर इसलिए अनुग्रह नहीं करते कि तुमने केवली के निकट व्रत ग्रहण किया है? यदि ऐसी बात है तो मैं तुम्हें किंचित् भी बुद्धिमान नहीं समझती। हे वीरवर! प्रत्यक्षरूप से सामने उपस्थित फल को छोड़कर आप परोक्ष स्वर्ग सुख की इच्छा रखते हो, इसलिए मेरी दृष्टि में तो आप मूर्ख ही हैं। ऐसे भी व्रतों का पालन करने से स्वर्ग ही मिलता है और स्वर्ग का सार भी देवकन्या ही तो है। तो फिर इतना कठोर व्रत धारण करके भविष्य में कन्या का सुख प्राप्त करो, इसकी अपेक्षा देवकन्या से भी अधिक सुन्दर मनोरमा को अभी अनुगृहीत करना अधिक योग्य लगता है।'

कश्चिद्भट ने मर्यादापूर्वक उससे कहा कि—'इस संसार में जो शुद्ध आत्मा शीलव्रत का पालन करनेवाले हैं तथा जो किसी भी परिस्थिति में होने पर भी, धारण किये हुए व्रत से चलित नहीं होते, वे समस्त संसार में आज भी पूज्य है। ऐसे चारित्रनिष्ठ आत्मा ही दूसरे भव में देव, असुर, तथा मनुष्य योनि में उत्पन्न होकर निरन्तर, सतत तथा सम्पूर्ण लौकिक सुख प्राप्त करते हैं। जो शीलव्रत को धारण करते हैं, वे समुद्र में डुबाये जाने पर भी नहीं मरते; अग्नि की ज्वाला भी उन्हें नहीं जला सकती। देवों में भी इतनी शक्ति नहीं कि उनका अपमान कर सके तथा संसार के समस्त ही विघ्न उनके मार्ग में आकर अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं।

दूसरी ओर देखें तो जिन्होंने अपना शील नष्ट किया है, वे इसी भव में स्थान-स्थान पर अपमानित होकर विविध प्रकार के अनेक दु:ख उठाते हैं। इस जन्म के उपरान्त आगामी भव में वे मूर्ख, नरक में उत्पन्न होते हैं तथा हे भद्र! वहाँ भयंकर से भयंकर दु:ख प्राप्त करते हैं, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है। अपने व्यवस्थित समाज में जो कोई भी शील की मर्यादा तोड़ता है, वह शासकों द्वारा महादण्ड प्राप्त करता है। यह सब सहन करके भी, किसी भी प्रकार से यहाँ अपना मुख दिखाने में समर्थ हो तो भी क्या? क्योंकि यश और दूसरा भव तो बिगड़ ही गया है न! मुझे ही देखो तो मैं स्वयं ही थोड़े समय पहले शीलव्रत के प्रताप से ही एक भयंकर मगर से बचा हूँ। यही सब कारण है कि जो मुझे ग्रहण किये हुए व्रत को तोड़ने के लिये असमर्थ कर देता है। यह भी विस्मृत करने योग्य नहीं है कि मैंने किसी साधारण व्यक्ति से व्रत धारण नहीं किया है, परन्तु साक्षात् केवली से यह व्रत धारण किया है।

अधिक से अधिक मैं इतना कर सकता हूँ कि यदि राजकुमारी के पिता महाराज देवसेन आज्ञा प्रदान करें तो उनकी पुत्री को धार्मिक विधि-विधान से ग्रहण कर सकता हूँ। ऐसा किये बिना यदि मैं कन्या को ग्रहण करूँ तो उससे सर्व साधारण में होनेवाले अपमान को मैं सहन नहीं कर सकता, क्योंकि वह यहाँ ही नहीं परन्तु परलोक में भी हितकारी नहीं होगा।'

जब कश्चिद्भट ने इन युक्तियों द्वारा मनोरमा की सखी द्वारा समझाया तो तब उससे इस एक का भी उत्तर नहीं दिया जा सका, इसलिए वह वहाँ से वापिस सीधे राजपुत्री के समीप जा पहुँची। राजपुत्री को सांत्वना देने के लिये उससे कहा कि—'हे राजपुत्री! तुमने मुझे जो कुछ कहा, वह सब मैंने तुम्हारे प्रियतम को कह दिया है और वह तुम्हारे अनुकूल भी है, इसलिए हे साध्वी! अपनी सखियों के साथ तू आनन्दपूर्वक समय व्यतीत कर और अपना पूरा शृंगार कर। दो-तीन दिन में ही तू अपने प्रियतम के पास पहुँच जायेगी।'

मनोरमा ने कहा—'मुझे पता है कि मुझे सांत्वना देने के लिये ही तू ऐसा कह रही है।' ऐसा कहकर वह बहुत रुदन करने लगी। उसने कहा कि—'जब तक मुझे कश्चिद्भट की प्राप्ति न हो, तब तक मुझे कहाँ शान्ति मिलना है?' इस समय उस राजकुमारी की ऐसी

अवस्था थी कि जैसी अवस्था उस बैल की होती है, जिसके बगल में भभकती अग्नि की ज्वाला उसके आगे के पत्ते को जलाती हुई आगे ही आगे बढ़ती जा रही हो!

वह विचार करती है कि इस जन्म में यदि मुझे कभी भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना ही हो तो सम्यक्त्व के प्रताप से इस सम्यग्दृष्टि कश्चिद्भट के साथ ही मेरा विवाह होगा। अथवा यदि मुझे किसी पुरुष के निकट जाना हो तो वह कश्चिद्भट ही होगा। यदि ऐसा होना अशक्य हो तो सम्यक्चारित्र और सम्यग्ज्ञान की उपासना करना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। श्री जिनेन्द्र द्वारा उपदेशित धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। वह धर्म, स्वर्गरूपी उन्नत स्थान पर पहुँचाने के लिये सुखकर सीढ़ी समान है। इस प्रकार दृढ़ निर्णय करके, अपने धारण किये हुए व्रतों का ध्यान करते हुए अपने प्रेमी का ध्यान करती वह पड़ी थी। ऐसी दशा देखकर निकटवर्ती प्रियजनों को अत्यन्त चिन्ता हो गयी थी।

❖ ❖ ❖

इस दौरान राजा वरांग का दुष्ट घोड़े द्वारा अपहरण होने से राजा धर्मसेन अत्यन्त चिन्तित थे। सभी मन्त्रियों ने विचार-विमर्श करके राजा की प्रिय पत्नी के पुत्र सुषेण को ही राज्यपद प्रदान करने का निर्णय किया और राजा की सम्मति से उसे राज्य-सिंहासन पर आसीन किया गया। राज्यपुत्र सुषेण को जैसे ही राज्यपद मिला कि उसका मुख पूर्ण विकसित नूतन कमल जैसा हो गया। अपनी मानसिक इच्छा पूर्ण होने से उस समय उसकी शोभा असाधारण वृद्धिगत हो गयी। उसका चित्त राज्य सम्बन्धी दायित्वों की अपेक्षा विषयभोग और रंग-राग में अधिक आकृष्ट था, जिससे वह थोड़े समय से अधिक अपने राज्य को उपद्रव आदि अनर्थों से नहीं बचा सका और स्वयं भी आनन्दपूर्वक दिन व्यतीत नहीं कर सका।

एक दिन राजा सुषेण को समाचार प्राप्त हुए कि उसके राष्ट्र (राज्य) पर किसी शत्रु की सेना ने आक्रमण कर दिया है तथा शिष्ट सज्जन नागरिकों का अपमान कर रहे हैं। यह सुनते ही तुरन्त ही संग्राम करने का निर्णय करके, सेना को लेकर स्वयं ही शत्रु के सन्मुख गमनशील हुआ। सुषेण ने अत्यन्त तत्परता तथा युक्ति से शत्रु के समक्ष घोर युद्ध किया परन्तु शत्रु राजा ने क्रोध से भरकर सुषेण की सेना पर प्रति आक्रमण करके उसे सब ओर

से घेर लिया। इस कारण उत्तमपुर की अजेय सेना का अनुशासन टूट गया और वह सेना ऐसे-वैसे नष्ट होने लगी। अन्त में सुषेण शत्रु से रण में पराजित हो गया और एक घोड़े पर बैठकर भागकर अपनी राजधानी में चला गया।

शत्रु की सेना के मार से अपने पौरुष और पराक्रम को धूल में मिलाकर डरपोक की तरह राजधानी में भागकर आनेवाले अपने पुत्र को देखकर महाराज धर्मसेन को अपने पुत्र वरांग की याद आ गयी। वे मन ही मन में वरांग के पराक्रम को स्मरण करते हुए दुःखी होने लगे।

शत्रु राजा को यह समाचार विदित हुए कि भय के कारण सुषेण समरांगण में से भाग गया है और महाराज धर्मसेन वृद्धावस्था के कारण अत्यन्त दुर्बल हैं तो वह उत्तमपुर की विशाल अश्व, रथ तथा गज सेना, अत्यन्त विस्तृत देश तथा विपुल धनराशि से परिपूर्ण कोष ग्रहण करने के लोभ से बच नहीं सका; फलस्वरूप उसने शीघ्रता से राजधानी की ओर आगे बढ़ना शुरु किया। इस प्रकार आगे बढ़ती उसकी सेना ने आधे उत्तमपुर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् उसने दूत को सन्देश लेकर भेजा कि— 'उत्तमपुर का जितना भाग अभी हमारे अधिकार में है, वहाँ तक की नयी सीमा बनाकर विभाजन किया जा सकता है।'

शत्रु का कठोर तथा अशिष्ट वाक्यों से भरपूर पत्र पढ़कर महाराज धर्मसेन क्रोध के आवेश से लाल हो गये। उन्होंने क्रोध में आकर कहा कि—'उनके वंश में क्रम से चली आ रही राजभूमि की सीमा निश्चित है और इतनी ही भूमि उन्हें पर्याप्त भी है। इस समय अहंकार में पागल होकर अथवा जो वह इतने ही राज्य से सन्तुष्ट नहीं होगा तो मैं निश्चय से उस अहंकारी को युद्ध में मारूँगा और उसके कुल क्रमागत राज्य को भी किसी दूसरे ऐसे राजा को सौंप दूँगा जो मेरी आज्ञा मानता होगा।' इस प्रकार अतिक्रोध में दूत को कहकर भेज दिया तथा पीछे ही अपनी चतुरंग सेना लेकर निकल पड़े।

एक योजन चलकर विश्राम के लिये पड़ाव डाला। वहाँ उनके मुख्यमन्त्रियों ने एकत्रित होकर विनयपूर्वक महाराज के समीप जाकर उनके हित की भावना से प्रेरित निवेदन किया कि—'हे महाराज! जहाँ तक आपके पराक्रम और शक्ति की बात है तो उसे

तो सम्पूर्ण संसार जानता है तथा आज तक किसी ने उसका उल्लंघन नहीं किया है। इसलिए आपको निवेदन का कारण यह है कि इस समय हम प्रतिशोध लेने की पूर्ण तैयारी के साथ नहीं आये हैं। आपके शत्रु अधिक नहीं हैं और ऐसा होने पर भी आप उसे तब ही जीत सकेंगे, जब आप अपने मित्र राजाओं को बुलाकर एकत्रित करेंगे। शत्रुओं के मान का मर्दन करनेवाले ललितपुरनगर के प्रसिद्ध राजा देवसेन आपके परममित्र ही नहीं परन्तु आपके सम्बन्धी भी हैं। इसलिए दूत को अभी ही भेजकर समाचार दीजिये, जिसे पढ़कर वे तुरन्त ही यहाँ दौड़े आयेंगे, इसमें सन्देह नहीं है।'

मन्त्रियों की न्याययुक्ति सम्मत बात सुनते ही राजा ने कहा कि—'हे मन्त्रीवर! तुम यह सब कार्य शीघ्र शुरु कर दो।'

❖ ❖ ❖

महाराज धर्मसेन का दूत शीघ्र ही ललितपुर पहुँच गया और राज्यसभा में पहुँचकर अपने राजा का पत्र महाराज देवसेन को प्रदान किया। महाराज देवसेन ने वह पत्र पढ़ा और पढ़ते ही सारी परिस्थिति समझ गये। वे तुरन्त ही दूसरे एकान्त गृह में गये और वणिक राजा कश्चिद्भट को बुलाकर वरांगकुमार का घोड़े द्वारा अपहरण से लेकर दुश्मनों द्वारा चढ़ाई तक की सारी वार्ता कह सुनायी।

राजा देवसेन ने कहा—'हे कश्चिद्भट! तुम पूर्ण रीति से इस राजधानी तथा पूर्ण राज्य की उपद्रवों से मुक्त होकर रक्षा करते हुए यहीं रहो। मेरे मित्र तथा सम्बन्धी पर विपत्ति आ पड़ी है, इसलिए मैं उनकी सहायता के लिये जाना चाहता हूँ।'

महाराज देवसेन का यह निर्णय सुनते ही कश्चिद्भट बोल पड़े कि—'हे गुणसागर! सामने रखा हुआ पत्र पिताजी ने भेजा है, उसे ध्यान से देखो।'

महाराज देवसेन ने पत्र फिर पढ़ा। जैसे-जैसे पत्र पढ़ते गये, वैसे-वैसे कश्चिद्भट की आँखों में से आँसुओं की धारा बहने लगी। उसे देखकर महाराज समझ गये कि यह कश्चिद्भट ही कुमार वरांग है। उन्होंने तुरन्त ही खड़े होकर वरांग को छाती से लगाया। महाराज ने वरांग को यह भी कहा कि—'हे कुमार! आपके निमित्त से ही मेरे द्वारा बड़ी (युवा) हुई सौ पुत्रियाँ हैं, जिन्हें तुम ग्रहण करो।' युवराज वरांग ने महाराज के प्रस्ताव को

सुनकर कहा कि—'मैं आपकी एक सुनन्दा पुत्री से ही परम सन्तुष्ट हूँ।'

ललितेश्वर को अपने दामाद के वचन सुनकर मात्र आनन्द ही नहीं होता था परन्तु उनकी बात भी मानते थे; इसलिए उन्होंने वरांग को बीच में ही बोलने से रोकते हुए कहा कि—'भले बेटा! परन्तु समस्त गुणों से पूर्ण, विकासरूपी भूषणों से अलंकृत मेरी परमप्रिय पुत्री मनोरमा को तो अवश्य ग्रहण करो।' कुमार वरांग स्वभाव से उदार थे, इसलिए मामा के उक्त प्रस्ताव को उन्होंने मान लिया। उनकी अनुमति मिलते ही विवाह की सभी तैयारियाँ शीघ्र ही की गयीं और वरांग का मनोरमा के साथ विवाह हुआ।

तत्पश्चात् अनुपम पराक्रमी युवराज वरांग अपने पिता की राजधानी उत्तमपुर जाने के लिये अपने सार्थपिता की अनुमति प्राप्त करने हेतु उनके निकट गये। उन्होंने कहा कि—'हे पूज्य! जब मैं गहन वन में ठोकर खाकर घूम रहा था, कोई सहायक या मित्र नहीं था, मेरे पिता भी मुझे सहायक नहीं हो सके थे, उस समय आप ही मेरे पिता हुए थे। इसलोक तथा परलोक दोनों में कल्याण करनेवाले आप ही मेरे सच्चे गुरु हो। महाराज देवसेन की अभी क्या इच्छा है, वह तो आप जानते ही हो। मैं भी उनके साथ युद्ध में जाने के लिये अत्यन्त ही उत्सुक हूँ, परन्तु मेरी इच्छा से नहीं किन्तु आपकी सम्मति से जाना चाहता हूँ।'

धर्मपिता सार्थपति ने पुत्र के विनयपूर्वक के वचन सुनकर कहा—'हे सुमते! तुम्हारे बिना मैं भी यहाँ जीवित नहीं रह सकूँगा। तेरे कारण आज मैं पूरे राज्य के लिये इतना मान्य हो गया हूँ कि जिसकी तुलना करना ही असम्भव है। जब तू मुझे छोड़कर चला जायेगा तो तू ही बता कि मैं किसके आधार से जिऊँगा? हे सुमेरु समान धीर-गम्भीर पुत्र! तू जहाँ-जहाँ जाये, वहाँ मुझे साथ ले जा।' धर्मपिता सागरवृद्धि की बात सुनकर युवराज वरांग ने कहा कि—'जैसी आपकी आज्ञा।'

❖ ❖ ❖

तत्पश्चात् महाराज देवसेन के साथ वरांग तथा सेठ सागरवृद्धि सहित सम्पूर्ण सैन्य युद्ध के लिये उत्तमपुर जाने को निकल पड़ा। उत्तमपुर पहुँचकर पहले सागरवृद्धि सेठ, महाराज धर्मसेन के समीप गये और महाराज देवसेन के आगमन के समाचार कह सुनाये

तथा सैन्य के प्रमाण के साथ युवराज वरांग की भी सभी बातें कीं। सार्थपति ने यह भी कहा कि—'हे राजन्! यही आपका पुत्र वरांग है।' यह बात सुनते ही महाराज धर्मसेन की प्रसन्नता की सीमा न रही, और उन्होंने सागरवृद्धि का बहुत ही सम्मान किया।

अपने खोये हुए पुत्र के समाचार सुनकर उससे मिलने की आतुरता के कारण महाराज धर्मसेन अपनी चतुरंग सेना लेकर उससे मिलने गये। उसके निकट पहुँचते ही उनका स्वागत हुआ और महाराज धर्मसेन, युवराज वरांग तथा महाराज देवसेन के गले मिले। अत्यन्त दीर्घ अन्तराल के पश्चात् अपने प्रिय साले को तथा सदा के लिये खोये हुए अपने पुत्र को देखते ही महाराज धर्मसेन को ऐसा आभास हुआ कि आज मैंने इस विशाल पृथ्वी को जीत लिया है, जिसकी सीमा लवण महासमुद्र है। वह पूरा दिन तो बातें करते-सुनते हुए ही व्यतीत हो गया। पश्चात् महाराज धर्मसेन ने संध्या के समय कुमार वरांग को आज्ञा प्रदान की—'हे वत्स! रात्रि आराम से व्यतीत होने के पश्चात् जब सूर्योदय हो, तुरन्त ही प्रातःकालीन सभी विधि करके राजधानी की ओर प्रस्थान कर देना। नगर में प्रवेश करने के बाद शीघ्र ही सर्व प्रथम अपनी माता से मिलना।'

युवराज वरांग स्वभाव से ही दारुण योद्धा था; इसलिए महाराज की आज्ञा सुनते ही उसने कहा—'हे नाथ! जो शत्रुरूपी अतिथि युद्ध करने के लिये आया है, पहले मैं उसका शस्त्रों से स्वागत करूँगा। इस प्रकार उसका स्वागत करने के पश्चात् ही मैं राजधानी में प्रवेश करूँगा।'

❖ ❖ ❖

सुषेण के विजेता वकुलेश्वर को जब महाराज देवसेन के कुमार वरांगसहित आने के समाचार उनके गुप्तचरों के द्वारा प्राप्त हुए, तब उनकी सेना का प्रमाण और कुमार वरांग का नाम सुनकर वह वापस अपने राज्य की ओर भाग गया। इस ओर महाराज धर्मसेन के गुप्तचर, वकुलेश्वर की सेना का प्रमाण जानने आये थे, वही उन्हें पता लगा कि वह तो अपनी सैन्यसहित भाग गया है। यह प्रसन्नता के समाचार देने के लिये गुप्तचर शीघ्र ही वापिस आये। समाचार सुनते ही तीनों राजाओं की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। तुरन्त ही राजा की आज्ञा से विजय दुन्दुभी बजायी गयी। तत्पश्चात् सबने नगर की ओर प्रयाण किया।

राज्यभवन में पहुँचते ही सबका भव्य स्वागत हुआ तथा अपने पिता, मामा और मन्त्रियों के आग्रह से वरांग का पुनः राज्याभिषेक किया गया और उसे राज्यभार सौंप दिया गया। यद्यपि वरांग की इच्छा कुछ दूसरी थी परन्तु सबके आग्रह के कारण इस समय वह कुछ बोल नहीं सका। तत्पश्चात् वह अत्यन्त प्रेम से अपनी माता, बहिनों, पत्नियों से मिला और आराम से सभी बातें करके उन्हें प्रसन्न किया।

देखो, संसार की विचित्रता! पहले अधम कुमन्त्री की सम्मति मानकर तथा पूर्वजन्म के किये हुए अपने कुकर्मों के फल का उदय आने से वरांग को जंगलों में भटकना पड़ा तथा पूर्व कर्म के पुण्य के उदय से ही फिर वापिस आज वही सिंहासन पर बैठा है, जहाँ से वह नीचे गिरकर जंगल में भटकता था।

इस मनुष्य योनि में जीव पर बहुत विपत्तियाँ आती हैं, घोर संकट आ सकते हैं। विपुल सम्पदाओं का समागम होता है, कभी वियोग है तो कभी संयोग है; एक समय समृद्धि है तो दूसरे ही समय सर्वतोमुख हानि है परन्तु जो सज्जन प्राणी श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हैं; तीन लोक में क्या सार है, उसे भलीभाँति जानते हैं; जिनका आचार-विचार उदार है; शुद्धि युक्त मार्ग की आराधना करते हैं तथा निर्दोष आचरण का पालन करते हैं, वे ही महापुरुष इस भव तथा परभव में निश्चय से सुख प्राप्त करते हैं।

❖ ❖ ❖

बहुत समय व्यतीत होने के पश्चात् एक दिन ललितेश्वर महाराज देवसेन, धर्मसेन के निकट गये और वापिस अपनी राजधानी जाने की इच्छा व्यक्त की। महाराज धर्मसेन ने अत्यन्त प्रेम से अनेक भेंट प्रदान कर उन्हें विदा किया।

अब वरांग के राज्य में सब ही सुखी थे; मात्र सुषेण, उसकी माता और कपटी मन्त्री को छोड़कर। क्योंकि इन तीनों ने अकारण ही राजा वरांग के प्रति घोर अपराध किया था। वे विचार करते थे कि अनुपम पराक्रमी तथा असहाय तेजस्वी राजा वरांग के धर्म को धन्य है तथा उनकी क्षमाशक्ति और गम्भीरता का तो कहना ही क्या ? कि पूर्ण प्रभुत्व मिलने पर भी अपने पर-सुनिश्चित अपराधियों पर करुणाभाव ही प्रदर्शित करते हैं और अपने जैसे दुराचारियों को भी सुखपूर्वक रहने देते हैं।

मन्त्री ने रानी तथा सुषेण दोनों को कहा कि—'अपने को ऐसे समय में वृथा अभिमान छोड़कर राजा वरांग से क्षमायाचना करने और उनके दर्शनार्थ अवश्य जाना चाहिए। देखो, तुम दोनों ने पहले भी मेरी सलाह नहीं मानी थी, जिसका फल सामने ही है।' पश्चात् तीनों ने मनविनिमय करके नूतन राजा से माफी माँगने का निर्णय किया, तथापि वे इस आशंका के कारण अत्यन्त भयभीत थे कि यदि राजा दण्डित करेगा तो! ऐसी अवस्था में ही वे लोग एकान्त स्थान में विराजमान राजा वरांग के समीप पहुँचे।

वहाँ जाकर उन्होंने कहा—'हे प्रभु! तुमने मन से भी हमारा कुछ बिगाड़ नहीं किया था, तथापि नीच कार्य करने में हम दुरात्माओं ने आपके प्रति महान नीच अपराध किये हैं, परन्तु हम जीवित रहना चाहते हैं और इसी आशा से हम आपकी शरण में आये हैं। हे नाथ! इस समय हमारे जैसे पतितों पर दया कर हमें क्षमा करके प्रसन्न होओ।'

राजा वरांग ने जब अपनी सौतेली माता को आते हुए देखा, तब उन्होंने आसन परित्यागकर प्रणाम करके कहा कि—'तुम ऐसा अनुचित विनय मत करो।' पश्चात् वह सुषेण से गले मिला और मन्त्री को कहा कि—'तुम किसी भी प्रकार का भय मत करो।' इस प्रकार कहकर सबको धैर्य बँधाया। जिन लोगों ने इस धरती पर मुझसे विरुद्ध आचरण किया है अथवा मुझसे संग्राम करने का दु:साहस किया है, उन्हें मैं ढूँढ़कर यमलोक पहुँचा देता हूँ परन्तु जो मेरी आज्ञानुसार आचरण करते हैं, उनका मैं सब प्रकार से पालन पोषण करता हूँ – ऐसा मेरा दृढ़ मानना है।

जो साधु स्वभावी पुरुष उन व्यक्तियों को भी क्षमा कर देते हैं, जिन्होंने उनके प्रति अक्षम्य अपराध किये थे, उन सज्जन प्राणियों को ही विवेकी महानुभाव क्षमाशील कहते हैं, परन्तु घातक अपराध करनेवाले के साथ भी जो विशेष व्यवहार इसीलिए किया जाता है कि वे अपराधी अनेक गुण और कलाओं का भण्डार है। ऐसी क्षमा को तो दैवकृत क्षमा ही समझना चाहिए।

वरांग के नीतिपूर्ण उदार वाक्यों से सुषेण, उसकी माता तथा मन्त्री, ये तीनों निश्चिन्त हो गये। उनकी अनिष्ट की आशंका और शोक बिल्कुल नष्ट हो गये। युवराज के अनुपम क्षमाभाव ने सुषेण आदि तीनों के हृदयों को मैत्रीभाव से रंग दिया। उनके चले जाने

के पश्चात् युवराज वरांग अपने धर्मपिता सागरवृद्धि के साथ अपने पिता महाराज धर्मसेन के निकट गये।

युवराज वरांग ने पिता से कहा—'हे महाराज! अपने पूर्वजों के समय से चले आ रहे इस उत्तमपुर पर आपका शासन तो है ही; मेरे सौतेले भाई सुषेण का भी आधे राज्य पर जन्मसिद्ध अधिकार है। तदुपरान्त आप सबके प्रताप से मुझे भी इस पद नियुक्त कर दिया है। इस प्रकार वर्तमान में तीन राजा यहाँ विद्यमान हैं। अब आप ही कहो कि एक ही नगर में तीन राजा किस प्रकार रह सकते हैं? हे जनक! यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके श्रीचरणों के प्रसाद से मैं मेरे राज्यभाग में वर्तमान में मनुष्यों की बस्ती से सर्वथारहित वन को लेकर नये नगरों को बसाऊँगा, यदि आपका मुझ पर सच्चा स्नेह हो तो मुझे जाने की आज्ञा प्रदान करें। किसी भी कारण से मुझे रोकें नहीं।'

पुरुषार्थी पुरुष सिंह के लिये सर्वथायोग्य पुत्र के वचन सुनकर महाराज धर्मसेन ने उत्तर दिया—'हे पुत्र! वास्तव में तू ही मेरा पुत्र कहलानेयोग्य है। वृद्धावस्था में मुझे तुम्हारा ही सहारा है और तू ही मेरे जीवन के अन्तिम दिनों का भले प्रकार निर्वाह कर सकता है। इन सब कारणों से तुम्हारा हमें छोड़कर चले जाना शोभा नहीं देता।'

पूज्य पिता के हृदय में से निकले हुए शब्दों को सुनकर वरांग ने इतना ही कहा कि—'हे महाराज! मुझे पता है कि आपको मेरे प्रति अधिक स्नेह है, तथापि मेरा मन ऐसा ही करने के प्रति प्रेरित है; इसलिए आपसे निवेदन करता हूँ कि आप मुझे नूतन देशों को जीतने की आज्ञा अवश्य प्रदान करें।'

युवराज वरांग के वचन सुनकर राजा को स्पष्ट हो गया कि उनके प्राणप्रिय पुत्र ने विजय यात्रा पर जाने का निर्णय कर लिया है। तब राजा ने उससे कहा—'हे पुत्र! तेरे सब मनोरथ शीघ्र पूर्ण हों।' आज्ञा प्राप्त होते ही युवराज वरांग ने पिता और धर्मपिता दोनों के चरणों में प्रणाम किया तथा अपनी माता आदि समस्त सम्बन्धियों से मिलकर आज्ञा प्राप्त कर ली। इस कार्य से निवृत्त होकर उसने उन्हीं लोगों को अपने साथ जाने की आज्ञा की कि जो प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक उसका साथ देना चाहते थे। जब सभी तैयारियाँ हो गयीं, तब महावैभव के साथ उसने उत्तमपुर से प्रयाण किया। महाराज धर्मसेन की आज्ञा से

अनुभवी तथा कुशल सेनानायक, योद्धा, मन्त्री तथा असाधारण विद्वान जो कि पुत्र के नूतन राज्य के भार को सहज सम्हाल सकें, ऐसे सभी कर्मचारी वरांग के पीछे-पीछे चलने लगे।

चलते-चलते वे मणिमन्त पर्वत पर पहुँचे। सरस्वती नदी और मणिमन्त पर्वत, इन दोनों के बीच जो विशाल अन्तराल है। उस भूमि पर प्राचीन समय में श्रीकृष्ण महाराजा ने कंस को मारकर आनर्तपुर नगर बसाया था। इस प्राचीन इतिहास का जब वरांग को परिज्ञान हुआ तो उन्होंने राजनीति आदि शास्त्रों के पारंगत तथा सूक्ष्म विचारक अनन्तसेन आदि अनुभवी मन्त्रियों के साथ चर्चा करके उसी स्थान पर पहले की तरह ही नगर का निर्माण कराया।

राजा वरांग के पूर्व पुण्य के उदय के प्रताप से जब आनर्तपुर के निर्माण सम्बन्धी समाचार चारों ओर प्रसारित हुए तो यह सुनते ही समस्त दिशाओं से महासम्पत्तिशाली सज्जन लोग उस नगर में आये। राजा वरांग ने जो-जो कार्य करने का निश्चय किया था, वे सब पूर्ण हो गये। एक दिन सुखपूर्वक प्रखर प्रतिभाशाली मन्त्रियों के साथ बैठे-बैठे मन में ही उन उपकारों को याद कर रहे थे, जो सेठ सागरवृद्धि ने उन पर किये थे। उनका ध्यान होते ही कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिये एक अच्छा अवसर देखकर मन्त्रियों की सम्मतिपूर्वक सार्थपति के राज्याभिषेक की आज्ञा की।

राजा के उदारतापूर्ण प्रस्ताव को सुनते ही सेठ सागरवृद्धि समझ गये कि बुद्धि के अवतार राजा वरांग का उनके प्रति कितना अधिक अनुग्रह था। परन्तु वे यह भी जानते थे कि वणिक होने के कारण वे राज्यलक्ष्मी के उपयुक्त नहीं थे। इस विचार को ठीक समझकर उन्होंने राजा से कहा—'हे राजन! मेरे वंश में उत्पन्न हुए मेरे किसी भी पूर्वज को राज्याभिषेक कराने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए मेरे कुल में अनादिकाल से जो परम्परा चली आयी है, उसे तोड़कर मैं राजा बनूँ, यह मुझे शोभा नहीं देता।'

सार्थपति सागरवृद्धि के बुद्धिमतापूर्ण ऐसे वचन सुनकर राजा वरांग ने आग्रहपूर्वक यही निवेदन किया कि—'हे तात्! आप इस विषय में अधिक कुछ भी न कहें। थोड़ा विचार करें कि जिनका पुत्र सर्वमान्य राजा है, उसके पिता वणिक हैं! इस बात को जगत में जो कोई सुनेगा, वह बहुत हँसेगा। क्या आप यह विचार नहीं करते?' इस प्रकार निवेदन

करने के बाद धर्मपिता के विरोध को ध्यान में लिये बिना ही राजाओं की तरह ही उनका भी राज्याभिषेक हुआ। उस समय ही घोषणा कर दी कि श्रीमान् राजा सागरवृद्धि आज से विदर्भनगर के राजा हुए। राजा सागरवृद्धि के ज्येष्ठ पुत्र को आग्रहपूर्वक कौशल का राज्य तथा कनिष्ठ पुत्र को कलिंग देश का राज्य प्रदान किया। महामन्त्री अनन्तसेन को पल्लव देश का राज्य दिया। इस प्रकार सब मन्त्रियों को उनके योग्य देश का शासन सौंप दिया।

राजा वरांग, सुषेण को भी विशाल राज्य देना चाहते थे परन्तु अब उनके पास कोई राज्य ही नहीं रहा था। इसी चिन्ता में बैठे-बैठे अचानक उन्हें वलुकेश्वर की याद आ गयी, जिसने उनके पिता का अपमान किया था। यह अपमान याद आते ही राजा वरांग ने पत्र देकर दूत को वलुकेश्वर के पास भेजा, जिसमें लिखा था कि—'या तो युद्ध कर या तो राज्य छोड़कर वन में चला जा।' यह समाचार सुनते ही मन्त्रियों सहित वलुकेश्वर भी भयभीत हो गया। उसने अपने मन्त्रियों को इस परिस्थिति का मार्ग निकालने के लिये विचार करने को कहा।

मन्त्रियों का मत ऐसा हुआ कि इस परिस्थिति में से बचने का एक ही उपाय है और वह यह है कि राजपुत्री मनोहरा को शास्त्रानुकूल विधि से आनर्तपुर नरेश वरांग के साथ विवाह कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। वलुकेश्वर भी मन्त्रियों के अभिप्राय में सहमत थे; अत: तद्नुकूल निर्णय करके अपनी पुत्री को लेकर वलुकेश्वर आनर्तपुर पहुँचे और राज्यसभा में पहुँचकर दूर से ही राजा वरांग को देखकर प्रणाम किया और कहा कि—'हे महाराज! जो राज्य मेरे वंश में कितनी पीढ़ियों से चला आ रहा है, उस मेरे राज्य को आप अपनी इच्छा से किसी को भी सौंप दें, परन्तु हे नरनाथ! मैंने आपके पूज्य पिताजी पर आक्रमण करके जो अपराध किया है, उसे क्षमा करें।'

राजा वरांग तो स्वभाव से ही साधु परिणामी थे। उन्होंने अपने शत्रु को क्षमा कर दिया। तत्पश्चात् वलुकेश्वर ने अपनी पुत्री मनोहरा का महाराज वरांग के साथ विधिपूर्वक विवाह कर दिया।

तत्पश्चात् राजा वरांग अपने परिवारीजनों के साथ सुख मग्न रहे। एक दिन जब राज्य की टहल मारकर वापिस आ रहे थे, तब उनकी अनुपमा नामक पटरानी ने उन्हें

देखा। वह रानी उनके विचारों में मग्न थी। इतनी देर में राजा अचानक उनके पीछे आकर खड़े हो गये। थोड़ी देर बातें की और फिर दोनों ने धर्म की बहुत चर्चा की। महाराज वरांग ने रानी को नन्दीश्वर विधान का महत्त्व समझाया तथा जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा का भी महत्त्व समझाया। उन्होंने कहा कि—**हे भद्रे! जो भव्य जीव विधिपूर्वक जिनबिम्ब की स्थापना करके प्रतिदिन शुद्ध भाव और द्रव्य द्वारा उनका पूजन करते हैं, वे थोड़े ही समय में सर्वज्ञतारूपी फल को प्राप्त करते हैं। संसारचक्र में घूमते हुए जिन जीवों ने अपने पूर्वभवों में वीतराग प्रभु की शुद्ध भाव और द्रव्य से उपासना की थी, वे ही आगे बढ़कर त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर बने थे।**

तत्पश्चात् राजा वरांग ने एक भव्य जिनमन्दिर की स्थापना करायी तथा स्वयं ही जिनप्रतिमा की स्थापना की। यह भव्य उत्सव पूर्ण होने के पश्चात् राजा ने कितने ही दिनों तक किमिच्छक दान प्रदान किया, जिससे उनके राज्य में कोई दु:खी नहीं रहा।

❖ ❖ ❖

आनर्तपुर के अधिपति सम्राट वरांग की समस्त अभिलाषायें ही पूर्ण नहीं हुई थी, अपितु संसार में जितना भी श्रेय था, वह सब अपने आप ही उनकी शरण में पहुँच गया था। वे प्रतिदिन प्रात:काल से सन्ध्या समय तक सत्कार्य तथा पुण्यमय उत्सवों में ही व्यस्त रहते थे। समस्त गुणों की खान सम्राट वरांग, जनता के आदर्श थे तथा उनका पौरुष अनुपम था।

जिनमन्दिर का महोत्सव पूर्ण होने के पश्चात् सम्राट वरांग की पटरानी अनुपमा ने गर्भ धारण किया। नव मास पूर्ण होते ही उसने अति तेजस्वी-कान्तिमान बालसूर्य को जन्म प्रदान किया। भविष्य वक्ताओं ने शास्त्रोक्तविधि से कुण्डली देखकर स्पष्ट विदित किया कि यह बालक भविष्य में विशाल साम्राज्य का एकमात्र भोक्ता होगा। गुरुजनों ने उसका नाम 'सुगात्र' रखा। उसमें पिता से एक भी गुण की कमी नहीं थी, अर्थात् गुणों में पिता-पुत्र दोनों एक समान थे। अवस्था के हिसाब से वह अभी बालक था परन्तु शील आदि गुणों से वह वृद्ध था।

पटरानी अनुपमा की तरह सम्राट वरांग की अन्य पत्नियों को भी पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। उन सबमें भी समान गुणों की उपलब्धि थी। सम्राट वरांग के सभी पुत्र रूप, शील,

पराक्रम आदि में नागकुमार देवों के समान थे।

❖ ❖ ❖

एक दिन की बात है कि सम्राट वरांग अपने महल की छत पर बैठे हुए थे। उस समय उनके तेजस्वी रूप को देखकर इन्द्र का स्मरण हो जाता था। सम्राट उस समय स्वभाव से भी अत्यन्त शान्त थे। उनके चारों ओर उनकी रानियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं। देवराज इन्द्र अपनी राजधानी अल्कापुरी में स्वर्गीय सुन्दर अप्सराओं के साथ जैसे नि:शंकरूप से विविध केली तथा विहार करता है, उसी प्रकार सम्राट वरांग भी आनन्दपुरी में अपनी लोकोत्तर रूपवती पत्नियों के साथ रमण करते थे।

शरद ऋतु की रात्रि का वह प्रथम प्रहर था। आकाश बादलों से शून्य था, जिससे वह अनेक प्रकार के अद्‌भुत तारों की आभा से आभासित हो रहा था। ऐसे शान्त वातावरण युक्त आकाश में अकस्मात ही उल्कापात हुआ। उसका प्रकाश चारों ओर व्याप्त हो गया। सम्राट वरांग ने अपनी सुकुमार सुन्दर पत्नियों के साथ वह दृश्य देखा और ऐसा होने पर सम्राट पर ही उस दृश्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्हें प्रगाढ़ वैराग्य उत्पन्न हो गया।

वे कहने लगे कि—'सुकुमार ज्योतियुक्त तारिकाओं से घिरी हुई यह उल्का जिस प्रकार आकाश में से अकस्मात् ही गिरकर कहीं लुप्त हो गयी है, उसी प्रकार अनुपम रूपवती इन प्राण प्यारी पत्नियों से घिरा हुआ मैं भी किसी दिन इस राज्यपद से च्युत होकर कौन जानें कहाँ लुप्त हो जाऊँगा।

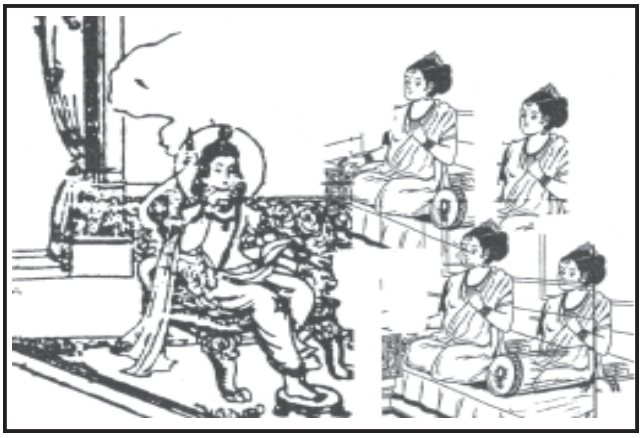

जिस समय मैं उत्तमपुर का युवराज था, तब भी मेरे पास सब कुछ होने पर भी सबके देखते ही देखते वह दुष्ट घोड़ा मुझे अज्ञात जंगल में ले गया और कोई मुझे उससे बचा नहीं सका था। क्या मैं पूर्व जन्म में किये हुए पापकर्मोंरूपी दुर्दम घोड़े पर आरूढ़ होकर आज भी –

इस क्षण भी जन्म-मरणरूपी महावन में नहीं घूम रहा ? क्या मेरा वास्तविक विवेक नष्ट नहीं हो गया ? क्या इस भ्रमण समान आज भी मैं धर्म मार्गरूपी राज्यपद से पुनः भ्रष्ट नहीं हो गया ?'

इस प्रकार संसार के अपार तथा भीषण दुःखों का स्मरण करके वे काँप उठे। इन्हीं विचारों में लीन रहकर वे विलास सभा से उठकर अपने एकान्त गृह में चले गये। संसार के विषयभोगों से उन्हें स्थायी विरक्ति उत्पन्न हो गयी। आत्मा के पूर्ण विकास के साधक तत्त्वमार्ग पर पूर्ण आस्था हो गयी। परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बनने का निर्णय वे कर चुके थे, इसलिए जैसे ही वे एकान्त गृह में पहुँचे कि तुरन्त ही जगत के स्वभाव के सम्बन्ध में विचार करने लगे। अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे।

जो मनुष्य इस अनुपम मनुष्य पर्याय को इन्द्रियों की तृप्ति करने में ही व्यतीत कर देता है, वह व्यक्ति अगाध, अपार, समुद्र के बीच दो-चार कीलों के लिये अपनी नौका तोड़ डालता है। एक साधारण डोरे के लिये वैडूर्यमणि के हार को तोड़ता है। थोड़ी सी राख के लिये चन्दन के वृक्ष को जलाता है! हाथ में आये हुए अमृत को छोड़कर विष को पीता है।

मेरी अवस्था भी ऐसी ही होगी, यदि मैं तत्त्वज्ञान से विमुख होकर इस धर्म को छोड़ दूँगा कि जो इसलोक तथा परलोक में सभी सुख देता है तथा उन कर्मों में लीन हो जाऊँगा कि जो निरन्तर प्रत्येक अवस्था में पापबन्धन के कारण हैं। इस समय मुझसे अधिक निन्दनीय दूसरा कौन होगा ?

अनेक दुःखमय पर्यायें व्यतीत करने के पश्चात् यह अमूल्य मनुष्य पर्याय प्राप्त हुई है। सौभाग्य से सुरूप, सुबुद्धि आदि सब प्रशस्त गुण भी मुझमें हैं, तथापि यदि मैं मनुष्य जन्म के साररूप रत्नत्रय को ग्रहण नहीं करता तो मुझसे बड़ा मूर्ख कौन होगा ? अभी तक मोह ने मेरे विवेक पर पर्दा डाल दिया था, जिससे धर्ममय आचार-विचारों को मैं भूल गया था। अभी मैं जो-जो पापमय कुकर्म यहाँ कर रहा हूँ, उन-उन कर्मों का कुफल अनेक दुःख तथा अकल्याण के रूप में अनेक जन्मों तक मुझे भोगना पड़ेगा।

सांसारिक विषयभोगों में लीन मनुष्य का आयुष्य लम्बा नहीं होता। यह वैभव, सम्पत्ति, सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदि भी सदा नहीं रहते। जिस प्रकार आकाश में बिजली और बादल लुप्त-नष्ट हो जाते हैं, वैसे मनुष्य भी जो उत्पन्न हुए हैं, एक दिन उनका मरण अवश्य होता है।

मनुष्य जीवन की अनित्यता जानकर, अत्यन्त अशरणता के रहस्य में बैठकर तथा सभी प्रकार से इसी निष्कर्ष पर आने के बाद कि - जीव को दुःख से कोई भी शक्ति बचा नहीं सकती, तथापि यदि मैं मुनिधर्म अंगीकार न करूँ तो मैं मुझे सभी प्रकार से ठगा हुआ समझना चाहिए। पुत्रों की प्राप्ति होने से भी आत्मा को क्या लाभ होनेवाला है ? क्योंकि वे सब संसाररूपी अंकुरता के महापरिणाम हैं! सम्पत्ति भी क्या सुख देगी कि जो स्वयं ही सब दुःखों का मूल कारण है! जिसके विचारों को मन से निकालना असम्भव है-ऐसी प्राणाधिका पत्नी भी किस काम की ? उसे तो साक्षात् हृदयचोर, घातक शत्रु तथा दारुण सर्प ही समझना चाहिए क्योंकि वह अनेक अपवित्रता का भण्डार है। सगे-सम्बन्धी भी क्या रक्षा करनेवाले हैं ? वे स्वयं ही मनुष्य को जीवित बन्धन हैं, अनेक प्रकार की दुविधाओं को जन्म देते हैं तथा ऐसे समर्थ साधन हैं कि जो सरलता से अनेक अनर्थों को उत्पन्न कर देते हैं।

अपने पुरुषार्थ से कमायी हुई सम्पत्ति भी किस काम की है ? वह व्यर्थ में ही असाता के कठोर बन्धन में बाँध देती है, सब ही अनर्थों की ओर प्रेरित करती है, फलस्वरूप संसाररूपी वन में घसीटनेवाले अशुभकर्मों के बन्ध का कारण बनती है। विपुल पुरुषार्थ और पराक्रम से खड़ा किया हुआ राज्य भी परमार्थ सिद्ध नहीं करता, उसके कारण दिन-रात चिन्ता करनी पड़ती है तथा अनेक पाप करने के कारण संसार-परिभ्रमण भी बढ़ता है। विषयभोगों की भी क्या उपयोगिता है ? उनका स्वाद लेने के लिये पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है तो भी कभी तृप्ति नहीं होती। परिणाम आता है चारों गतियों में भ्रमण, कि जो शोक-दुःख से परिपूर्ण है।

अपने पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप जीवों को इस विस्तृत भुवन में समस्त सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। जो इष्ट है, उसकी प्राप्ति नहीं होती; जो अनिष्ट है, वह साथ नहीं छोड़ता। संयोगवश जो इष्ट समागम होता है, उसका भी वियोग हो जाता है तथा अनिष्ट से थोड़ा समय छुटकारा मिलता है तो फिर तुरन्त ही उससे भी दृढ़ उसका ही संयोग

हो जाता है। मान का अभाव और पद-पद पर अपमान सामने खड़ा ही होता है।'

❖ ❖ ❖

सम्राट के हृदय में वैराग्य ने घर कर लिया था; इसलिए उन्होंने तुरन्त ही अपने परम आदरणीय और विश्वस्त सेठ सागरवृद्धि को बुलाया और कहा कि—'हे मान्यवर! मेरे पूज्य पिता महाराज धर्मसेन अपने कर्म से ही मेरे पिता हैं परन्तु आप तो निःस्वार्थ स्नेह के कारण मेरे धर्मपिता का स्थान प्राप्त हुए हो। मैं जब जंगल में भटकता था, तब आपने ही मुझे शरण दी थी और जब भील के साथ युद्ध करके मरणासन्न हुआ, तब आपने ही मुझे बचाया था। आपने मेरे सुख-दुःख को इस प्रकार से ही अनुभव किया है कि जिस प्रकार लोग अपने को समझते हैं। मेरे राज्यप्राप्ति के अवसर पर आपने ही मुझे मुक्त करके राज्यसिंहासन पर बैठा दिया था। इस प्रकार आप मेरे माता-पिता समान ही नहीं, परन्तु हितोपदेशी गुरु भी हैं। आप मेरे परम पूज्य हो, इसलिए मेरा कर्तव्य है कि कुछ भी कार्य करने से पहले आपकी आज्ञा मुझे प्राप्त करनी चाहिए। इसलिए आपको अपनी इच्छा कहता हूँ, यदि आपको योग्य लगे तो मुझे अवश्य सम्मति देना।

हे साधु! आनर्तपुर तथा उससे पहले उत्तमपुर में जिस प्रकार से आपने मेरा राज्याभिषेक कराया था, उसी प्रकार अब मेरे ज्येष्ठ पुत्र सुगात्र को आनर्तपुर की राज्यलक्ष्मी का स्वामी बनाने की कृपा करो, क्योंकि कुमार सुगात्र राज्यपद के लिये सुयोग्य है। आप भी स्वाभाविक रुचि से विस्तृत साम्राज्य तथा प्रजा के साथ-साथ कुमार सुगात्र का भी अभ्युदय करना। मैं यह आपको इसलिए कहता हूँ कि मुझे लोक के विषयभोगों से विरक्ति हो गयी है। अब तो आप लोगों का आशीर्वाद लेकर मैं तप करूँगा। हे पिताजी! अब मुझे आज्ञा प्रदान करो।'

सम्राट वरांग के वचन सुनकर धर्मपिता को अत्यन्त दुःख हुआ। इष्ट वियोग की आशंका हो गयी। सेठ ने सम्राट को बहुत प्रकार से समझाया। सांसारिक दृष्टि से वे एकदम सत्य थे परन्तु अपने आत्महित के लिये वह सब असत्य ही था। धर्मपिता के वचन सुनकर सम्राट ने उनके समक्ष संसार का वास्तविक नग्नस्वरूप बतलाया। सेठ सागरबुद्धि ने सम्राट के वचन सुनकर कहा कि—'अभी तक मैंने तुम्हें सब प्रपंचों में साथ दिया है;

इसलिए अब यदि मैं तुमसे अलग हो जाऊँ तो वास्तव में मुझसे अधम कोई नहीं है; इसलिए आज भी मैं तुम्हारे ही मार्ग में मेरी शक्तिप्रमाण चलूँगा।'

तत्पश्चात् सम्राट के कहने से सेठ अन्त:पुर में जाकर उनकी समस्त रानियों को उनके निकट बुला लाये। सम्राट ने अपनी समस्त रानियों से क्षमायाचना की और अपनी दीक्षा की भावना उन्हें कह सुनायी। यह सुनते ही सभी रानियाँ जोर-जोर से रोने लगीं तथा उनके मुख कमल तुरन्त ही मुरझा गये। उन्हें सूझता नहीं था कि हमसे ऐसी क्या भूल हो गयी कि सम्राट हमें छोड़कर वैराग्य धारण करने को तैयार हुए हैं। सम्राट ने अपनी रानियों को भी समझाया। सम्राट के वचन सुनकर उनकी रानियों ने भी उनके साथ दीक्षा लेना निश्चित किया।

तत्पश्चात् सम्राट वरांग, महाराज धर्मसेन के निकट आज्ञा लेने पहुँचे। राजा ने भी यह बात सुनी तो उन्हें भी बहुत दु:ख हुआ। उन्होंने वरांग से कहा—'बेटा! आनर्तपुर और उत्तमपुर का राज्य तेरे आधीन ही है। तू चला जायेगा तो इन दोनों राज्यों का क्या होगा?' उन्होंने यह भी कहा कि—'तप तो बहुत दुष्कर है और तू अभी बालक है। तू कष्ट सहन नहीं कर सकेगा, वृद्धावस्था में तप ग्रहण करना।'

पिता के वचन वरांग ने विनयपूर्वक सुने। तत्पश्चात् सम्राट वरांग ने पिता से कहा कि—**'जब भवन में आग लग जाये, तब समझदार पुरुष बाहर भाग जाने का प्रयत्न करते हैं परन्तु जो शत्रु होते हैं, वे उन्हें पकड़कर वापिस आग में डाल देते हैं। मैं भी अभी सांसारिक दु:खरूपी ज्वाला में से निकलना चाहता हूँ तो हे महाराज! आप मुझे शत्रु समान फिर से उस ज्वाला में मत डालो।**

समुद्र के भंवर में निकलकर महाकठिनाई से किनारे पर आये हुए को कोई शत्रु ही फिर से धक्का मारकर वापिस समुद्र में डालता है। दुर्गतिरूपी घातक लहरों से व्याप्त समुद्र में, हे पिताजी! आप मुझे मत फेंको। मैं वैराग्यरूपी अमृत ग्रहण करने जा रहा हूँ, वहाँ आप मुझे राज्यलक्ष्मीरूपी विष ग्रहण करने के लिये मजबूर न करो।

कोई शत्रु आक्रमण करके सम्पत्ति छीन लेता है, कोई अपने अंग को काट डालता है तथा कोई मार ही डालता है परन्तु जो पुरुष धर्माचरण में बाधक होता है,

वह निर्दय है। क्योंकि वह एक-दो भव नहीं परन्तु सैकड़ों जन्मों के सुख को मिट्टी में मिला देता है।'

पुत्र के ऐसे वचन सुनकर महाराज धर्मसेन ने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि—'हे बेटा! संसार में मनुष्य के प्रारब्धकार्य में अनेक प्रकार से विघ्न खड़ा किया जा सकता है, परन्तु इन सबसे बहुत ही अधिक तथा भव-भवान्तर बिगाड़नेवाली यह बाधा है जो धर्म कार्य में की जावे! यह सब जानने पर भी मैंने तुझे इतना सब कहा, वह मात्र पितृस्नेह के कारण ही कहा है, कि जिसका परिणाम निश्चय से दु:खदायी ही होगा परन्तु तू इन सब वाक्यों पर ध्यान नहीं देना क्योंकि तेरा दृष्टिकोण विशाल है।'

पुरुष सिंह वरांग को सबसे अधिक कठिनता का अनुभव तो तब हुआ कि जब वे अपने माताओं से विदा लेने गये थे, तथापि किसी युक्ति और उपाय से उनसे भी आज्ञा ले ली। सबसे मिलने के पश्चात् अन्त में उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुगात्र को राज्यसभा में बुलाया। उससे सारी बात कही। राज्य में लोकप्रिय, न्यायनीति आदि का उपदेश दिया। तत्पश्चात् सुगात्र का राज्याभिषेक किया गया।

❖ ❖ ❖

इस प्रकार कुमार सुगात्र का राज्याभिषेक होते ही सम्राट वरांग ने वन की ओर गमन किया। उनके साथ उनकी रानियाँ तथा धर्मपिता भी चले गये। वे चलते-चलते सिद्धाचल पर्वत पर पहुँचे, जहाँ श्री नेमिनाथ भगवान के प्रधान गणधर श्री वरदत्त केवली विराजमान थे। वहाँ पहुँचकर केवली परमात्मा की भावभीनी वन्दना आदि करके सम्राट वरांग ने केवली भगवान से प्रार्थना की—'हे सर्वज्ञदेव! तीन लोक के जीवों को आप ही एकमात्र आधार हैं। मैं स्वयं संसार से भयभीत हूँ; इसीलिए उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिये आपकी शरण में

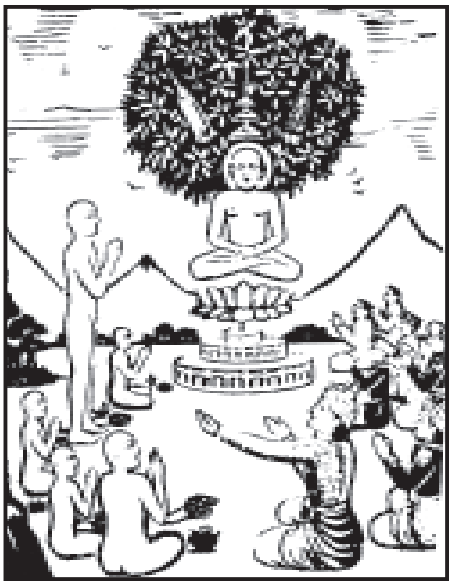

आया हूँ। हे ऋषिराज! मुझे कृपा करके उस देश में ले चलो कि जहाँ कुकर्मों की धूल उड़ती ही न हो, जिसमें शान्ति का भंग करके जन्म-मरण के तूफान उड़ते ही न हो।' इस प्रकार, भगवान के निकट प्रार्थना करके, वहाँ उनके समक्ष ही दीक्षा अंगीकार कर ली। उन्हें दीक्षा अंगीकार करते देखकर उनके साथ दूसरे अनेक राजा, उनकी पत्नियाँ, वरांग की पत्नियाँ, सेठ सागरवृद्धि, उनके मन्त्री, उनकी पत्नियाँ इत्यादि अनेकों भव्य जीवों ने भी प्रव्रज्या धारण की।

दीक्षा समारोह समाप्त होने के पश्चात् साथ में आये हुए अन्य राजा तथा नगरवासीजन वरदत्त केवली के दर्शन करके वापिस अपने नगर में चले गये।

❖ ❖ ❖

अब मुनिराज वरांग घोर तप करने लगे। उनके साथ ही दूसरे मुनि भी तप करते थे। राजा वरांग की जिन रानियों ने दीक्षा अंगीकार की थी, वे भी घोर तप करती थीं।

वीरों के मुकुटमणि, सम्राट वरांग ने जिस उत्साह और लगन से आनर्तपुर के विशाल साम्राज्य का परित्याग करके परमशुद्ध निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण की थी और मुनि बनकर शुद्ध संयम तथा तप का आचरण किया था, उसी निरपेक्ष भाव तथा शुद्धस्वभाव प्राप्ति के साथ वे देवलोक के मस्तकतुल्य सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पाद शय्या से उत्पन्न हुए। उसमें उत्पन्न होने का तात्पर्य यही है कि आगामी भव में निश्चय से मोक्षप्राप्त करेंगे।

उनके साथ जिन-जिन राजाओं ने दीक्षा लेकर तप किया था, वे तथा सागरवृद्धि सेठ भी स्वर्ग में उत्पन्न हुए। सम्राट वरांग की रानियाँ - जिन्होंने आर्यिका होकर उग्र तप किया था, वे भी स्त्रीलिंग छेदकर देवपर्याय में उत्पन्न हुई।

प्रथम सम्राट वरांग और पश्चात् महर्षि वरांग अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी के स्वयंवृत्त वर थे। उनकी कीर्ति विशाल और सर्वव्यापी थी। उनमें विवेक शक्ति भी अपार थी। ऐसे राजर्षि के इस चारित्र को जो व्यक्ति अपने जीवन में उतार लेता है, वह निश्चय से अनुपम पद प्राप्त करता है।

श्री सोमकीर्ति आचार्यकृत

प्रद्युम्नचरित्र

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में जगविख्यात मगध नाम का एक देश है, जो अनेक प्रकार की वापिका, कुँए और सरोवरों से शोभायमान है। उस मगधदेश में एक राजगृही नाम का नगर है, वह जिनमन्दिरों द्वारा स्वर्ग-समान सुन्दर प्रतीत होता है। उस नगर में श्रेणिक नामक राजा राज्य करता था। वह जगत विख्यात, शत्रुओं का विजेता, निर्मल चित्त का धारक, विवेकी, सत्पुरुषों की रक्षा में दत्तचित्त, श्रावक के आचार पालनेवाला तथा क्षायिकसम्यक्त्व से शोभायमान था। उस राजा की चेलना नामक एक रानी थी, जो सरल स्वभावी, अपने रूप से देवांगनाओं को भी जीतनेवाली, पाप से भयभीत, जिनमार्ग में निपुण और पतिव्रता तथा स्त्रियों के समस्त ही गुणों की धारक थी।

एक दिन अनेक उद्यानवाले विपुलाचल पर्वत पर श्री महावीर भगवान का समवसरण आया। उस समय भगवान के प्रभाव से वह वन फल-फूलों से परिपूर्ण हो गया तथा हिरण और बाघ का स्वाभाविक बैर-भाव भी दूर हो गया। तब उपवन को विशेष वैभवसहित देखकर वन का रक्षक माली चकित हो गया और उसका कारण खोजने के लिये चारों ओर देखने पर उसे समवसरण दिखायी दिया, जिसे देखकर उसका मन प्रफुल्लित हो गया।

वह माली उपवन में से फल ले जाकर द्वारपाल की आज्ञा से राजा श्रेणिक की सभा में गया। सभा में जाते ही उसने राजा को नमस्कार किया, विनयपूर्वक फलों को भेंट में प्रदान किया और इस प्रकार मनोहर वचन बोलने लगा—'हे महाभाग्यशाली महाराज! आपके उपवन में केवलज्ञान से विभूषित श्री वर्धमानस्वामी समवसरणसहित पधारे हैं।'

समवसरणसहित भगवान के पधारने के समाचार सुनते ही राजा ने भगवान की दिशा में सात कदम आगे बढ़कर भगवान को परोक्ष प्रणाम किया। परोक्ष में विनय करना,

वह सज्जनों का लक्षण है। तत्पश्चात् महाराज ने वनपाल को आभूषण भेंट में प्रदान किये और राज्य में आनन्दभेरी बजवायी। वे अपने पूरे परिवारसहित जिनेन्द्रदेव की वन्दना के लिये चल निकले। दूर से समवसरण को देखते ही उन्होंने हाथी से उतरकर सम्पूर्ण राजसी ठाठ छोड़ दिया। समवसरण में जाकर उन्होंने भगवान को तीन प्रदक्षिणा दी तथा अत्यन्त भक्ति से भगवान का स्मरण किया।

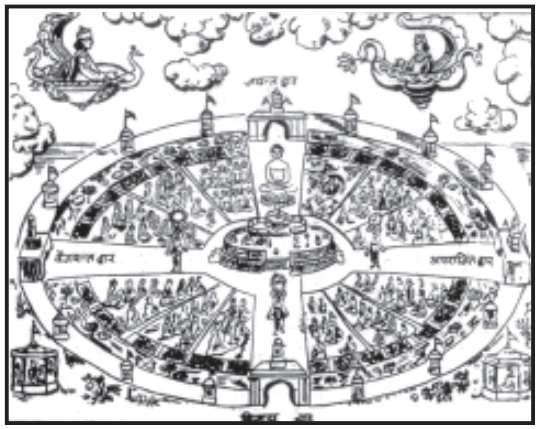

तत्पश्चात् महाराज श्रेणिक ने भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर, दोनों हाथ जोड़कर भगवान के मुख्य गणधर श्री गौतमस्वामी से पूछा कि—'हे प्रभो! मुझे कृष्ण नारायण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र सुनने की बहुत इच्छा है। वह कहाँ जन्मा? उसे शत्रु किस प्रकार उठा ले गया? उसने कैसे-कैसे धर्म कार्य किये? उसकी विभूति कैसी थी? यह सब आपके प्रसाद से मैं जानना चाहता हूँ। आप सन्देहरूपी अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य समान हैं; इसलिए मेरे सन्देह को दूर करें।'

गौतमस्वामी ने कहा—'हे राजन! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है। प्रद्युम्न का चरित्र, पाप का नाश करनेवाला है। पृथ्वी पर बिना पुण्य ऐसा चरित्र सुनने को नहीं मिलता। इसीलिए हे मतिमान! सावधान होकर और स्थिर चित्त करके श्री कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र सुनो।'

❖ ❖ ❖

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में सौराष्ट्र नाम का देश है। उस सौराष्ट्र देश में स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर द्वारिका नामक नगरी है। उसकी शोभा अवर्णनीय है। उस द्वारिका नगरी में जगत प्रसिद्ध श्री कृष्ण नारायण नामक राजा राज्य करता था, जिसके समान कोई भी दाता, भोक्ता, विवेकी, और ज्ञान-विज्ञान विभूषित नहीं था। वह वास्तव में प्रजा की पिता समान रक्षा करता था। जिसने बाल्य अवस्था में ही कंस आदि अनेक शत्रुओं का विनाश किया

था, गोवर्धन पर्वत उठाया था, यमुना नदी में काले नाग को पराजित किया था, नागशय्या, धनुष और शंख, शत्रु के घर में से प्राप्त किये थे और जरासंध के भाई अपराजित को संग्राम में नष्ट किया था, उन श्री कृष्ण की शूरवीरता का कहाँ तक वर्णन करना ? जिन्हें समुद्राक्ष नामक देव ने समुद्र को पराजित कर बारह योजन पृथ्वी प्रदान की थी और जिनके बल को देखकर कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से द्वारिका नगरी की रचना की थी। पृथ्वी पर ऐसा कोई राजा नहीं था जो उनके शुभलक्षण और गुणों की समानता कर सके। कोटिशिला उठाने का उनका पराक्रम देखकर दूसरे राजाओं ने अपनी शूरवीरता का घमण्ड त्याग दिया था। जिसने परायी स्त्रियों को अपना वक्षस्थल, शत्रु को युद्ध के समय पीठ, और याचकों को नकार कभी बताया नहीं था; ऐसे अनेक गुणों के धारक चन्द्रसमान मनोहर श्री कृष्ण नारायण हरिवंश के राजाओं का शृंगार बनकर राज्य करते थे।

उस राजा के सत्यभामा नामक पटरानी थी जो कि निर्मल चित्तवाली, शीलवती स्त्रियों में शिरोमणी, पुण्यवती, लावण्य में सर्व लक्षणों से मण्डित तथा अपने रूप की सम्पदा से देवांनाओं के रूप से भी उत्कृष्ट थी। सत्यभामा, विद्याधर की पुत्री थी। वह शास्त्रार्थ करने में सरस्वती समान निपुण तथा चतुर थी। जिस प्रकार महादेव को पार्वती और इन्द्र को इन्द्राणी प्रिय थी, उसी प्रकार श्री कृष्ण को सत्यभामा प्रिय थी। श्री कृष्ण को बलभद्र नामक बड़े भाई थे, वे पृथ्वी पर विख्यात थे। उनकी आज्ञा हजारों यादव मानते थे।

एक बार राज्यविभूति से मण्डित श्री कृष्ण महाराज राज्यसभा में विराजमान थे। तभी अचानक आकाशमार्ग से कोई तेजपुंज को नीचे आते देखकर सभाजनों को आश्चर्य हुआ। जब एकदम नीचे आये तो पता पड़ा कि वे तो नारद थे। नारद सदा कौतुहलता के अभिलाषिक, जिनमार्ग में सदा लवलीन, अभिमानरूपी धन के धारक, पापवर्जित हास्य में आसक्त तथा जिनवन्दना में सदैव तत्पर रहते थे।

नारद मुनि को निकट आया देखकर सभा के सर्व सज्जन तथा श्री कृष्ण महाराज प्रसन्न चित्त से खड़े हो गये। श्री कृष्णजी ने तत्काल निकट जाकर नमस्कार किया, अपने सिंहासन पर विराजमान करके चरण प्रक्षालन किये, भक्तिभाव से उनका स्तवन किया। श्री कृष्ण ने कहा कि—'हे मुनि! आप तप द्वारा पवित्र हो। आज मेरा घर आपके चरण-

कमल से पवित्र हुआ है।'—ऐसा कहकर, तत्पश्चात् नारद मुनि की आज्ञा प्राप्त कर श्री कृष्ण दूसरे सिंहासन पर विराजित हो गये।

नारदजी ने कहा—'हे राजन! निश्चय से मैं तुमसे ही मिलने के प्रयोजन से आया हूँ।' तत्पश्चात् नारदजी ने श्री कृष्ण को देश-देशान्तर के ताजा समाचार सुनाये तथा अनेक तीर्थों के आशीर्वाद दिये।

जिस समय श्री कृष्ण और नारद इस प्रकार बातें कर रहे थे, उस समय श्री नेमिकुमार भी वहाँ पधारे। उन्हें आते देखकर श्री कृष्ण-नारद सहित सम्पूर्ण सभा खड़ी हो गयी। नारदजी ने नेमिकुमार को दूसरे सिंहासन पर बैठाया और उनकी बहुत भक्ति करके फिर स्वयं दूसरे सिंहासन पर बैठ गये। तत्पश्चात् सबने आपस में क्षेम-कुशल पूछा और आनन्द से बहुत समय व्यतीत किया।

तत्पश्चात् नारदजी बोले—'हे कृष्ण! मैं अनेक देशों में परिभ्रमण करता हुआ जिन-वन्दना किया करता हूँ। मैं हमेशा तुम्हें स्मरण किया करता हूँ और चाहता हूँ कि तुम सुख से रहो। तुम्हारे सुख से मुझे सुख होता है और तुम्हारे दु:ख से मुझे दु:ख होता है। इसलिए मैं आज तुम्हारे अन्त:पुर में जाकर तुम्हारी रानियों को भी देखना चाहता हूँ। मुझे देखना है कि तुम्हारी रानियों के समान संसार में अन्य कोई स्त्रियाँ है या नहीं ? तथा तुम्हारी स्त्रियाँ तुम्हारे समान विनयवान और उदारचित्त हैं या नहीं ?'

नारदजी, श्री कृष्ण की सम्मति से आश्चर्यसहित अन्त:पुर देखने के मनोरथ से अन्दर गये। पहले श्री कृष्ण की पट्टरानी सत्यभामा से ही मिलना चाहिए - ऐसा विचार कर नारदजी पहले सत्यभामा के महल की ओर गये। उस समय सत्यभामा दर्पण को सामने रखकर शृंगार कर ही थी। नारदजी अचानक उसके पीछे जाकर खड़े रह गये। सत्यभामा दर्पण में नारदजी का प्रतिबिम्ब देखकर जरा डर गयी। उसका विकृत मुख देखकर नारदजी को दु:ख हुआ कि सम्पूर्ण जगत मेरा सम्मान करता है और इस सत्यभामा ने मुझे देखकर मुख विकृत बनाया!

नारदजी तुरन्त ही वहाँ से वापिस मुड़े और अपने कृत्य पर बहुत पश्चात्ताप किया कि मैं किसलिए सत्यभामा के महल में गया ? वे विचार करने लगे कि विचारवानों को

जिसका कुल, शील, स्वभाव ज्ञात न हो, उसके घर नहीं जाना चाहिए। ऐसा विचार करते-करते अन्त:पुर से बाहर निकलकर कैलाशगिरि पर पहुँचे। वहाँ जाकर नारद मुनि चिन्ताग्रस्त होकर बैठ गये और विचार करने लगे कि अब मैं क्या करूँ? मेरे अपमान का बदला किस प्रकार लेना? जो मेरा सम्मान करता है, उसको मैं भी सम्मान देता हूँ परन्तु जो मेरा अपमान करता है, उसका कभी भी भला नहीं हो सकता। सत्यभामा ने मेरा अपमान किया है, अब मैं किस प्रकार बदला लूँ! उसे किस प्रकार दु:सह्य दु:ख हो? किस प्रकार उसका मान गलित हो? किसके द्वारा उसका अपहरण कराऊँ कि जिससे वह दु:खी हो? उन्हें लगा कि यदि सत्यभामा का अपहरण होगा तो श्री कृष्ण दु:खी होंगे और श्री कृष्ण को दु:खी होने से मुझे दु:ख होगा, इसलिए दूसरा उपाय करूँ।

बहुत विचार करने पर अन्त:करण से एक उपाय उन्हें सूझ गया कि स्त्रियों को जगत में सौत अर्थात् पति की दूसरी पत्नी जैसा दूसरा कोई दु:ख नहीं होता। विधवा होने से, अपुत्रदशा से अथवा दरिद्रता से भी इतना दु:ख नहीं होता, जितना सौत से होता है। तीन काल में सौत समान दु:ख कभी भी हुआ नहीं, वर्तमान में होता नहीं और भविष्य में होगा भी नहीं। इसलिए ढाई द्वीप में सत्यभामा से अधिक सुन्दर स्त्री की शोध में नारदजी निकल पड़े।

❖ ❖ ❖

वहाँ से निकलकर नारदजी ने सर्व प्रथम विद्याधरों की श्रेणी में जाकर देखा तो सत्यभामा की सुन्दरता के समान कोई कन्या दृष्टिगोचर नहीं हुई, जिससे नारदजी बहुत दु:खी हुए। भूमिगोचरी राजाओं के अन्त:पुर में जाने का निर्णय करके वहाँ गये, परन्तु सत्यभामा से अधिक सुन्दर कोई स्त्री दिखायी नहीं दी, जिससे नारदजी अत्यन्त खेदखिन्न हुए।

एक दिन नारदजी चारों ओर से घूमते-घूमते जा रहे थे कि देववशात् वे कुण्डनपुर पहुँच गये। इस नगरी का राजा भीष्म था। नारद उनकी सभा में गये। नारद को आते देखकर राजा अपने सिंहासन से खड़ा हो गया, उसने नारदजी को प्रणाम किया और उन्हें सिंहासन पर बैठाकर, फिर स्वयं भी बैठ गया। थोड़ी देर तक परस्पर कुशल वार्ता करने

के पश्चात् नारदजी ने पूछा कि यह किसका पुत्र है ? राजा ने कहा यह मेरा पुत्र है। नारदजी ने विचार किया कि यदि यह इतना सुन्दर है तो इसकी बहिन होगी तो मेरा काम हो जायेगा। इस प्रकार विचार कर उन्होंने पूछा—'हे राजन! इसकी माता को दूसरी कितनी सन्तानें हैं ?' राजा ने कहा—'एक यह पुत्र और दूसरी पुत्री है।'

नारदजी ने पूछा—'विवाहिता है या अविवाहिता ?'

राजा ने कहा—'वह कन्या राजा शिशुपाल को दिया जाना निश्चित किया है।'

यह जवाब सुनकर नारदजी ने मन ही मन विचार किया कि अब मेरा मनोरथ सफल हो जायेगा। उन्होंने राजा से कहा कि मुझे तुम्हारा अन्त:पुर देखने जाना है। तब राजा ने कहा कि बहुत अच्छा, आप मेरे महल को पवित्र करें।

जब नारदजी उसके सुन्दर रनवास में गये, वहाँ भीष्म राजा की एक बाल विधवा बहिन थी। उसने नारद के बाह्य लक्षणों से जान लिया कि यह नारद हैं। उसने खड़े होकर योग्य सत्कारपूर्वक नारद को सिंहासन पर बिठाया। पश्चात् राजा भीष्म की सभी रानियों ने नारद का आशीर्वाद लिया। थोड़ा वार्तालाप होने के बाद नारदजी ने पूछा—'यह पुत्री किसकी है ?' उसने कहा कि—'यह महाराज की पुत्री रुक्मणी है।' ऐसा कहकर उसने नारद को प्रणाम कराया। तब नारद ने रुक्मणी को ऐसा आशीर्वाद दिया—'हे पुत्री! तू श्री कृष्ण महाराज की पट्टरानी हो!' नारद मुनि के वचन सुनकर रुक्मणी चकित हो गयी। उसने अपनी बुआ के सन्मुख देखा। उसकी बुआ ने नारद से पूछा—'प्रभु! तुमने अभी आशीर्वाद में जिनका नाम लिया, वे श्री कृष्ण कौन हैं ? वे कहाँ निवास करते हैं ? उनकी क्या ऋद्धि है ? उनकी उम्र क्या है ? वह आप कहो।'

नारद मुनि ने श्री कृष्ण का वर्णन किया और कहा कि वे नारायण हैं तथा उनके घर में नेमिकुमार जिनराज विराजमान हैं। तदुपरान्त उनकी रूप सम्पदा का, शक्ति का भी बहुत वर्णन किया। नारदजी के वचन सुनकर भीष्म की बहिन ने रुक्मणी से कहा कि तूने जो यह सुना है, वह सत्य है। नारदजी के आशीर्वाद पर विश्वास रख। रुक्मणी ने कहा कि यह किस प्रकार हो सकता है ? मुझे तो शिशुपाल को देना निश्चित किया है ? तब उसकी बुआ ने कहा कि तुम्हारे माता-पिता ने शिशुपाल को देना निश्चित नहीं किया है परन्तु तुम्हारे भाई

ने किया है और एक बार अपने यहाँ अतिमुक्तक मुनिमहाराज आहार के लिये पधारे थे, उन्होंने आहारदान के बाद थोड़ा धर्म का उपदेश दिया था। तब महाराजा ने पूछा था कि हे स्वामी! मेरी पुत्री किसकी रानी बनेगी? तब अतिमुक्तस्वामी ने कहा था कि जगत में जो नारायणरूप से प्रसिद्ध होगा और यादवों का नाथ होगा, वह इसका नाथ बनेगा। मुनिराज का कहा हुआ कभी भी असत्य नहीं होता।

❖ ❖ ❖

यह वृत्तान्त सुनकर राजा श्रेणिक ने बीच में गौतमस्वामी से प्रश्न किया कि शिशुपाल के निकट भीष्म राजा का पुत्र रुप्यकुमार किसलिए गया था? तब गौतमस्वामी ने कहा कि एक दिन जब शिशुपाल शत्रुओं पर चढ़ाई करने को तैयार हुआ, तब उसने राजा भीष्म को युद्ध में साथ देने के लिये दूत भेजा। दूत का पत्र पढ़कर भीष्म राजा युद्ध में जाने के लिये तैयार हुए। तब रुप्यकुमार उनके सन्मुख सिर झुकाकर खड़े हो गये और कहा—'पिताजी! मैं पुत्र होने पर भी आप युद्ध के लिये जाओ, यह योग्य नहीं है क्योंकि पुत्र का यही धर्म है कि वह माता पिता को सुखी करे।' पिताजी ने ये वचन सुनकर उसे युद्ध में जाने के लिये आशीर्वाद प्रदान किया।

रुप्यकुमार के आने से शिशुपाल अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसका सम्मान किया। दोनों सेनायें युद्ध के लिये निकल पड़ी और युद्ध में शत्रु की पराजय हुई। युद्ध में रुप्यकुमार के कारण विजयश्री प्राप्त हुई होने से राजा शिशुपाल ने उसका बहुत सम्मान किया। उस सम्मान से प्रसन्न होकर रुप्यकुमार ने अपनी बहिन शिशुपाल को देने के लिये कहा।

❖ ❖ ❖

तत्पश्चात् बुआ ने रुक्मणी से कहा—'तू चिन्ता मत कर। मैं ऐसा उपाय करूँगी कि श्री कृष्णजी निश्चित ही तेरे भरतार होंगे।' बुआ की बात सुनकर रुक्मणी अत्यन्त प्रसन्न हुई। नारदजी भी श्री कृष्ण की बहुत महिमा करके वापिस कैलाशपर्वत पर आ पहुँचे। वहाँ बैठकर नारदजी ने रुक्मणी का एक चित्रपट बनाया, उसे लेकर वे द्वारिका पहुँच गये।

❖ ❖ ❖

श्री कृष्ण ने आकाशमार्ग से नारदजी को आते हुए देखा, इसलिए उन्होंने खड़े

होकर सामने जाकर उनका सत्कार किया, आसन दिया और स्वयं दूसरे आसन पर बैठ गये। थोड़ी देर धर्म चर्चा चली। अवसर देखकर श्री कृष्ण ने पूछा—'आप तो ढाई द्वीप में घूमते रहते हो तो आपने कोई विनोद (हँसी-मजाक) की वार्ता सुनी हो या कोई चमत्कार देखा हो तो मुझसे कहो। यदि मेरे योग्य कोई नवीन वस्तु लाये हों तो वह भी मुझे दो, क्योंकि आप मेरे परम मित्र हैं। आपके समान मेरा कोई मित्र नहीं है।'

श्री कृष्ण के वचन सुनकर नारदजी बहुत प्रसन्न हुए। वे कुछ बोले नहीं परन्तु अपना हाथ लम्बाकर रुक्मणी का चित्रपट उन्हें दे दिया। श्री कृष्ण ने जैसे ही चित्रपट देखा कि तुरन्त वे विचार करने लगे कि निश्चित ही इस सुन्दरी ने मेरा मन चुरा लिया है। नारदजी ऐसी सुन्दर कन्या कहाँ देखकर आये हैं, कि जिसका चित्रपट बनाकर तुरन्त ही मेरे लिये ले आये हैं ? प्रकृति ने ऐसी रूपवती किस प्रकार बनायी होगी ? इस प्रकार श्री कृष्ण चित्रपट को देख-देखकर आश्चर्य से अनेक संकल्प-विकल्प करने लगे। समाधान के लिये उन्होंने नारदजी से पूछा कि—'हे स्वामिन! इस सुन्दरी का पूरा परिचय मुझे प्रदान करें, क्योंकि इसे देखते ही मेरा मन चलायमान हो गया है।'

श्री कृष्ण के वचन सुनकर नारदजी ने कहा कि—'हे राजन! अपने चित्त को दु:खी मत करो। यह कोई देवांगना, गांधर्वी अथवा विद्याधरी का रूप नहीं है। यह तो एक भूमिगोचरी का रूप है।' ऐसा कहकर रुक्मणी सम्बन्धी सम्पूर्ण वार्ता श्री कृष्ण को कह सुनायी। नारदजी ने कहा—'हे राजन! जब तक तुम संग्राम में शिशुपाल को पराजित नहीं करोगे, तब तक रुक्मणी तुम्हें प्राप्त नहीं हो सकती है।' यह सुनते ही श्री कृष्ण थोड़े उदास हो गये। वे विचार करने लगे कि रुक्मणी अब मुझे किस प्रकार प्राप्त हो! कब मैं उससे मिलूँगा ? नारद ने उन्हें बहुत समझाया और सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा कि आप चिन्ता न करो, रुक्मणी आपको ही मिलेगी। उद्यमवन्त लोग ही सुख भोग सकते हैं। इस प्रकार बहुत समझाकर नारदजी अपने स्थान की ओर चले गये, परन्तु इस ओर श्री कृष्ण की भूख और नींद दोनों उड़ गये।

❖ ❖ ❖

उसी समय 'शिशुपाल मुझे लेने आनेवाला है' यह समाचार सुनते ही रुक्मणी

भयभीत हो उठी। इसलिए उसने अपनी बुआ से कहा—'यदि श्री कृष्ण मुझे प्राप्त नहीं होंगे तो मैं मर जाऊँगी परन्तु शिशुपाल के साथ नहीं जाऊँगी।' उसकी बुआ ने कहा कि—'हे पुत्री! तू चिन्ता मत कर। तेरी इच्छानुसार ही होगा।' फिर उसने कुशल नामक दूत को बुलाया और उसे गुप्त रीति से सभी बात बताकर प्रेमसूचक पत्र देकर श्री कृष्ण के पास द्वारिका भेज दिया।

कुशल दूत शीघ्र ही द्वारिका के लिये रवाना हो गया। द्वारिका पहुँचते ही वह सीधे राज्यसभा में पहुँचा, वहाँ श्री कृष्ण अपने भाई बलदेवसहित विराजमान थे। उसने श्री कृष्ण से कहा कि मैं आपके लिये प्रेम सम्बन्धी कुछ पत्र लाया हूँ। ऐसा कहकर कुशल दूत ने ईशारा किया, जिससे सभा विसर्जित करके दूत के साथ दोनों भाई एकान्त में आ बैठे। दूत ने कहा—'शिशुपाल राजा अब थोड़े ही दिनों में राजकन्या रुक्मणी को वरने आनेवाला है परन्तु रुक्मणी तो मात्र आपके ही प्रेम में आसक्त है। यदि आप उसे प्राप्त नहीं होओगे तो वह अपना जीवितव्य मिटा देगी। आप मेरे वचन यथार्थ और सारगर्भित समझकर कर्तव्य को चित्त में रखकर यथोचित् उपाय करें।'

श्री कृष्ण ने प्रेम के वशीभूत होकर कुशल दूत से पूछा कि—'हे दूत! वहाँ आकर मैं ठहरूँगा कहाँ? उससे मिलूँगा किस प्रकार?' दूत ने कहा—'आप सीधे कुण्डनपुर पहुँचे। वहाँ एक 'प्रमद' नामक बगीचा है, जिसमें एक अशोकवृक्ष के नीचे कामदेव की मूर्ति है। उस अशोकवृक्ष पर मनोहर ध्वजा लगी हुई है। हे नाथ! आप वहाँ पधारकर और बगल के वृक्ष के नीचे छुपकर रहना। निश्चय ही रुक्मणी वहाँ कामदेव की पूजा के बहाने अपनी सखियों को पीछे छोड़कर अकेली आयेगी और तुम्हें मिल जायेगी। इसलिए अपना हित समझकर आपको वहाँ अवश्य पधारना चाहिए। आप निश्चित समझें कि आपको छोड़कर वह बाला दूसरा पति नहीं करेगी। वह आपसे मिलने के लिये ही वहाँ

आयेगी और यदि आप नहीं मिलोगे तो निश्चय ही वह अपने प्राण वहीं त्याग देगी।' इस प्रकार बारम्बार प्रार्थना करके दूत वहाँ से रवाना हो गया।

❖ ❖ ❖

दूत के चले जाने के बाद दोनों भाई कुण्डनपुर जाने का उपाय विचारने लगे, क्योंकि सत्यभामा विद्याधर की पुत्री होने से कोई विघ्न न कर बैठे, ऐसा विचार कर अर्धरात्रि में दोनों भाई कवच धारण करके अनेक प्रकार के शस्त्र साथ लेकर कुण्डनपुर जाने के लिये रथ पर सवार हो गये। थोड़ी ही देर में वे कुण्डनपुर पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर वे शीघ्र ही प्रमद उद्यान में गये, वहाँ अशोकवृक्ष के नीचे कामदेव की मूर्ति देखकर उन्होंने रथ के घोड़े वही छोड़ दिये और स्वयं छिप गये।

❖ ❖ ❖

जिस समय कृष्ण-बलदेव द्वारिका से निकले, उसी समय नारदजी शिशुपाल के निकट पहुँचे और थोड़ी देर दूसरी बातें करने के बाद नारदजी ने लग्न-पत्रिका देखने के लिये माँगी। लग्न-पत्रिका हाथ में आते ही नारदजी उसे चिन्ता भरी नजरों से देखने लगे। जब शिशुपाल ने उनसे पूछा कि—'हे देव! आप चिन्तित दिखायी देते हो।' तब उन्होंने कहा—'राजन! विवाह के समय तुम्हारे शरीर को कष्ट होगा - ऐसा मुझे लगता है, इसलिए पूरी तैयारी के साथ जाना।' ऐसा कहकर नारदजी वहाँ से रवाना हो गये।

❖ ❖ ❖

नारदजी के चले जाने के बाद राजा शिशुपाल चिन्ताग्रस्त हो गया। शंकित होकर उसने विशाल सेना तैयार की और अनेक प्रकार के साधनोंसहित वह कुण्डनपुर पहुँचा। पहुँचते ही उसने नगरी को चारों ओर से घेर लिया। जिस समय शिशुपाल ने नगर को घेर रखा था, उसी समय कृष्ण और बलदेव वहाँ प्रमद उद्यान में आये थे।

जब रुक्मणी ने कुण्डनपुर को घिरा हुआ जाना, तब वह अत्यन्त दु:खी होकर विचार करने लगी कि—हाय! अब मैं श्री कृष्ण से किस प्रकार मिलूँगी? तब उसकी बुआ ने उसे आश्वासन प्रदान किया और कहा—'तू चिन्ता न कर, सब ठीक हो जायेगा।' तत्पश्चात् उसने रुक्मणी के साथ उसकी सखियों को लिया और धीरे-धीरे गीत गाते-गाते

सब निकल गयीं। जब शिशुपाल के सैनिकों ने उन्हें रोका और उनके राजा की आज्ञानुसार उन्हें बाहर नहीं जाने दिया, तब रुक्मणी की बुआ ने कहा—'कन्या ने प्रतिज्ञा की थी कि यदि उसका विवाह राजा शिशुपाल के साथ होगा तो वह कामदेव की पूजा करेगी। अभी जब अब उसका विवाह राजा शिशुपाल के साथ हो रहा है तो उनके सौभाग्य के लिये वह अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने जा रही है और उसे जाना ही चाहिए।' सैनिकों ने सम्पूर्ण वृत्तान्त शिशुपाल को कह दिया, जिसे सुनकर शिशुपाल पानी-पानी हो गया और रुक्मणी समुदाय को वन में जाने के लिये अनुमति प्रदान कर दी।

❖ ❖ ❖

सघन वन में थोड़े चलने पर जहाँ प्रमद उद्यान आया, वहाँ रुक्मणी की बुआ ने उससे कहा—'बेटी! अब तू जा और अपने स्वामी की पूजा कर। यहीं तेरा देवता है।' ऐसा कहकर स्वयं सब सखियों के साथ वहीं रुक गयी और रुक्मणी को अकेले भेज दिया। रुक्मणी मन्द गति से अशोकवृक्ष के समीप गयी और चारों तरफ देखने लगी। श्री कृष्ण वृक्ष के पीछे बैठे-बैठे उसे देख रहे थे। वे भूल गये थे कि अभी वे एक उद्यान में बैठे हैं। वे तो प्रेम भरी नजरों से रुक्मणी को देखते ही रहे। तब रुक्मणी ने आवाज लगाते हुए कहा—'यदि मेरे पुण्ययोग से द्वारिकानाथ यहाँ आये हों तो मेरी आवाज सुनकर मुझे तुरन्त दर्शन दें।'

रुक्मणी ने ये शब्द कहे ही थे कि शीघ्र ही श्री कृष्ण और बलदेव वृक्ष के पीछे से बाहर आये। बलदेव तुरन्त ही अपना रथ तैयार करने गये। श्री कृष्ण को देखकर रुक्मणी की नजर झुक गयी, वह शर्मा गयी, वह काँपने लगी। इतनी देर में रथ तैयार करके बलदेव बोले—'स्त्रियों को स्वभाव से ही लज्जा होती है, तो फिर कन्या को तो होनी ही चाहिए। कृष्ण! तू क्या देख रहा है? इसका हाथ पकड़कर इसे रथ में बैठा दे। तू स्त्री चरित्र को नहीं जानता। सत्य ही है, तू पूरा गोपाल अर्थात् गाय-भैंस चरानेवाला ही है।' तब श्री कृष्ण ने प्रेम से रुक्मणी को रथ में बैठा लिया और दोनों भाई रथ में बैठ गये।

बलदेवजी ने रथ को बहुत शीघ्रता से चलाया और श्री कृष्ण ने अपना शंख फूँका तथा जोर से कहा—'मैंने—श्रीकृष्ण ने रुक्मणी को हठ से हरण कर लिया है, जिसकी

शक्ति हो, वह रुक्मणी को मुझसे छुड़ा ले। हे शिशुपाल राजा! मेरी बात सुनो, यदि रुक्मणी को मैं हरकर ले जाऊँ तो फिर तुम्हारे जीवन से क्या? हे भीष्मराजा! तुम्हारी पुत्री को द्वारिका के राजा और उसके भाई ने हरी है। हे रुप्यकुमार! तेरी बहिन का हरण किया है। तेरी धीरता, अभिमान और शूरता किस काम की? यदि तुझमें सामर्थ्य हो तो मेरे रथ के पीछे आ और रुक्मणी को मुझसे छुड़ाकर ले जा। यदि तुम्हारे में कुछ साहस नहीं है तो तुम्हारे जीवन को धिक्कार है। हे राजाओं! मेरे साथ संग्राम में युद्ध किये बिना तुम सब किस प्रकार कृतार्थ हो सकते हो? यदि मैं तुम सबके सामने रुक्मणी को हरकर ले जाता हूँ तो तुम्हारी शूरवीरता, धीरता और सामर्थ्य निश्चित ही व्यर्थ है।' ऐसा कहकर अपने उत्तम रथ को दोनों भाई शीघ्रता से वन में से खुले मैदान की ओर ले गये।

श्री कृष्ण की बात सुनकर सब घबरा गये। फिर तुरन्त ही रुप्यकुमार और शिशुपाल अपनी पूरी सेना लेकर मैदान में श्री कृष्ण-बलदेव के सन्मुख युद्ध करने हेतु प्रस्तुत हुए। एक ओर दोनों भाई तथ दूसरी ओर हजारों योद्धाओं को देखकर रुक्मणी चिन्तित होकर रुदन करने लगी। उसकी आँखों में से बहते आँसुओं को देखकर बलदेव ने श्री कृष्ण से कहा कि—'जरा इस ओर देख और इसे अपनी शक्ति का अनुमान तो करा।' श्री कृष्ण ने अपनी अंगुली में से अंगूठी निकालकर उसका हीरा मसलकर चूरा कर दिया और स्वस्तिक बनाया तथा एक तीर से सामने के सात ताड़ के वृक्षों को काट दिया। यह देखकर रुक्मणी की उनके प्रति होनेवाली चिन्ता तो मिट गयी परन्तु अभी उसका मुख मलिन था।

श्री कृष्ण ने कहा—'हे सौभाग्यशालिनी! अब तुम्हें किसकी चिन्ता है, वह तो बता?' तब रुक्मणी ने कहा कि—'हे स्वामी! मुझे आपकी शक्ति के लिये किंचित् भी शंका नहीं है परन्तु सामने मेरा भाई भी है, अत: उसका वध नहीं करें।' श्री कृष्ण हंसकर बोले—'तू चिन्ता नहीं कर, ऐसा ही होगा।'

तत्पश्चात् श्री कृष्ण ने शिशुपाल के साथ घोर युद्ध किया और उसे यमलोक पहुँचा दिया। इस ओर बलदेव ने उसकी पूरी सेना को तितर-बितर कर दिया और रुप्यकुमार को नागपाश से बाँधकर रुक्मणी को सौंप दिया तथा कहा कि अब अपने भाई के ऊपर से मक्खियाँ उड़ाते रहना।

जिस समय युद्ध चल रहा था, उस समय कलह प्रेमी नारदजी आकाश में खड़े-खड़े सन्तुष्ट होकर नृत्य कर रहे थे।

इस प्रकार युद्ध करके महान मदोन्मत्त शत्रु को पराजित करके श्री कृष्ण और बलदेव प्रसन्नतापूर्वक रुक्मणी के नजदीक आये। रुक्मणी ने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक कहा—'हे भुज पराक्रम के धारक स्वामी! कृपा करके मेरे भाई को नागपाश से मुक्त करो।' तब श्री कृष्ण ने हँसते हुए रुप्यकुमार को बन्धनमुक्त करते हुए कहा—'तुम मेरे परम बन्धु हो, इसलिए स्नेह दृष्टि रखकर तुम हमारे पास आते-जाते रहना और स्मरण रखना कि यह रुक्मणी तुम्हारी बहिन है।' इस प्रकार कहने पर भी कुमार ने लज्जा से कुछ उत्तर नहीं दिया और सब नगर की ओर चले गये।

तत्पश्चात् कृष्ण-बलदेव, रुक्मणी को भलीभाँति रथ में बैठाकर द्वारिका नगरी जाने के लिये रवाना हुए। आचार्य कहते हैं कि जिन कृष्णराज ने शत्रुओं को पराजित करके राजा भीष्म की पुत्री रुक्मणी को प्राप्त किया, उनके माहात्म्य का वर्णन कौन कर सकता है? वन, उपवन की शोभा देखते-देखते वे रैवतक पर्वत पर पहुँचे। नन्दनवन सम् उस वन में बलदेवजी ने श्री कृष्ण और रुक्मणी का विधिपूर्वक विवाह कराया। उसी समय से पृथ्वी पर वह वन, रुक्मणी वन नाम से प्रसिद्ध हो गया।

❖ ❖ ❖

इतने में द्वारिका नगरी में समाचार प्रसारित हो गये कि श्री कृष्ण, शत्रु को पराजित कर रुक्मणी को लेकर बलदेव के साथ रैवतकगिरि पर पधारे हैं। उनके आगमन के समाचार सुनकर प्रजाजन अत्यन्त प्रसन्न हुए और सम्पूर्ण नगर का शृंगार किया गया। सभी कुटुम्बीजन स्वागत करने के लिये सन्मुख आये और प्रेम से एक-दूसरे से मिलकर तीनों ने नगर में प्रवेश किया। महल में पहुँचने पर बलदेवजी अपने नव खण्ड के महल में गये और श्री कृष्ण, रुक्मणी के साथ अपने नव खण्ड के महल में पहुँचे। श्री कृष्ण ने वह नव खण्ड का महल रुक्मणी के अधिकार में कर दिया।

श्री कृष्ण ने उस समय से ही अन्यत्र जाना बन्द कर दिया। प्रतिदिन श्री कृष्ण सभी नित्य क्रिया उस रुक्मणी के महल में ही करते थे। उन्होंने अपनी दूसरी सभी रानियों से

मिलना भी बन्द कर दिया। विद्याधरी सत्यभामा, श्री कृष्ण के वियोग से दुखित हो गयी परन्तु अभिमान के कारण उसने उनकी बिलकुल परवाह नहीं की। उस समय नारदजी प्रतिदिन सत्यभामा से मिलने आते और उसके दु:ख में अभिवृद्धि करके स्वयं प्रसन्न होते थे। वैसे भी अपने शत्रु को दु:खी देखकर कौन प्रसन्न नहीं होगा? सत्य है कि गुणों का आदर सब करते हैं, मात्र विद्या और उत्तम कुल से कार्य सिद्ध नहीं होता। देखो! विद्याधर की पुत्री सत्यभामा, विद्यावान और उत्तम कुलवाली होने पर भी श्री कृष्ण उसे भी भूल गये।

एक दिन रुक्मणी ने श्री कृष्ण से पूछा—'हे स्वामी! मैंने पहले सुना था कि सत्यभामा नामक रानी आपको प्राण से भी अधिक प्रिय है, परन्तु अब तो आप उसके महल में बिलकुल नहीं जाते, उसका क्या कारण है?' तब श्री कृष्ण ने उत्तर दिया—'प्रिय! सुन, सत्यभामा को बहुत अभिमान रहता है और मुझे वह पसन्द नहीं। ऐसे स्वर्ण से क्या काम कि जिससे कान खण्डित हो जाये!' तब रुक्मणी ने विनय से कहा—'किसी के हाथ में कोई कीमती वस्तु आवे तो उसे क्या वह छोड़ देगा? स्वर्ण से कान खण्डित होते हैं, तथापि कौन उसका त्याग करता है?' रुक्मणी के नीतियुक्त उदार वचन सुनकर श्री कृष्ण ने कहा—'हे प्रिये! तुम्हारे कहने से मैं उसके पास जाऊँगा।'

❖ ❖ ❖

एक दिन श्री कृष्ण महाराज सभा में विराजमान थे, उसी समय कुरुदेश के राजा दुर्योधन का एक दूत वहाँ आया। उसने राज्यसभा में पहुँचकर श्री कृष्ण महाराज को विनयपूर्वक नमस्कार किया और अपने राजा का पत्र उन्हें देकर अपने योग्य स्थान पर जाकर बैठ गया। वह पत्र मन्त्री ने अपने हाथ में लिया और पढ़ा। उसका भावार्थ इस प्रकार था कि यदि भविष्य दुर्योधन को पुत्री हो और श्री कृष्ण के यहाँ जिस प्रथम पुत्र का जन्म हो, उन दोनों का विवाह करके मैत्री सम्बन्धी प्रगाढ़ करना। यदि दुर्योधन के घर में पुत्र का जन्म हो और श्री कृष्ण के यहाँ पुत्री का जन्म हो तो भी इसी प्रकार सम्बन्ध बाँधना। श्री कृष्ण ने अति प्रसन्न होकर इस सम्बन्ध की स्वीकृति प्रदान की और दूत को भेंट देकर विदा किया। उसके पीछे अपना दूत दुर्योधन के पास भेजकर सम्बन्ध का निश्चय किया।

इस समाचार की मात्र सत्यभामा को खबर पड़ी। रुक्मणी या दूसरी किसी रानियों को यह समाचार ज्ञात नहीं हुए।

❖ ❖ ❖

श्री कृष्ण ने रुक्मणी के साथ बहुत काल व्यतीत किया। पुण्य के उदय से प्राणीमात्र को सुख की प्राप्ति होती है। पुण्य से ही श्री कृष्ण ने द्वारिका का राज्य प्राप्त किया, शिशुपाल को पराजित किया और रुक्मणी को प्राप्त किया।

इसलिए आचार्य महाराज कहते हैं कि भव्य जीवों को पुण्य के प्रभाव से समस्त वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, इसलिए भव्य प्राणियों को श्री जिनेन्द्रप्रणीत धर्मानुसार पुण्य उपार्जन करना चाहिए। पुण्य से ही चन्द्र समान मनोहर उज्ज्वल परिणाम होते हैं। नरगति और देवगति के जो सुख तीन भुवन में प्राप्त होना कठिन है, वे सब पुण्य के प्रभाव से सहज में प्राप्त होते हैं - ऐसा जानकर भव्य जीवों को सदा काल पुण्य का संचय करना चाहिए।

❖ ❖ ❖

एक बार जब रानी रुक्मणी शयन कर रही थी, तब उसे रात्रि के पिछले पहर में स्वप्न आया। प्रात: काल उठकर नित्य क्रिया पूर्ण करके वह श्री कृष्ण के समीप गयी और रात्रि का स्वप्न कहा तथा उसका फल पूछा। श्री कृष्ण स्वप्न सुनकर प्रसन्न हुए और कहा—'हे देवी! तुम्हें निश्चित ही आकाशगामी और मोक्षगामी पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी।' स्वप्न का फल सुनकर रानी रुक्मणी अत्यन्त प्रसन्न हुई और प्रणाम करके अपने महल में चली गयी।

राजा मधु का जीव, जिसने पूर्व भव में बहुत तप किया था और वहाँ से सोलहवें स्वर्ग में गया था, वह स्वर्ग में से चयकर रानी रुक्मणी के गर्भ में आया था।

रानी सत्यभामा ने भी इसी प्रकार स्वप्न देखा और उसका फल भी श्री कृष्ण ने उसे पुत्ररत्न की प्राप्ति होना बतलाया। कोई कल्पवासी जीव, स्वर्ग में से चयकर उसके गर्भ में आया था।

गर्भकाल के पूरे नौ मास व्यतीत होने के बाद रुक्मणी के उत्तम तिथि, शुभ नक्षत्र,

शुभकरण योग और पंचांग शुद्धि में पुत्ररत्न का जन्म हुआ। पुत्र को देखकर रानी रुक्मणी को अत्यन्त आनन्द हुआ। पुत्र को सूर्य समान प्रतापवान और शुभलक्षण का धारक जानकर रुक्मणी और उसके कुटुम्बियों को बहुत प्रसन्नता और सन्तोष हुआ। तुरन्त ही नौकरों को श्री कृष्ण के समीप जाकर बधाई देने के लिये भेजा।

जिस समय रुक्मणी के नौकर, श्री कृष्ण के निकट पहुँचे, उस समय वे सो रहे थे; इसलिए नौकर उनके चरणों के समीप खड़े रहे। उसी समय सत्यभामा को भी पुत्ररत्न की उत्पत्ति हुई, जिससे उसके नौकर भी बधाई देने के लिये आये और वे श्री कृष्ण के मस्तक के निकट खड़े रहे। लोक में जैसा मालिक हो, वैसे ही नौकर देखने में आते हैं!

जब श्री कृष्ण निद्रा से जागृत होकर बैठ गये, तब सर्व प्रथम सामने खड़े हुए रुक्मणी के नौकरों ने बधाई दी कि—'हे नराधीश! आप चिरंजीवी रहो! रानी रुक्मणी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है। उस पुत्र के साथ आप चिरकाल तक राज्य सुख का अनुभव करो!' नौकरों के मुख से प्रथम पुत्ररत्न के समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर राजचिह्न के अतिरिक्त सभी आभूषण नौकरों को प्रदान किये और मन्त्री को भेजने के लिये कहा।

तत्पश्चात् तुरन्त ही सत्यभामा के नौकरों ने भी महाराज को पुत्ररत्न की प्राप्ति के समाचार प्रदान किये। सत्यभामा को पुत्ररत्न की उत्पत्ति के समाचार सुनकर महाराज अधिक सुखी हुए और दूसरे लोगों को उन्हें भेंट देने के लिये कहा। इतनी देर में मन्त्री आ पहुँचे। महाराज ने मन्त्रियों से कहा—'हे मन्त्रीवर! आज मेरे यहाँ दो पुत्ररत्नों की प्राप्ति हुई है, इसलिए पूरे राज्य में किमिच्छिक दान दिया जाये और नगर का शृंगार किया जाये; साथ ही सभी कैदियों को मुक्त करके उत्सव मनाया जाये।' महाराज की आज्ञानुसार दान किया गया, उत्सव हुआ और कैदियों को मुक्त किया गया। इस प्रकार पाँच दिन तक नगर में उत्सव चलता रहा।

पाँच दिन का उत्सव पूर्ण होने के बाद, रात्रि को जब रानी रुक्मणी अपने पुत्र के साथ प्रसूतिगृह में सो रही थी, तब एक दुर्घटना घटित हो गयी, जो इस प्रकार है—

❖ ❖ ❖

पूर्व में एक बार मोह के वश होकर अथवा दुर्बुद्धि की प्रेरणा से राजा मधु ने अपने

सामन्त राजा हेमरथ की स्त्री का हरण किया था। अपनी स्त्री का हरण जानकर, उसके वियोग से राजा हेमरथ पागल हो गया था, क्योंकि **मोह महा दुःखदायी होता है।** तपस्वियों के कहने से वह तापस हो गया। अन्त में तप करके मरण को प्राप्त हुआ और मरकर दैत्य हुआ।

एक दिन वह दैत्य, विमान में बैठकर आकाश में रुक्मणी के महल के ऊपर आया और अचानक विमान रुक गया। वह अशुभ विचार करने लगा कि मेरा विमान कौन रोक सकता है ? या तो कोई मित्र आपत्ति में है अथवा कोई शत्रु है। उसने तुरन्त ही अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि यह तो मेरे पूर्व भव की स्त्री का हरण करनेवाला मधु का जीव है, जो वहाँ से स्वर्ग में गया और अब यहाँ जन्म लिया है। पूर्व में तो उसने मुझे दुर्बल जानकर बहुत दुःख दिया था, परन्तु तब तो मैं असमर्थ था, इसलिए मैं कुछ नहीं कर सका, परन्तु अभी दैत्य की अवस्था में मैं सब प्रकार से समर्थ हूँ और वह एकदम असमर्थ बालक है, इसलिए मैं उस दुराचारी को अवश्य नष्ट कर दूँगा। यदि मैं इस बालक को नष्ट न करूँ तो मेरे असुरपने को धिक्कार है।

इस प्रकार विचार करके वह असुरदेव अपने विमान में से नीचे उतरकर रानी रुक्मणी के महल में आया। वहाँ आकर उसने सभी सैनिकों तथा स्त्रियों को अपनी ऋद्धि से सुला दिया। पश्चात् वह महल के दरवाजे के छिद्र में से अन्दर गया और रुक्मणी के पास से बालक को उठा लिया तथा महल के दरवाजे खोलकर, बालक को लेकर बाहर निकल गया। उसे लेकर अपने विमान में बैठ गया और विचार करने लगा कि इससे किस प्रकार मारकर पूर्व का बदला लेना चाहिए। बहुत विचार करने के बाद उसने निर्णय किया कि एक विशाल शिला के नीचे दबाकर इसे मार देना चाहिए। ऐसा विचारकर वह बालक को तक्षक नामक पर्वत पर ले गया। उस पर्वत पर एक खदीरा नामक अटवी थी। वह अटवी इतनी अधिक भयानक थी कि उसे देखकर यमराज को भी भय उत्पन्न हो जाये! वहाँ उस दयाहीन असुर ने बाबन हाथ लम्बी और पचास हाथ मोटी दलदार कठोर मजबूत पत्थर की शिला के नीचे उस बालक को दबा दिया। पश्चात् वह देव अपने पैर से उस शिला को दबाकर बोला कि—'हे दुरात्मन्! इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है, यह तुम्हारे

पूर्व कर्म का ही फल है।' ऐसा कहकर अपने मनोरथ की सिद्धि समझकर वह असुर वहाँ से निकल गया।

इतने घोर उपसर्ग करने पर भी बालक मरण को प्राप्त नहीं हुआ। सत्य ही है कि पुण्यात्मा जीवों को आपत्ति कुछ भी त्रास-दु:ख नहीं दे सकती। पुण्य के माहात्म्य से दु:ख भी सुखरूप में परिणमित हो जाता है। मनुष्य भले वन में हो या शहर में हो, परन्तु पूर्वोपार्जित पुण्य ही देहधारियों की रक्षा करनेवाला है। जिस भव्य जीव के भाग्य में पूर्व भव का संचित किया हुआ पुण्य पड़ा हो, उसका कैसा भी शत्रु क्यों न हो परन्तु वह उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

❖ ❖ ❖

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक विजयार्द्ध नामक सुप्रसिद्ध पर्वत है। उसकी दक्षिण दिशा में मेघकूट नाम का एक जगत विख्यात नगर धनधान्यादि से सम्पन्न और जिन -चैत्यालयों से सुशोभित है। उस नगर में कालसंवर नामक राजा, कनकमाला नाम की रानी-सहित राज्य करता था। एक दिन वह राजा अपनी रानी सहित अपने विमान में बैठकर घूमने निकला था। देववशात् वह उसी तक्षक पर्वत पर आया। वहाँ से निकलते हुए अचानक ही राजा का विमान रुक गया। उसका कारण जानने के लिये वह राजा अपनी पत्नी सहित पर्वत पर उतरा। वहाँ पर्वत पर खदीरा वन में एक विशाल शिला हिलते हुए देखकर उसने आश्चर्य से उस शिला को थोड़ी अपनी शक्ति से और थोड़ी अपने विद्या के बल से उठाकर देखा तो एक बालक सो रहा था और उसके सामने देखकर हँस रहा था।

ऐसे सुन्दर, बलवान, धीर-वीर, कान्तिवान, प्राणीमात्र के नेत्र और मन को हरण करनेवाले, पूर्वभव के संचित पुण्य को प्रगट करनेवाले और चरमशरीरी होने के कारण अपने बैरी दैत्य को जीतने में सर्व गुण सम्पन्न बालक को राजा कालसंवर ने देखा और उसे अपने हाथ में लेकर उठा लिया। उसने विचार किया कि यह कोई उच्चकुलीन भाग्यशाली बालक प्रतीत होता है। उसने वह बालक अपनी रानी को प्रदान किया और कहा—'हे देवी! तुम्हारे कोई पुत्र नहीं है और तुम्हें बालक की लालसा लगी रहती है तो यह सर्वांग

सुन्दर, सर्व गुणसम्पन्न बालक ग्रहण कर।' बालक को हाथ में लेने से रानी को थोड़ा संकोच हुआ और कहा कि—'महाराज! तुम्हारी दूसरी रानियों से पाँच सौ पुत्र हैं। यदि मेरा यह पुत्र उनका गुलाम होकर रह जाये तो वह मुझसे सहन नहीं होगा, मेरा जीवन निष्फल हो जायेगा।' ऐसा कहकर रानी रुदन करने लगी।

रानी कनकमाला को रोते देखकर राजा का हृदय शिथिल हो गया। उसने रानी से कहा—'हे देवी! तू व्यर्थ का शोक मत कर। देख, मैं तेरे सामने ही तेरे इस पुत्र को युवराज पद प्रदान करता हूँ।' ऐसा कहकर राजा कालसंवर ने अपने मुख के ताम्बुल से बालक को लाल तिलक किया और कहा—'बेटा! मैंने वास्तव में तुझे युवराज पद पर स्थापित किया है। अब तो इस राज्य का स्वामी या तो मैं हूँ या तू है, दूसरा कोई नहीं।' ऐसा कहकर राजा ने बालक, रानी को सौंप दिया। रानी ने बालक को अपने हाथ में लिया और सिर पर हाथ फिराकर आशीर्वाद दिया कि—'बेटा! तू माता-पिता को सुख प्रदान कर और तू चिरंजीवी हो।' ऐसा कहकर रानी, बालक को चुम्बन करके अत्यन्त ही आनन्दित हुई।

इस प्रकार तक्षक पर्वत की खदीरा नामक अटवी में से उस बालक को ले जाकर राजा-रानी दोनों विमान में बैठकर अपने मेघकूट नगर की ओर रवाना हुए। दोनों ने नगर में धूमधाम से प्रवेश किया। राजा ने अपने मन्त्रियों को बुलाकर कहा—'मन्त्रीवर! रानी को बहुत समय से गूढ़ गर्भ होने से आज वन में उसे पुत्ररत्न की उत्पत्ति हुई है। इसलिए प्रसूति के समस्त कार्य शीघ्र कराओ, नगर को शोभायमान करो और दीन-दु:खी लोगों को किमिच्छिक दान प्रदान करो।' तब से सातवें दिन उस बालक का नाम प्रद्युम्न रखा गया। पुण्य के माहात्म्य से प्रद्युम्न मात्र राजा कालसंवर और रानी कनकमाला को ही प्रिय नहीं था, अपितु दूसरी सभी रानियों को भी वह उतना ही प्रिय हो गया था।

पूर्व भव के बैरी दुष्ट असुर ने उसे मारने में कुछ बाकी नहीं रखा था, तथापि मेघकूट नगर में राजा कालसंवर के यहाँ सुख से वृद्धिगत होने लगा, इसमें मात्र पुण्य ही कारण है। **जिसके विशेष पुण्य का संचय होता है, उसे सहज में ही अनेक प्रकार के सुख प्राप्त हो जाते हैं, ऐसा जानकर हे भव्य जीवों! सदाकाल अपना परम हित करनेवाले धर्म को धारण करो। धर्म ही समस्त प्रकार के सुख का करनेवाला है, धर्म ही जीव का भला करनेवाला है, धर्म ही गुरुओं का गुरु है, धर्म से ही स्वर्ग, मोक्षादि के अनेक प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं और धर्म से ही सदाकाल निर्मल चन्द्रमा की चाँदनी जैसी निर्मल कीर्ति व्याप्त होती है। इसलिए हे बुद्धिमान भव्य जीवो! जिस जिनधर्म की उपासना मुनिन्द्र करते हैं, उसे तुम भी धारण करो।**

❖ ❖ ❖

एक ओर कालसंवर के स्वर्ग समान सुन्दर महलों में प्रद्युम्नकुमार अपने माता-पिता को सुखी कर रहा था, जबकि इस ओर द्वारिका नगरी में रुक्मणी अपने बालक के हरण से अत्यन्त दु:खी थी। जब दुष्ट दैत्य बालक को हरकर ले गया, तब थोड़ी देर पश्चात् रानी रुक्मणी निद्रा से सचेत होकर अपने पुत्र को इधर-उधर चारों ओर देखने लगी परन्तु कहीं भी नहीं दिखने से वह चिन्ताग्रस्त हो गयी। उसने नौकरों से पूछा—'बालक कहाँ है ?'—परन्तु किसी को कुछ भी ज्ञात न होने से वे कुछ उत्तर नहीं दे सके। कुछ भी उत्तर न मिलने से वह पागलवत् हो गयी। अचानक बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ी। सभी नौकर एकत्रित हो गये। शीतोपचार आदि द्वारा रानी रुक्मणी को सचेत किया गया। सचेत होते ही वह अपने पुत्र की याद में छाती कूटने लगी और जोर-जोर से अत्यन्त करुण विलाप करने लगी। उसे रुदन करते देखकर अन्त:पुर की सभी रानियाँ भी विलाप करने लगीं।

अचानक और पहले कभी भी नहीं सुना हो, ऐसे कोलाहल से श्री कृष्ण जागृत हो गये। उन्होंने नौकर को आज्ञा दी कि भलीभाँति खोज करके मुझे बतलाओ कि इस अर्धरात्रि में इतना कोलाहल किसका है ? सेवक तुरन्त ही अन्त:पुर में गया और हकीकत जानकर आया, किन्तु कुछ भी बोले बिना दु:खी हृदय से सिर झुकाकर खड़ा रहा। जब श्री कृष्ण ने पूछा कि यह कोलाहल किसका था, तब सेवक ने अत्यन्त दु:खित और गद्गद् वाणी से कहा—'हे प्रभो! मैं क्या कहूँ ? कुछ कहने योग्य बात नहीं है।' सेवक ने

दोनों हाथ जोड़कर कहा—'हे नाथ! कहते हुए मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। बात यह है कि किसी दुष्ट ने महारानी रुक्मणी के बालक का हरण कर लिया है।'

'क्या.. क्या.. क्या!.....' ऐसा कहते ही श्री कृष्ण मूर्च्छित हो गये। सेवकों ने उन्हें शीतोपचार द्वारा सचेत किया। सचेत होते ही पुत्र हरण की बात स्मरण में आते ही वे अत्यन्त शोक और विलाप करने लगे। वे तुरन्त बान्धवों सहित सीधे रुक्मणी के महल में गये। श्री कृष्ण के आने से रुक्मणी अधिक जोर-जोर से विलाप करने लगी। ऐसे समय में माता-पिता को कैसा अपार दु:ख होता है, वह अवर्णनीय है, वह मात्र अनुभवगम्य है!

श्री कृष्ण कहने लगे—'**जगत में दो ही पदार्थ हैं, होनहार और पुरुषार्थ! उसमें होनहार ही प्रबल है; जो पुरुषार्थ का गर्व करते हैं, उन्हें धिक्कार है। यदि पुरुषार्थ ही प्रबल होता तो मैं वासुदेव, खुली हुई नग्न तलवार समान तेजस्वी, मेरे पुत्र को शत्रु किस प्रकार हरकर ले जाये!**'—इत्यादि प्रकार से श्री कृष्ण और रुक्मणी विलाप कर रहे थे, तब वृद्ध मन्त्री आये। उन्होंने विनयपूर्वक गद्‌गद् वाणी से कहा—

'हे महाराज! आप संसार के स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं। जो जीव इस असार संसार में जन्म लेता है, उसका आयु के अन्त में नियम से मरण होता है। छह खण्ड पृथ्वी को वश में करनेवाले जितने चक्रवर्ती हुए हैं, वे सब आयु के अन्त में काल का ग्रास बन गये हैं। पृथ्वी पर अब उनका नाममात्र रह गया है। धर्मचक्र के प्रवर्तक तीर्थंकर भगवान, जो सुर-असुर द्वारा वंदित हैं, जिन्होंने केवलज्ञानरूपी दीपक तीन लोक के पदार्थ को क्रमरहित प्रत्यक्ष देखा है; जो संसाररूपी समुद्र से स्वयं तैरने और अन्य को तिराने में समर्थ हैं, उनका भी परमौदारिकशरीर आयु के अन्त में काल का ग्रास बन गया है। अरिहन्त भगवान का यही कथन है कि जो जीव जन्म लेता है, वह नियम से मृत्यु को प्राप्त होता है और सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दु:ख भोगते हैं। हे स्वामी! यमराज का छोटे-बड़े सबके साथ एक समान वर्तन होता है, इसलिए शोक और दु:ख तजकर शान्त होवें क्योंकि शोक, संसार का कारण है। शोक करने से कहीं जीव का दु:ख घटता नहीं है किन्तु बढ़ता है। जो बुद्धिमान पुरुष होते हैं, वे किसी चीज़ के खो जाने से अथवा किसी की मृत्यु से शोक नहीं करते क्योंकि शोक, भूख और अनिद्रा-इन तीन की जैसे-जैसे

चिन्ता की जाती है, वैसे-वैसे इनमें वृद्धि होती जाती है। हे तीन खण्ड के स्वामी! यदि आप ही इस प्रकार चिन्ताग्रस्त होकर शोक करेंगे तो आपकी प्रजा भी दु:खी हो जायेगी; इसलिए आपको खेद करना उचित नहीं है। क्या आप समान ज्ञानवानों को—जो कि इस संसार का स्वरूप भलीभाँति जानते हैं, उन्हें इस प्रकार शोक करना चाहिए? कभी भी नहीं। तदुपरान्त इसमें भी सन्देह नहीं है कि जो बालक यादव कुल में उत्पन्न होता है, वह सौभाग्यवान, बलवान और दीर्घ आयु का धारक होता है।'

मन्त्रियों के इस प्रकार समझाने से श्री कृष्ण ने शोक का त्याग किया और उन्होंने इस प्रकार रुक्मणी को समझाकर उसे भी शान्त किया और कहा—'हे देवी! मैं अभी अपने सुभटों को समस्त दिशाओं में भेजकर तुम्हारे बालक को खोजकर तुम्हारी गोद में बैठा देता हूँ।' ऐसा कहकर श्री कृष्ण ने अपने सुभटों को दशों दिशाओं में भेज दिया। थोड़े दिनों में वे सब वापिस आये और बालक के समाचार नहीं मिलने से लज्जापूर्वक मुख नीचा करके खड़े रहे। श्री कृष्ण उनका भाव समझकर मन मसोसकर, शोक दबाकर चुप रहे। उस समय पूरी नगरी शोक में डूब गयी। पूरी नगरी उत्साह और उत्सव हीन हो गयी।

❖ ❖ ❖

इस हृदयविदारक घटना के कुछ समय पश्चात्, घूमते-घूमते नारदजी द्वारिका के ऊपर से गुजर रहे थे, तब उन्होंने सम्पूर्ण नगरी को उत्सवहीन एवं शोकाकुल देखा और वे एक उद्यान में उतर गये। उन्होंने मार्ग में गमन करते हुए किसी पथिक से शोक का कारण पूछा। उन्हें विदित हुआ कि रानी रुक्मणी के पुत्र का हरण हो जाने से श्री कृष्ण के शोक के कारण नगरी की ऐसी दशा है।

वज्रप्रहार जैसे ये कठोर वचन सुनते ही नारदजी बेहोश होकर धरती पर गिर पड़े। थोड़ी देर में शीतल हवा से सचेत हो गये। वे श्री कृष्ण की दशा का स्मरण करके वे शीघ्र ही श्री कृष्ण के निकट पहुँच गये। श्री कृष्ण ने उन्हें देखकर यथायोग्य नमस्कार किया और आसन देकर उनके निकट ही शोक व्यक्त किया। नारदजी दु:ख के भार से कुछ भी बोल नहीं सके।

देखो, जिनेन्द्रदेव ने जो स्याद्वादवाणी का प्ररूपण किया है, नारदजी उसके ज्ञाता थे,

उसके बल से वे अपने दु:ख के स्वरूप को पहिचानते थे। वे सात तत्त्वों के ज्ञाता थे और दूसरों को सम्बोधन करने में भी पूर्ण पण्डित थे, तथापि श्री कृष्ण के दु:ख को देखकर दु:खी हो रहे थे, क्योंकि **मोह की लीला अपरम्पार है।**

थोड़ी देर पश्चात् अपने दु:ख को दबाकर संक्लेशसहित गद्गद् वाणी से नारदजी ने कहा—'हे कृष्णराज! मेरी बात ध्यान से सुनो। जो कुछ सर्वज्ञ जिनेश्वर ने कहा है, वही मैं तुम्हें कहता हूँ। जितने संसारी जीव हैं, उनका एक न एक दिन विनाश अवश्य होता है—ऐसा जानकर, शास्त्र रहस्य के जाननेवालों को शोक नहीं करना चाहिए। चिन्ता करने से गयी हुई वस्तु मिल थोड़े ही जाती है! यदि कोई मर जाये और उसकी चिन्ता की जाये - शोक किया जाये तो वह वापिस थोड़े ही आ जाता है? जिन श्रेष्ठ पुरुषों ने संसार को असार जानकर परित्याग किया है और वन में जाकर तपश्चरण किया है, वे ही धन्य हैं। उन सत्पुरुषों को माता-पिता के वियोग से, शत्रु द्वारा पुत्र का हरण होने से अथवा किसी के मरण या जन्म से न सुख होता है ओर न दु:ख होता है! यद्यपि मैंने घर छोड़ दिया है, सांसारिक सुखों का त्याग किया है, वन में वास करता हूँ, देशव्रत संयम का धारक हूँ तथा सम्यक्त्व से विभूषित हूँ, तो भी केवल तुम्हारे स्नेह से, तुम्हें चिन्तातुर देखकर मैं दु:खी और चिन्तित हूँ। हे कृष्ण! पुत्र के वियोग से तुम्हें अप्रमाण दु:ख हो रहा है, और तुम्हें दु:खी देखकर मैं भी जीवन निरर्थक समझता हूँ।'

श्री कृष्ण को समझाने के पश्चात् उनके कहने से नारदजी रानी रुक्मणी के महल में उसे सम्बोधन / समझाने के लिये गये। नारदजी ने रुक्मणी को भी बहुत समझाया और आशा बँधायी कि तुम्हारा पुत्र अवश्य वापिस आयेगा। नारदजी ने कहा—'पूर्व में सीताजी के भाई भामण्डल को भी पूर्व का शत्रु उठाकर ले गया था और ऐसा होने पर भी उसका पालन-पोषण विद्याधरों के देश में हुआ तथा थोड़े समय पश्चात् अनेक विद्याओंसहित वापिस आकर वह अपने माता-पिता से मिला। इसी प्रकार तुम्हारे पुत्र को भी अवश्य कोई पूर्व का शत्रु देव उठाकर ले गया है परन्तु तुम चिन्ता नहीं करो, वह भी थोड़े समय में अनेक विद्याओंसहित वापिस आयेगा और अवश्य तुम्हें मिलेगा। मैं अभी ही पूर्व विदेह में जहाँ श्री सीमन्धर भगवान विराजमान हैं, वहाँ जा रहा हूँ, क्योंकि कंस के छोटे भाई श्री

अतिमुक्तक मुनिराज, जिन्हें केवलज्ञान हुआ था, वे मोक्ष में पधारे हैं और श्री नेमिकुमार मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक हैं, परन्तु वे कुछ कहेंगे नहीं। श्री सीमन्धर भगवान के समीप प्रद्युम्न के समाचार जानकर मैं शीघ्र ही तुम्हारे पास आकर बतलाऊँगा'—ऐसा कहकर, सान्त्वना प्रदानकर नारदजी सीधे पूर्व विदेह में श्री सीमन्धर भगवान के समवसरण में जा पहुँचे।

❖ ❖ ❖

नारदजी पुण्डरिकणी नगरी में जहाँ श्री सीमन्धर भगवान समवसरणसहित विराजमान थे, वहाँ जा पहुँचे। दूर से ही समवसरण को देखकर वे नीचे उतरे और भक्तिपूर्वक समवसरण में प्रवेश किया। भगवान को वन्दन-प्रदक्षिणा करके उनकी स्तुति करने के पश्चात् जहाँ मनुष्य के कोठे में बैठने गये, वहाँ पाँच सौ धनुष की ऊँचाईवाले मनुष्यों को देखकर नारदजी ने विचार किया कि यदि भूल से इन लोगों का पैर मेरे ऊपर गिरा तो मेरा आयुष्य पूर्ण हो जायेगा। इसलिए इनके बीच में बैठने की अपेक्षा भगवान के आसन के निकट बैठना अच्छा है - ऐसा विचार कर नारदजी, भगवान के सिंहासन के नीचे बैठ गये। उसी समय जो पद्मनाभि नामक चक्रवर्ती वहाँ बैठे हुए थे, उन्हें नारदजी को नीचे बैठा हुआ देखकर आश्चर्य हुआ कि यह किस गति का मनुष्याकार जीव है!? उन्होंने भगवान से प्रश्न किया—'प्रभो! यह किस गति का जीव है? यहाँ क्या कर रहा है? कहाँ से यहाँ आया है?'

भगवान की दिव्यध्वनि खिरी कि—'हे राजन! सुन, यह मनुष्य है, यह भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुआ है, इसका नाम नारद है। यह पृथ्वी पर विख्यात ज्ञानवान और चतुर है। यह ढाई द्वीप में अपनी इच्छानुसार घूम सकता है। यह नौवें अधोबदन नामक नारद है जो मोक्षमार्ग में निपुण है, देशव्रतधारी है। यह भरतक्षेत्र के अर्ध चक्री श्री कृष्ण नारायण का परम मित्र है। यहाँ श्री कृष्ण के पुत्र की खोज में निकला है और वह पुत्र अभी कहाँ है, उसका ठिकाना जानने के लिये आया है।'

चक्रवर्ती पूछता है—'हे भगवान! मुझे कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र कहिये।' चक्रवर्ती के प्रश्न के उत्तर में भगवान की वाणी में आया कि 'श्री कृष्ण को रुक्मणी नामक

रानी से प्रद्युम्न नामक पुत्र हुआ है। उसका जन्म होते ही पूर्व का शत्रु दैत्य उसे उठाकर ले गया है और एक विशाल शिला के नीचे उसे मार डालने के लिये दबा दिया। उसके जाने के बाद विद्याधरों का राजा कालसंवर अपनी पत्नी कनकमाला सहित वहाँ आया और शिला को अपने आप हिलते देखकर उसने विद्या-बल से उस शिला को उठाया तो नीचे बालक को देखकर आश्चर्यचकित हो गया। उसने बालक को उठा लिया और अपनी रानी को सौंप दिया। अभी वह विद्याधरों के यहाँ बड़ा हो रहा है। जब वह सोलह वर्ष का होगा, तब सोलह प्रकार के लाभ और दो विद्याओंसहित द्वारिका आयेगा तथा अपने माता-पिता से मिलेगा।'

इतना सुनकर चक्रवर्ती ने पुनः प्रश्न किया—'हे कृपासिन्धु! आप कृपा करके कृष्ण पुत्र प्रद्युम्नकुमार का सम्पूर्ण वृत्तान्त बतलाने का अनुग्रह करें। उसे पूर्व में दैत्य से बैर होने का क्या कारण था? उसने पूर्व में कैसा पुण्य बाँधा था?' इस प्रश्न के उत्तर में भगवान की वाणी में आया—

❖ ❖ ❖

''जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मगध नाम का एक रमणीय देश है। उस देश में शालिग्राम नामक एक विख्यात नगर है। एक बार इस नगर में सोमदत्त नामक एक रूपवान ब्राह्मण रहता था, जिसे अपनी जाति-कुल का बहुत अभिमान था। उसकी पत्नी का नाम अग्निला था। उनके दो पुत्र थे, जो वेद शास्त्र के पारगामी, नवयुवक, धन-धान्य सम्पन्न, बलवान, अपनी जाति पर घमण्ड करनेवाले, दूसरों को तृण समान माननेवाले और विद्या वैभव से संयुक्त थे। पहले पुत्र का नाम अग्निभूति और दूसरे पुत्र का नाम वायुभूति था। ये दोनों भाई मिथ्यामतालम्बी और जैनधर्म से सर्वथा परान्मुख थे। ये दोनों भाई श्री वासुपूज्य तीर्थंकर के समय में हुए थे। जब ये दोनों भाई मगध देश में रहते थे, उसी समय एक दूसरी घटना इस प्रकार घटित हुई।

मगध देश के बाहर रमणीक वन में श्री नन्दीवर्धन नामक आचार्य अपने शिष्यवर्ग के साथ पधारे। वे आचार्य काम का नाश करनेवाले, सर्व शास्त्रों के पारगामी, ज्ञाननेत्र के धारक, गम्भीर वाणी बोलनेवाले, अनेक प्रकार की लब्धि से शोभायमान और त्रिगुप्ति के

पालक थे। वे जहाँ वन में अशोकवृक्ष के नीचे एक शिला पड़ी थी, उस पर बैठकर पठन-पाठन-ध्यान आदि अपनी क्रिया करने लगे। जब नगरजनों को ज्ञात हुआ कि वन में मुनिराज पधारे हैं तो कितने ही जिनशासन के भक्त लोग वन्दना करने गये। कितने ही लोकलाज से गये और कितने ही कौतुहल से वहाँ गये।

अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनकर अनेक प्रकार के उत्सव करते-करते नगरवासियों को वन की ओर जाते देखकर ब्राह्मण पुत्र अग्निभूति और वायुभूति ने किसी श्रावक से पूछा कि 'आज सब अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनकर वन की ओर क्यों जा रहे हैं ?' तब उस श्रावक ने उत्तर दिया कि 'सर्व शास्त्रों के पारगामी, अनेक ऋद्धियों के धारक, देव और मनुष्यों द्वारा पूजने योग्य मुनिराजश्री वन में पधारे हैं और उनकी वन्दना के लिये सर्व सज्जन जा रहे हैं।'

श्रावक की बात सुनकर द्विजपुत्रों ने कहा—'रे मूर्ख शिरोमणी ! तू कैसे निन्दनीय वचन बोल रहा है ? दिगम्बर तो जगत निन्द्य होते हैं, उनका शरीर मलिन होता है, वे मूर्ख होते हैं, वेद शास्त्र को बिल्कुल नहीं जानते। उन्हें साधु किस प्रकार कहा जा सकता है ? जो ब्राह्मणों के कुल में उत्पन्न हो, वेदों का पाठी हो, बुद्धिमान हो, तरण-तारन समर्थ हो, वही साधु कहलाता है। हे सठ ! इसलिए पृथ्वीतल पर हम ही पूज्य हैं।'

तब जिसका हृदय मुनिभक्ति से भींगा हुआ था, उस श्रावक ने कहा—'अरे दुष्ट ! तुम धर्म-अधर्म की क्रिया से रहित हो, गृहस्थदशा में पड़े हो, स्त्रियों के मोह में फँसे हो, निन्दा के पात्र हो तो फिर तुम्हें किस प्रकार साधु कहा जाये ? जिनके चरणों की रज से भव्य जीवों ने अपनी देह पवित्र की है तथा जो नि:सन्देह स्वर्गादि के सुख भोगकर परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं, वे ही सच्चे साधु जगत्पूज्य हैं। वे सर्व प्राणियों के हित के कर्ता हैं तथा लोक निन्दा के समय मौन धारण करनेवाले हैं, कायवार्ता से रहित हैं और स्वयं जगत से तिरने तथा दूसरों को तारने में समर्थ हैं। पंचेन्द्रिय के विषयों में आसक्त तुम्हारे जैसे ब्राह्मण कभी भी साधु नहीं कहलाते। हे द्विजपुत्रों ! साधु की निन्दा करते हुए तुम्हारी जीभ के हजारों टुकड़े क्यों नहीं हो गये !' श्रावक के वचन सुनकर द्विजपुत्र क्रोध से भरकर बोले—'इस मूर्ख से वाद करने से क्या लाभ ? हम उन दिगम्बरों से ही वाद करेंगे।' ऐसा कहकर वे ब्राह्मण अपने घर गये और श्रावक वन में गया।

घर जाकर द्विजपुत्रों ने पिता को प्रणाम करके कहा—'हे पिताजी! अपने शहर के निकट वन में मूर्ख दिगम्बर मुनि आये हैं, उनके साथ विवाद करने के लिये हम जा रहे हैं। क्योंकि यदि वे दो-तीन दिन भी वन में रहेंगे तो बहुत मनुष्य वेद शास्त्र से विमुख हो जायेंगे। वे जैन शास्त्रों को भलीभाँति जानते हैं; इसलिए वेद शास्त्र को मूल से उखाड़ देंगे। इसलिए हमारा विचार है कि हम वेद शास्त्र के बल से उन्हें वाद में पराजित कर यहाँ से शीघ्र भगा दें।'

तब पिताजी ने कहा—'हे पुत्रो! तुम वन में मत जाओ क्योंकि दिगम्बर साधु बहुत चतुर होते हैं। विविध देशों में विहार करते रहने से अनुभवी हो जाते हैं। सर्व शास्त्रों के पारगामी होने से वे शास्त्रार्थ में निपुण होते हैं और प्रतिदिन पठन-पाठन में लगे रहते हैं। इसलिए जगत में किसकी सामर्थ्य है कि जो दिगम्बर साधु से वाद करे!'

गर्व से युक्त मूर्ख पुत्रों ने पिता के वचनों पर ध्यान नहीं दिया। मूर्खता से-अभिमान से चकचूर वे बोले कि—'हम दोनों को विद्या अथवा वाद में पराजित करनेवाला पृथ्वी पर कौन है? आप ऐसे दीन वचन कैसे कहते हो? देखो हम अभी वन में जाते हैं और उन्हें पराजित करके आते हैं।' ऐसा कहकर माता-पिता के इनकार करने पर भी वे दोनों भाई वन की ओर चल निकले।

वे दोनों भाई धीरे-धीरे बड़बड़ाते हुए वन में जहाँ नन्दीवर्धन महामुनिराज विराजमान थे, वहाँ जा रहे थे। मार्ग में एक पहाड़ की तलहटी में सात्विकी मुनिराज ने उन्हें जाते हुए देखा और विचार किया कि ये दोनों मूर्ख, महामुनिराज को बाधा पहुँचायेंगे। ऐसा विचारकर सात्विक मुनिराज ने दोनों भाईयों को बुलाकर कहा—'तुम कहाँ जा रहे हो?' तब विप्रों ने बहुत अहंकार से कहा कि—'हम नन्दीवर्धन नामक साधु को वाद में पराजित करने जा रहे हैं।' तब सात्विक मुनिराज ने कहा—'तुम्हें जो कुछ वाद करना हो, वह मेरे साथ करो, मैं तुम्हारी सब अभिलाषा पूर्ण करूँगा।'

मुनिराज के वचन सुनकर उन विप्रों ने क्रोध से कहा—'रे लज्जाहीन! यदि तू विद्वानों की भरी सभा में हमें वाद में परास्त करेगा तो हम जीवनपर्यन्त तुम्हारे शिष्य बन जायेंगे और यदि तू पराजित होगा तो शीघ्र ही यह नगर छोड़कर चले जाना।'

मुनिराज ने जरा भी कषाय किये बिना कहा—'तुम्हारे वचन प्रमाण हैं।'

इस प्रकार मुनिराज और विप्रों के बीच वाद के समाचार सुनते ही समस्त नगरवासी वहाँ उमड़ पड़े।

मुनिराज ने विप्रों से कहा—'तुम्हें कोई प्रश्न हो तो पूछो।'

तब विप्रों ने अहंकार से कहा—'तुझे कोई प्रश्न हो तो हमसे पूछ, हम तुझे उत्तर देंगे।'

तब मुनिराज ने कहा—'मैं तो यह जानता हूँ कि तुम सोमशर्मा ब्राह्मण के पुत्र हो परन्तु पूर्व भव की कौन सी पर्याय छोड़कर यहाँ आये हो, वह तुम्हें खबर है ?' तब विप्र ने कहा—'तू निश्चित ही सठ लगता है ! ऐसा कोई है कि जो पूर्वभव की बात जानता हो ! हम तो नहीं जानते; यदि तुझे सत्य बात पता हो तो बतला।'

❖ ❖ ❖

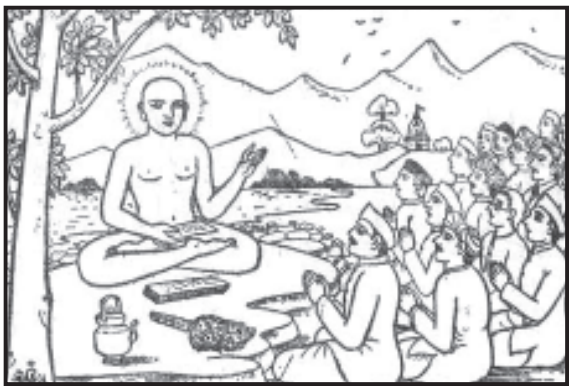

मुनिराज ने कहा—'पहले इस शालीग्राम नामक गाँव में प्रवर नामक धनाढ्य ब्राह्मण रहता था, जिसके यहाँ खेती का कार्य होता था। उसके खेत में एक बड़ वृक्ष था। जिसके नीचे कर्मयोग से दो सियार रहते थे। मृतकों का माँस खाकर वे दोनों अपना गुजारा चलाते थे और आनन्द में रहते थे। एक दिन वह प्रवर नामक ब्राह्मण अपने खेत की ओर जा रहा था, वहाँ अचानक बहुत भयंकर वर्षा प्रारम्भ हुई, जिससे ब्राह्मण वापस अपने घर चला गया। लगातार सात दिन तक वर्षा गिरती रही और वे सियार भूख के दुःख से तड़फते रहे। आठवें दिन जब वर्षा बन्द हुई और पानी कुछ कम हुआ, तब दोनों सियार बाहर निकले और तीव्र भूख के कारण, एक गिरी हुई रस्सी थी, उसे खा गये। जिससे शूल की भयंकर वेदना उठने से दोनों मर गये और वहाँ से इस सोमशर्मा ब्राह्मण के यहाँ तुम दोनों द्विजपुत्र के रूप में उत्पन्न हुए हो।

हे ब्राह्मणों! जो तुम्हारे वैराग्य का कारण है, उसे तुम क्यों भूल गये! इस भव-भवान्तर में जीव जैसे पुण्य बाँधते हैं, तद्नुसार मिष्ट फल भोगते हैं। जो जीव यथार्थ धर्म से विमुख रहता है, वह जाति, कुल, रूप, सौभाग्य, धन-धान्य से भी वर्जित रहता है और विद्या, यश, बल, लाभ आदि उत्तमोत्तम पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती। धर्म विहीन प्राणी, उत्तम सुख का भागी नहीं होता। यथार्थ धर्म के प्रभाव से यह जीव उत्तम अंग का धारक, उच्चकुल में जन्म लेनेवाला, विद्यावान, धनवान, सुखी, देव पूजा में तत्पर, समस्त जीवों की दया पालनेवाला, सर्व का हितैषी और क्रोध, मान, कषाय से रहित होता है। इसलिए तत्त्वज्ञानियों को पहले ही धर्म-अधर्म का स्वरूप भले प्रकार से समझ लेना चाहिए और पाप को दूर ही से छोड़कर अपना चित्त धर्म में लगाना चाहिए। हे द्विजपुत्रों! यदि तुम ऐसा कहो कि पूर्व भव की वार्ता जो वर्णन की गयी है, वह तुम्हें स्मरण नहीं है तो मैं समस्त मनुष्यों के सामने प्रत्यक्ष कर देता हूँ, वह सुनो!'

❖ ❖ ❖

'वह प्रवर नामक किसान वर्षा बन्द होने के बाद जब अपने खेत की दशा देखने गया तो देखता है कि हल आदि सभी सामान बिखरा पड़ा है और उसकी रस्सी आधी खायी हुई पड़ी है तथा बगल में मरे हुए दो सियार पड़े हैं। प्रवर को दोनों सियारों पर बहुत गुस्सा आया, जिससे उसने उन दोनों सियारों की चमड़ी कटवाकर उनकी भातड़ी बनाकर अपने घर ले गया और अपने घर के छापरा की खूँटी से कसकर बाँध दिया और निश्चिन्त हो गया। वह भातड़ी अभी तक वहीं बँधी पड़ी है। यदि किसी को विश्वास न होता हो तो यह जो मूँगा बैठा हुआ है, इसके घर में जाकर देख लो।

जो प्रवर नामक ब्राह्मण था, उसने अनेक यज्ञ, होम आदि किये थे, इसलिए आयु के अन्त में मरकर वह मोहवश अपने पुत्र के पुत्ररूप से जन्मा। उस बालक को अपने घर की जमीन देखकर जातिस्मरण हो गया। पूर्व भव की बात याद आने पर वह विषाद करने लगा कि अब मैं क्या करूँ? अब मैं अपने ही पुत्र को पिता और पुत्रवधू को माता किस प्रकार कहूँ? ऐसी चिन्ता करते-करते उसे मूक रहने का विचार आया। तद्नुसार बाल्यावस्था से ही मौन धारण करके मूक जैसी अवस्था में ही युवा हुआ है। हे द्विजपुत्रो! अपना वाद-

विवाद सुनने की अभिलाषा से वह मूक ब्राह्मण सभी मनुष्यों के साथ यहाँ आया है और इस सभा में सामने बैठा है।'

दयासिन्धु सात्विकी मुनिराज ने सभी मनुष्यों के सामने उस मूक ब्राह्मण को बुलाया और कहा—'हे प्रवर पौत्र! तूने अज्ञानता से मौन किसलिये धारण कर रखा है। यह मौन छोड़ दे और अपने अमृतस्वरूप वचनों से बन्धुओं को आश्वासन प्रदान कर।

संसार की ऐसी ही विचित्र लीला है कि जो अपनी पुत्री हो, वह माता बन जाती है; पिता हो, वह पुत्र हो जाता है; मालिक, सेवक हो जाता है और सेवक, मालिक बन जाता है; पुत्रवधू, पुत्री बन जाती है; माता, पुत्री बन जाती है; धनवान, निर्धन और निर्धन, धनवान बन जाता है; बहिन-पुत्री-माता हों, वे स्त्री बन जाती हैं और स्त्री हो, वह बहिन-पुत्री-माता बन जाती है! यह सब कर्म की विचित्रता है - ऐसा जानकर बुद्धिमानों को हर्ष तथा शोक नहीं करना चाहिए। इसलिए अब इन सबको सुखप्रदायक और संसार के भय को नष्ट करनेवाला एक धर्म ही करना चाहिए, जिससे अन्य जन्म में कर्म के फल से उत्पन्न होनेवाला और बन्धुओं का वियोग करनेवाला भयंकर दुःख फिर से न भोगना पड़े।'

श्री सात्विकी मुनिराज के वचन सुनकर वह मूक ब्राह्मण गद्गद होकर बोला—'हे भगवान! मुझे संसार समुद्र से पार करनेवाली जिनदीक्षा शीघ्र प्रदान करें। मुझे इस असार संसार के बन्धुजन, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन-धान्यादि से कुछ प्रयोजन नहीं है। हे भगवन! मैंने भलीभाँति अनुभव कर लिया है कि यह असार संसार तृण के समान त्यागने योग्य है, इसलिए जिससे भववास समाप्त हो जाये, ऐसी जिनदीक्षा मुझे प्रदान करो।'

सात्विकी मुनिराज ने बोलते हुए मूक ब्राह्मण को दीक्षा अंगीकार करने में तत्पर जानकर कहा—'हे वत्स! पहले तू अपने माता-पिता से और कुटुम्बीजनों से मिलकर उनकी आज्ञा लेकर आ, फिर तुझे दीक्षा प्राप्त होगी।'

मुनिराज के वचनों का उल्लंघन करना उचित नहीं है—ऐसा विचारकर वह मूक ब्राह्मण शीघ्र ही अपने घर गया और कुटुम्बियों से मिलकर बोलने लगा। उसे बोलते देखकर उसके माता-पिता रोते-रोते बोले कि—'बेटा! तू किसके बहकावे में आकर

आज तक बोलता नहीं था ?' तब उसने कहा कि—'पूर्व में मैंने अनेक अशुभकर्म किये थे, इसलिए मैं मरकर अपने पुत्र का ही पुत्र हुए हूँ। जातिस्मरण से जब मुझे ज्ञात हुआ कि मैं अपने ही पुत्र का पुत्र हुआ हूँ तो लज्जावश कि मैं अपने पुत्र को पिता और पुत्रवधू को माता किस प्रकार कहूँगा - ऐसा विचारकर चुप हो गया था। अब मैं संसार का नाश करनेवाली जिनदीक्षा धारण करूँगा क्योंकि जब तक यह प्राणी संसार के जाल में फँसा हुआ रहता है, तब तक अनेक प्रकार के सुख-दु:ख, उच्च-नीच पद को प्राप्त करता रहता है। यह जीव अकेला ही अपने उपार्जित किये हुए पुण्य-पाप अनुसार सुख-दु:ख प्राप्त करता है; अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है - ऐसा जानकर संसार का कारणभूत मोह कभी भी नहीं करना चाहिए। इसलिए मैं अपने आत्मकल्याण के लिये वीतराग दिगम्बर जिनदीक्षा ग्रहण करूँगा।' ऐसा कहकर उस प्रवर पौत्र ने सबसे क्षमायाचना की और सबको क्षमा करके वहाँ से वन की ओर गमन कर दिया।

वन में आकर उस प्रवर पौत्र ने मुनिराज को नमस्कार किया। अणुव्रत अंगीकार करके मुनिराज के निकट बैठ गया। उसे देखकर तथा उसके भव सुनकर कितने ही जीवों को वैराग्य हो गया, कितने ही जीवों ने गृहीत मिथ्यात्व का त्याग किया, कितने ही जीवों ने अणुव्रत धारण किये। जो लोग मुनिराज के वचन सुनकर प्रवर पौत्र के घर भातड़ी देखने गये थे, वे उस भातड़ी को देखकर आ गये। जिससे सबको उस पर दृढ़ श्रद्धा हो गयी। यह देखकर द्विजपुत्र—अग्निभूति और वायुभूति का मान गल गया। सब लोगों ने उन्हें धिक्कारा, तब वे अपना मुख छुपाते हुए घर की ओर चले गये।

❖ ❖ ❖

जब द्विजपुत्रों के माता-पिता ने उन्हें पराजित होकर आते हुए देखा, तब उन्होंने दोनों पर बहुत क्रोध किया, बहुत यद्वा-तद्वा कह सुनाया। उन्होंने कहा—'पराजित होकर हमें अपना मुख दिखाने क्यों आये ? या तो तुम्हें डूब मर जाना था अथवा तो उस दिगम्बरी को मार डालना था।' माता-पिता के ऐसे वचन सुनकर दोनों भाई अपनी तलवार लेकर निकल गये और रात होने का इन्तजार करने लगे।

❖ ❖ ❖

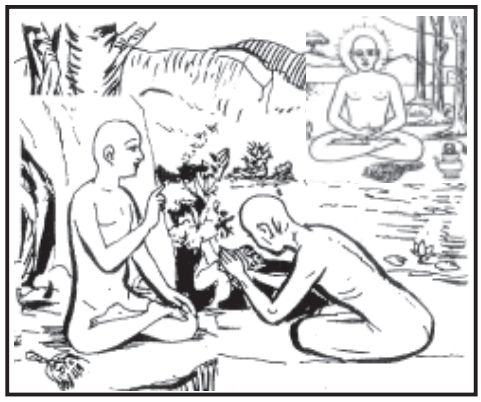

इस ओर द्विजपुत्रों को वाद में पराजित करने के बाद सात्विकी मुनिराज अपने आचार्य के निकट आये और वाद-विवाद सम्बन्धी समस्त वास्तविकता कहकर प्रायश्चित्त किया। तब नन्दीवर्धन मुनिराज ने उन्हें कहा कि—'संघ पर संकट आ सकता है, इसलिए जिस जगह तुमने वाद किया है, उसी जगह आज की रात्रि व्यतीत करना चाहिए।' सात्विकी मुनिराज ने आचार्यश्री को प्रणाम किया और अपने वाद के स्थल पर पहुँचकर आत्मध्यान में विराजमान हो गये।

नन्दीवर्धन महामुनिराज ने प्रवर पौत्र को जिनदीक्षा प्रदान की, क्योंकि आचार्य समीप में विद्यमान होने से शिष्य दीक्षा नहीं दे सकता।

❖ ❖ ❖

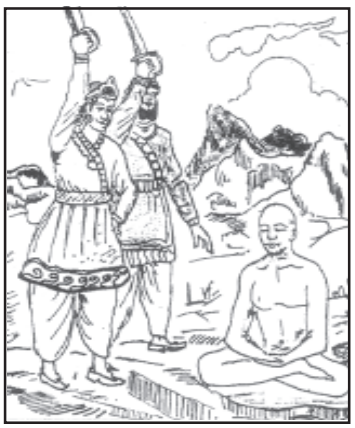

रात्रि होते ही दोनों द्विजपुत्र तलवार लेकर जहाँ वाद-विवाद हुआ था, उसी स्थल पर आ पहुँचे और सात्विकी मुनिराज को देखते ही क्रोध से भरकर दोनों भाई एक साथ तलवार उठाकर जहाँ मुनिराज को मारने हेतु उद्यत हुए, उसी समय उस स्थान का रक्षक यक्षराज ऊपर से निकल रहा था, उसने मुनिराज की हत्या होते देखकर क्रोध से भरकर उन दोनों भाईयों को उठी हुई तलवार के साथ ही ज्यों का त्यों कीलित कर दिया और विचार किया कि प्रात:काल सभी लोगों के समक्ष इन दोनों भाईयों को मार दूँगा क्योंकि अभी इन दोनों को मारूँगा तो लोगों को ऐसा लगेगा कि मुनिराज ने दोनों भाईयों का वध किया है। ऐसा विचार कर उन दोनों भाईयों को रात्रि में न मारकर मात्र कीलित कर दिया।

❖ ❖ ❖

प्रात:काल होते ही लोग मुनिराज के दर्शनार्थ आने लगे और वहाँ का दृश्य देखते

ही सबको आश्चर्य के साथ अत्यन्त दु:ख भी हुआ। यह वार्ता सम्पूर्ण नगर में व्याप्त हो जाने से नगर के सभी नर-नारी वन में एकत्रित हो गये। राजा भी यह समाचार सुनते ही वहाँ आ पहुँचा। सोमशर्मा और अग्निला भी समाचार प्राप्त होते ही दु:खी हृदय से उस वन में पहुँच गये और मुनिराज के चरणों में गिरकर अपने पुत्रों को अभयदान देने के लिये प्रार्थना करने लगे।

उसी समय मुनिराज का ध्यान पूर्ण हुआ। उन्होंने दोनों भाईयों की स्थिति देखकर उनके प्रति किंचित् भी द्वेष अथवा क्रोध किये बिना उन्होंने कहा कि—'जिस दयालु यक्षराज ने यह चमत्कार किया है, वह सामने प्रगट हो और इन दोनों भाईयों को मुक्त करे।'

मुनिराज के वचन सुनकर, उनकी आज्ञानुसार यक्षराज प्रगट हुआ और उसने मुनिराज को प्रणाम करके रात्रिकालीन सम्पूर्ण वृत्तान्त बतलाते हुए कहा—'हे भगवान! आप इस ओर ध्यान न दें और मुझे मेरा कार्य करने दें' - ऐसा कहकर जहाँ यक्षराज उन दोनों भाईयों को मारने हेतु उद्यत हुआ, तब मुनिराज ने कहा—'हे यक्षराज! सुन! बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथस्वामी के वंश में श्रीकृष्ण नारायण के ये दोनों पुत्र होकर उसी भव से मोक्ष जायेंगे; इसलिए तू इन दोनों को मुक्त कर।'

भविष्य में सिद्ध होनेवाले होने से इन दोनों भाईयों को मुक्त करके, मुनिराज को प्रणाम करके, यक्षराज अदृश्य हो गया। यह सब चमत्कार देखकर राजा और प्रजा, सबको जैनधर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा हो गयी।

बन्धन से मुक्त होते ही दोनों द्विजपुत्र, मुनिराजश्री के चरणों में गिरकर बोले—'हे प्रभो! हमने घोर अपराध किया है, हमें क्षमा करो।' तब अत्यन्त करुणावन्त मुनिराज ने कहा—'हे भव्य हमने तो पहले से ही क्षमा धारण की हुई है। संसार में यह जीव अपने कर्मानुसार सुख-दु:ख भोगता है; जिसने जिसे पूर्व में दु:ख दिया है, वह उसे दूसरे भव में दु:ख देगा। जिसने जिसका पूर्व में उपकार किया होगा, वह उसका दूसरे भव में उपकार करेगा। पूर्व भव में जो कर्म बाँधे होंगे, वे ही सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ तथा जय-पराजय के कारणभूत होते हैं—ऐसा जानकर किसी भी प्रकार से द्वेष नहीं करना चाहिए। पुत्रों! तुमने मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं किया है, इसलिए तुम रंचमात्र भी चिन्ता मत करो।'

मुनिराज के वचनामृत का पान करते ही दोनों भाई वैराग्य से भूषित हो गये और उन्होंने कहा—'हे दया सागर! हमारी एक प्रार्थना है, वह यह कि आप धर्म के दृढ़ स्तम्भ हैं और आपका शरीर धर्मसाधन तथा आत्मकल्याण का साधनभूत है, तथापि हमने दुर्बुद्धि से आपके ऐसे पूज्य शरीर को नष्ट करने का प्रयत्न किया है, जिसका वज्रपाप ऐसा बँधा होगा, इसमें सन्देह नहीं है; इसलिए हमें ऐसा कोई व्रत बतलायें, कि जिसके पुण्योदय से यह हमारा कर्मबन्धन शिथिल हो जाये।'

सात्विकी मुनिराज ने धर्म का स्वरूप समझाते हुए कहा—'हे पुत्रो! रत्नत्रयरूप धर्म में प्रधानभूत सम्यग्दर्शन मुख्य है। तत्पश्चात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये पाँच अणुव्रत, चार शिक्षाव्रत और तीन गुणव्रत – ऐसे श्रावकों को पालन योग्य धर्म बारह प्रकार का है। इसके अतिरिक्त रात्रिभोजन त्याग और दिवस मैथुन त्याग करना चाहिए। प्रतिदिन देव-पूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, और दान करना चाहिए। मद्य, माँस और मधु का त्याग करना चाहिए। अचार (अथाणा) तथा कन्दमूल नहीं खाना चाहिए। बुद्धिमानों को सदाकाल परोपकार करना चाहिए और कभी भी परनिन्दा नहीं करना चाहिए। उत्तम क्षमादि दस धर्मों का पालन करना चाहिए।'

मुनिराज के श्रीमुख से धर्म का स्वरूप सुनकर अग्निभूति और वायुभूति दोनों भाईयों ने अपने माता-पिता सहित भक्तिपूर्वक गृहस्थ धर्म धारण किया। गृहीतमिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व को प्राप्त किया। अब वे दोनों भाई अपने माता-पिता सहित अति प्रसन्न हुए। सत्य ही है कि धर्मरूपी रत्न को प्राप्त करके किसका चित्त सन्तुष्ट नहीं होता! जो अमृतपान करता है, उसे सन्तोष होता ही है।

वे द्विजपुत्र-जिनकी कितने ही लोग प्रशंसा करते थे और कितने ही निन्दा करते थे, वे श्री सात्विकी मुनिराज को नमस्कार करके अपने घर चले गये। वे अब अपने चित्त को धर्म में ही लीन रखने लगे। जिन चैत्यालयों में जिनधर्म के महान उत्सव कराना और गुरु-वन्दना में ये दोनों भाई नगरजनों में प्रमुख गिने जाने लगे। इस प्रकार इन दोनों भाईयों ने तो अपना चित्त धर्मध्यान में लगा दिया, परन्तु मिथ्यात्व के योग से कुछ ही दिनों में उनके माता-पिता जैनधर्म से विमुख हो गये।

एक दिन उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को बुलाया और कहा—'बेटा! तुम्हें वेदमार्ग से विपरीत जिनधर्म के व्रतादिक पालन करना उचित नहीं है। उस समय ऐसा अवसर आ गया था कि जिनधर्म अंगीकार करना पड़ा था, परन्तु अब अपना कार्य तो सिद्ध हो गया है, इसलिए वेद शास्त्र से विरुद्ध धर्म पालन करने की आवश्यकता नहीं है, जिससे कि प्राणियों की नीच गति होती है।'

अग्निभूति और वायुभूति अपने माता-पिता की बात सुनकर चुप रहे, उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। दोनों भाई समझ गये कि माता-पिता की रुचि अभी कुधर्म में लग रही है, इसलिए उन्होंने माता-पिता की बात पर ध्यान नहीं दिया और जैनधर्म का दृढ़रूप से पालन करते रहे। अन्त में समाधिमरण करके स्वर्ग में जन्म धारण किया।

❖ ❖ ❖

भरतक्षेत्र के कौशल देश में अयोध्या नामक एक नगरी है। जिसका राजा अरिंजय था। उस राजा के प्रियम्वदा नामक गुणवती रानी इतनी प्रिय थी, जैसी इन्द्र को शचि और चन्द्र को रोहिणी!

उसी नगर में एक सम्यग्दृष्टि श्रावक समुद्रदत्त नामक सेठ रहता था। उसकी धारिणी नामक गुणवती सेठानी थी। कितने ही समय पश्चात् उन्हें पूर्व के अग्निभूति-वायुभूति जो स्वर्ग में इन्द्र-उपेन्द्र हुए थे, उन्होंने इस सेठानी के गर्भ से जन्म धारण किया। पुत्रों के जन्म की खुशहाली में सेठ ने उत्सव कराया और गरीबों को दान दिया। छह दिन तक उत्सव चला, सातवें दिन सगे-सम्बन्धियों को बुलाकर विधिपूर्वक एक पुत्र का नाम मणिभद्र और दूसरे का नाम पूर्णभद्र रखा गया। जब वे दोनों पाँच वर्ष के हुए, तब सेठ ने उन्हें पाठशाला में विद्याभ्यास के लिये प्रवेश दिलाया। जब वे अनेक शास्त्र, पुराण, ग्रन्थ सीखकर विद्या कला में प्रवीण हो गये और सोलह वर्ष के हुए, तब पिता ने उन्हें युवा जानकर योग्य कन्याओं के साथ विवाह कर दिया। धर्म, अर्थ और काम - इन तीन पुरुषार्थों का सेवन करते हुए कितना ही समय व्यतीत हो गया, इसका उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं रहा।

कुछ दिन पश्चात् निकट के प्रमद नामक उद्यान में महेन्द्रसूरि नामक मुनिराज का पदार्पण हुआ। उनके साथ मुनिसंघ भी था। मुनिसंघ के पधारने से उद्यान की परिवर्तित

हुई शोभा को देखकर वहाँ का रक्षक माली समस्त ऋतुओं के फल लेकर राजा अरिंजय के निकट गया और राजा को मुनिराज के वन में पधारने सम्बन्धी समाचार प्रदान किये। राजा ने राज्य सिंहासन से उठकर सात कदम आगे चलकर मुनिराज को परोक्ष प्रणाम किया और माली को भेंट प्रदान करके नगर में मुनिराज के पधारने की घोषणा करवा दी। तत्पश्चात् नगरवासियों सहित राजा प्रमद उद्यान में पहुँचा और सब मुनिराज को नमस्कार करके वहीं बैठ गये।

सभी लोग यथायोग्य स्थान पर बैठ जाने के पश्चात् राजा अरिंजय ने प्रश्न किया —'हे स्वामी! आज तक यह जीव अनेक तीर्थंकरों के समवसरण में गया, भगवान की वाणी सुनी और ऐसा होने पर भी किस कारण से संसार से पार नहीं हुआ?'

मुनिराज ने कहा—'हे भव्योतम! तुमने बहुत उत्तम प्रश्न किया है। इस जीव ने अनेक बार तीर्थंकर का उपदेश सुना परन्तु अनादि-अभ्यास के कारण उनकी वाणी में से मात्र कर्तृत्व का ही उपदेश ग्रहण किया है। यह व्रत पालूँ, ऐसा तप-आचरण करूँ— इत्यादि व्रतरूप शुभभाव को ही धर्म मानकर उसमें लगा रहा परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव को पहिचानने का किंचित् भी प्रयत्न नहीं किया और इसीलिए आज तक संसार में भटक रहा है। अनादि से संसार में भटकते-भटकते मोह के वश होकर, जिनके साथ आत्मा को किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, उन परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके राग-द्वेष करते हुए नये-नये कर्म बाँधता है और संसार बढ़ाता जाता है।'

मुनिराज के श्रीमुख से प्रवाहित दिव्य देशना को सुनकर राजा अरिंजय ने विनयपूर्वक फिर से पूछा—'हे जगत उद्धारक! उस ज्ञानस्वभाव का वर्णन करो कि जिसे पहिचाने बिना मैं आज तक संसार के दु:ख भोग रहा हूँ।'

मुनिराज ने कहा—**'हे निकट भव्य! सुन! आत्मा ज्ञान का भण्डार है। ज्ञान जानने का कार्य करता है परन्तु अनादि से अज्ञानी जीव, पर को जानने में अपना उपयोग**

लगाता है और अपने को जानने का कार्य नहीं करता। अज्ञानी ऐसा मानता है कि परद्रव्य मेरा ज्ञेय और मैं उसका ज्ञाता, परन्तु ज्ञान का स्वभाव पर को जानने का है ही नहीं, ज्ञान तो मात्र स्व को ही जानता है।

जिस प्रकार आँख जिस किसी पदार्थ को देखती है, वह वास्तव में परपदार्थ को नहीं देखती परन्तु स्वयं में जो पर के आकार की रचना-आँख की अपनी शक्ति से होती है, उस आकार को ही देखती है और वास्तव में तो आँख उस अपनी शक्ति को ही-आँख को ही देखती है।

जिस प्रकार दर्पण में अग्नि दिखती है तो उस दर्पण में अग्नि आ नहीं जाती परन्तु दर्पण में दिखनेवाली अग्नि उस दर्पण की अपनी स्वच्छता ही है, दर्पण का अपना स्वच्छ स्वभाव ही उसमें प्रसिद्ध होता है।

जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश है, वह घट-पट आदि पदार्थों को प्रसिद्ध नहीं करता परन्तु वह प्रकाश है, वह अपने आधारभूत सूर्य को ही प्रसिद्ध करता है, क्योंकि जो जिसमें से उत्पन्न होता है, जो जिसका होता है, वह उसे ही प्रसिद्ध करता है, पर को नहीं।

इसी प्रकार ज्ञान है, वह जानने का कार्य करता है। ज्ञान स्व को ही जानने का कार्य करता है। ज्ञान की एक समय की वर्तमान पर्याय में जैसे आकार होते हैं, उन्हें ज्ञान मात्र जानता ही है और वह आकार ज्ञान का अपना ही है, परद्रव्य का नहीं। वास्तव में तो ज्ञान, उस ज्ञानाकार को ही जानता हुआ, अपने ज्ञायकस्वभाव की ही प्रसिद्धि करता है, क्योंकि जो जिसमें से उत्पन्न होता है - जो जिसका होता है, वह उसे ही प्रसिद्ध करता है - अपने स्वभाव को ही प्रसिद्ध करता है, अन्य को नहीं।

अरे! ज्ञानस्वभाव के अधिक निकट जाकर ज्ञानपर्याय के षट्कारकों से देखें तो एक समय की ज्ञान की पर्याय उस द्रव्य को भी नहीं जानती परन्तु अपने में, अपने से, अपने को ही, जैसा द्रव्य है वैसा आकार होता है, उसे ही अर्थात् एक समय की ज्ञान की पर्याय स्वज्ञेयाकाररूप उस पर्याय को ही जानती हुई स्वज्ञेय की ही प्रसिद्धि करती होने से जब जीव ऐसा मानता है - श्रद्धा करता है कि मैं वह एक समय की पर्याय नहीं, परन्तु मैं तो अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय परमपारिणामिकभाव मात्र

हूँ, तब वही ज्ञान, ज्ञान में समाहित हो जाता है और निर्विकल्प अनुभूति होकर मोक्षमार्ग की शुरुआत हो जाती है। निर्विकल्प अनुभूति होते ही आत्मा अकर्ता - ज्ञाता हो जाता है। आत्मा, परद्रव्य से लेकर अपने ज्ञान की एक समय की पर्याय का भी अकर्ता-ज्ञाता हो जाने से, उसे अब मुक्त होना नहीं परन्तु वह मुक्तस्वरूप ही है!'

मुनिराज के श्रीमुख से अपने ज्ञानस्वभाव की ऐसी महिमा सुनते ही राजा को ज्ञान हुआ, अपनी महिमा आयी और संसार-शरीर-भोग से मन उदास हो गया और शीघ्र ही मुनिराज के निकट जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। मुनिराज का उपदेश सुनकर तथा राजा की जिनदीक्षा का प्रसंग देखकर समुद्र सेठ को भी संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने भी वहीं जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। सेठ के दोनों पुत्रों ने भी मुनिराज के समक्ष यथाशक्ति गृहस्थधर्म-श्रावकधर्म अंगीकार किया।

❖ ❖ ❖

कुछ समय पश्चात् एक बार पुनः मुनिराज वन में पधारे। उनके दर्शन करने के लिये दोनों भाई वन में जा रहे थे, वहाँ मार्ग में एक कुरूप चाण्डाल और उसके साथ एक कुतिया उन्होंने देखी। उन्हें देखते ही उन दोनों भाईयों को उनके प्रति प्रेम जागृत हुआ। इन दोनों भाईयों को देखकर उन चाण्डाल और कुतिया को भी मन में साता उत्पन्न हुई और इनके लिये राग बँधा। ये दोनों भाई तो मुनिराज की वन्दना के लिये आगे चले गये और उनके पीछे-पीछे चाण्डाल और कुतिया भी चलने लगे।

मुनिराज के निकट पहुँचकर दोनों भाईयों ने उन्हें विधिपूर्वक नमस्कार किया और चरणों के निकट स्थित हो गये। चाण्डाल और कुतिया भी मुनिराज के दर्शन करके उनके बाजू में बैठ गये। दोनों भाईयों ने विनयपूर्वक मुनिराज से पूछा—'हे महाराज! इस चाण्डाल और कुतिया से हमें इतना मोह क्यों उत्पन्न होता है, वह कृपा कर बतलाने का अनुग्रह करें।'

मुनिराज ने कहा—'हे वत्स! पूर्व के तीसरे भव में यह चाण्डाल, ब्राह्मण था और यह कुतिया उसकी पत्नी थी तथा तुम दोनों उनके पुत्र थे। किसी कारणवश जैनधर्म मिलने पर भी ब्राह्मण और उसकी स्त्री ने उस जैनधर्म का त्याग किया और अपने धर्म को धारण

कर अनेक प्रकार के हवन किये और बहुत जीव हिंसा की। जिससे पहले नरक में दोनों पाँच पल्य की आयुरूप से रहे। वहाँ की अनन्त पीड़ा सहन करके ब्राह्मण का जीव चाण्डाल हुआ और उसकी पत्नी यह कुतिया हुई है। तुम दोनों ने पूर्व में भलीभाँति जिनधर्म का पालन किया था, इसलिए तुम दोनों स्वर्ग में गये और वहाँ से सेठ के घर में जन्म हुआ। इस प्रकार पूर्व के सम्बन्ध के कारण तुम चारों को एक दूसरे के प्रति मोह उत्पन्न हुआ है।'

मुनिराज के समक्ष अपने पूर्व भव सुनते ही उस चाण्डाल और कुतिया को जातिस्मरण हो गया और नरक के दु:ख स्मरण में आते ही वे भयभीत हो गये। दोनों ने मुनिराज के निकट व्रत ग्रहण किये और दोनों भाईयों ने अपने व्रत को अधिक दृढ़ करके मुनिराज को नमस्कार करके अपने घर की ओर प्रस्थान किया। चाण्डाल थोड़े ही दिन में समाधिमरण करके स्वर्ग में देव हुआ। कुतिया भी व्रत का दृढ़ता से पालन करके अन्त में समाधिपूर्वक देह का विसर्जन करके उस नगर के राजा की पुत्री हुई। जब वह कन्या विवाह योग्य हुई, तब उसका स्वयंवर रचा गया। उसी समय पूर्व भव का चाण्डाल स्वर्ग में से आया और उस कन्या का स्वयंवर मण्डप देखकर, पूर्व की अपनी पत्नी को संसार में प्रवेश करते हुए देखकर स्वयं अदृश्य रहकर ही उसे उसके पूर्व भव कुतिया, नरक स्मरण कराये। राजपुत्री को अपने पूर्व भव स्मरण में आते ही वह स्वयंवर मण्डप छोड़कर सीधे वन में गयी और श्रीयुत मुनिराज के निकट दीक्षा अंगीकार कर ली। बहुत समय तक घोर तप किया और स्त्री लिंग का छेद करके स्वर्ग में देव हुई। वे दोनों सेठ के पुत्र भी संन्यासपूर्वक देह का त्याग करके पहले स्वर्ग में देव हुए।

स्वर्ग में बहुत समय तक सुख भोगकर, वहाँ से चयकर कौशल देश के राजा पद्मनाभ की रानी के गर्भ में आये। जब दोनों का जन्म हुआ, तब राजा ने प्रथम पुत्र का नाम मधु और दूसरे का नाम कैटभ रखा। दोनों कुमार पढ़कर युवक हुए, तब राजा ने उन दोनों के योग्य कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया।

समस्त उत्तरदायित्वों से निवृत्त होकर एक दिन राजा पद्मनाभ विचार करने लगा कि प्रथम तो मनुष्य जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है, उसमें भी उत्तम कुल, राज-सुख, पराक्रम आदि अति दुर्लभ है, उसमें भी जैनधर्म का प्राप्त होना अति-अति कठिन है परन्तु पुण्योदय से

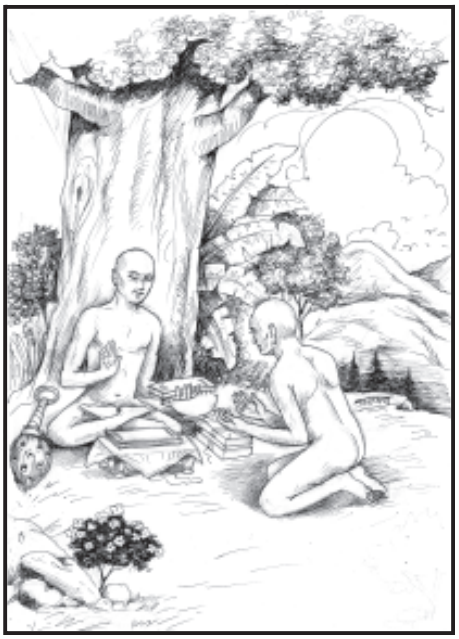

मुझे यह सब सामग्री प्राप्त हुई है। अब मुझे इस मनुष्य भव का सदुपयोग करने के लिये जिनदीक्षा धारण करना चाहिए। राजा के हृदय में इस प्रकार के विचारों के कारण वैराग्य ने जोर पकड़ा। राजा ने अपने मन्त्रियों और नगरवासियों की उपस्थिति में अपने बड़े पुत्र मधु का राज्याभिषेक किया और कैटभ को युवराज पद प्रदान किया तथा स्वयं हजारों रानियों और राज्य का त्याग करके, वन में जाकर मुनिराज के निकट अनेक राजाओं और राजपुत्रोंसहित जिनदीक्षा अंगीकार कर ली।

राजा मधु और युवराज कैटभ अपने कुलक्रम से चले आ रहे राज्य को प्रजा के सुख शान्ति को लक्ष्य में रखकर संचालित करते थे। एक दिन राजा मधु सभा में अपने सामन्तों सहित बैठे हुए थे, तब सभा के बाहर नगर में कोलाहल की आवाज सुनकर राजा ने द्वारपाल से पूछा कि यह कैसा कोलाहल है ? ऐसा कोलाहल मैंने कभी सुना नहीं है।

द्वारपाल ने विनयपूर्वक नमस्कार करके कहा—'राजन! एक दुष्ट राजा अपनी सेना और मजबूत किले के जोर से प्रतिदिन नगर में आकर लूट मचाता है और जब तक अपनी सेना उसे पकड़ने जाती है, वहाँ वह शीघ्र भागकर अपने नगर में छिप जाता है। इस प्रकार उससे डरकर प्रजाजन अपने प्राणों की रक्षा के लिये व्याकुल होते हुए ऐसा कोलाहल कर रहे हैं।'

द्वारपाल के मुख से कोलाहल का कारण सुनकर राजा अत्यन्त क्रोधित हुआ और मन्त्रियों से पूछा—'आज तक मुझे इस बात की जानकारी क्यों नहीं दी गयी ?' तब मन्त्री ने कहा—'राजन! तब आपकी उम्र छोटी थी और वह अपने किले के जोर से अनेक राजाओं से भी जीता नहीं जा सका, इसलिए यह बात आज तक आपको नहीं बतलायी गयी।'

मन्त्री के वचन सुनकर राजा बोला—'क्या सूर्य का उदय होने से ही रात्रि के अन्धकार का नाश नहीं होता ?! इसी प्रकार मेरी छोटी उम्र थी तो क्या हुआ ? तुमने मुझे यह समाचार न देकर मूर्खता की है। अब शीघ्र ही अपनी पूरी सेना तैयार करो और युद्ध के लिये तत्पर होओ; मैं अभी ही उसके किले को तोड़कर उसे यमलोक पहुँचा देता हूँ।'

मन्त्रियों ने राजा की आज्ञानुसार सेना तैयार की। राजा अपनी सेना के साथ दुश्मन पर चढ़ाई करने के लिये निकल पड़ा। मार्ग में वटपुर के राजा हेमरथ को ज्ञात हुआ कि राजा मधु यहाँ से निकले हैं, तो तुरन्त ही हेमरथ ने हृदय से राजा मधु को अपने यहाँ एक दिन ठहरने का आमन्त्रण प्रदान किया। राजा मधु ने उससे प्रसन्न होकर उसे स्वीकार किया। राजा हेमरथ, राजा मधु को अपने महल में ले गया और रत्न का चौक पुराकर स्वर्ण के सिंहासन पर उन्हें बैठाया।

तत्पश्चात् राजा हेमरथ अपनी प्रिय रानी चन्द्रप्रभा के निकट गया और कहा—'हे प्रिये! तुम स्वयं जाकर राजा मधु के सत्कार में उनकी मंगल आरती उतारो।'

विनयपूर्वक रानी चन्द्रप्रभा ने कहा—'हे नाथ! ऐसी नीति है कि जो अपनी मनोहर वस्तु होती है, वह अन्य राजाओं को नहीं दिखाना चाहिए क्योंकि उसे देखकर राजाओं का चित्त चलायमान हो जाता है; इसलिए आप अपनी दूसरी किसी रानी को भेजो, यह काम मुझसे मत कराओ।'

राजा हेमरथ ने कहा—'हे देवी! तू बहुत भोली है, उसके यहाँ तुम्हारे समान रूपवान सैकड़ों दासियाँ हैं; इसलिए हे शुभमुखे! तुम्हारे पर वह रंचमात्र भी पापदृष्टि नहीं करेगा। तू अपने मन के शल्य को दूर कर और मेरे साथ चलकर राजा मधु की आरती उतारकर उनका सम्मान कर।'

अपने स्वामी का अत्यन्त आग्रह देखकर रानी चन्द्रप्रभा ने एक स्वर्ण के थाल में उत्तमोत्तम मनोहर मोती रखे और दूध, अक्षत आदि मांगलिक द्रव्य भी उसमें रखे और राजा हेमरथ की आज्ञा से सोलह शृंगार करके रानी ने तन्दुल, मोती आदि से महाविनय और भक्ति से राजा मधु की आरती की।

राजा मधु अपने समक्ष खड़ी हुई सर्वांग सुन्दर, मनोहर रानी चन्द्रप्रभा को देखकर

कामबाण से घायल हो गया। वह मन में विचार करने लगा कि यह इन्द्राणी है या पार्वती है ? रोहिणी है या साक्षात् रति है ? यह कौन है ? इसका सर्वांग सुन्दर शरीर मुझे कामबाण से घायल कर रहा है। वह विचार करता है कि इस धरती पर वही कृतकृत्य है और उसके ही पूर्व भव के पुण्य का प्रबल उदय है जिसकी यह मनोहर सुन्दरी प्राण बल्लभा है ! राजा मधु जब इस प्रकार चिन्तातुर था, उसी समय चन्द्रप्रभा उसकी आरती करके अपने महल की ओर प्रस्थान कर गयी परन्तु साथ ही साथ राजा मधु का चित्त चुराकर ले गयी।

राजा मधु के चेहरे के हावभाव से उसका एक मन्त्री समझ गया कि राजा को कोई गुप्त बात सता रही है; इसीलिए वह एकान्त के समय में राजा के निकट गया और कहा—'हे राजन ! आप बहुत समय से चिन्तित दिखाई देते हो। यदि तुम्हें शत्रु की ओर से चिन्ता हो तो आप उस चिन्ता का परित्याग दो। उस शत्रु को तो मैं देखते-देखते ही मार डालूँगा।'

मन्त्री के वचन सुनकर राजा मधु ने कहा—'मन्त्रीवर ! मुझे शत्रु की जरा भी चिन्ता नहीं है। मेरी चिन्ता का कारण मैं तुम्हें बताता हूँ, उसे गुप्त रखना और उसका उपाय खोजना। बात यह है कि जब से मैंने इस चन्द्रप्रभा रानी को देखा है, तब से मैं कामबाण से घायल हुआ हूँ। जब तक मैं उससे मिलूँगा नहीं, तब तक मुझे शान्ति मिलनेवाली नहीं है।'

राजा की बात सुनकर मन्त्री ने कहा—'हे स्वामी ! यह आपने सर्वथा अनुचित बात की है। यह कार्य तो इसलोक और परलोक दोनों को बिगाड़नेवाला है और निन्दनीय है। यह सुनते ही जगत में आपका अपयश व्याप्त हो जायेगा। नीति का वाक्य है कि लोकनिन्दित कार्य को मन से भी विचार नहीं करना चाहिए।'

मन्त्री के वचन सुनकर राजा ने कहा—'हे मन्त्री ! बात तो तुम्हारी सत्य ही है, परन्तु चन्द्रप्रभा के बिना मेरा जीवन अशक्य हो गया है। यदि मुझे जीवित देखना चाहते हो तो किसी भी प्रकार से उसका उपाय करो कि चन्द्रप्रभा मुझे शीघ्र मिले।'

जब मन्त्री को लगा कि राजा का चित्त चन्द्रप्रभा में ही लग गया है, तब उसने महाराज को बहुत धैर्य से समझाया कि—'महाराज ! अभी अपने प्रेम को अपने मन में ही रहने दो। यदि दूसरे माण्डलिक राजाओं को ज्ञात होगा कि आप परस्त्री में आसक्त हुए हैं तो वे अभी ही अपने को छोड़कर वापिस घर चले जायेंगे और अपना युद्ध का कार्य अधूरा

रह जायेगा। इसलिए पहले माण्डलिक राजाओं की सहायता से युद्ध में शत्रु को पराजित कर लें, पश्चात् अवश्य आपकी इच्छा पूरी होगी।' इस प्रकार राजा को सन्तोष दिलाने के लिये मन्त्री ने उन्हें वचन दिया।

मन्त्री के मनोहर वचन सुनकर राजा मधु स्वस्थ चित्त होकर शत्रु को परास्त करने की उत्कण्ठा से सर्व सेना सहित रवाना होने के लिये तैयार हो गया। मन्त्री के आग्रह से राजा हेमरथ भी अपनी समस्त सेना सहित वटपुर से निकल पड़ा। रात्रि होने पर राजा मधु ने शत्रु के सम्पूर्ण नगर को चारों ओर से घेर लिया। जब राजा भीम को समाचार ज्ञात हुए कि मेरा नगर घेर लिया गया है, तब वह अत्यन्त क्रोधित होकर अपनी समस्त सेना सहित युद्ध करने के लिये उद्धत हाथी की भाँति नगर के किले से बाहर निकला और राजा मधु के साथ महा भयंकर युद्ध किया। युद्ध के अन्त में राजा मधु ने मित्र राजाओं की सहायता से भीम को पराजित कर जीवित पकड़ लिया और उसके राज्य में अपने सामन्तों को स्थापित कर भीम राजा को अन्यत्र स्थापित कर दिया।

अयोध्या की ओर वापस मुड़ते समय राजा मधु ने अपने मन्त्री को एकान्त में बुलाकर रानी चन्द्रप्रभा की बात स्मरण कराते हुए कहा कि—'अब हम अवश्य वटपुर जायेंगे और वहाँ जाकर चन्द्रप्रभा से मिलेंगे।' राजा की बात सुनकर मन्त्री चिन्ता में पड़ गया। उसने राजा को पुन: मिथ्या आश्वासन दिया। जिससे राजा निश्चिन्त हो गया। मन्त्री ने सेनापति को एकान्त में बुलाया और कहा कि—'रात्रि के अन्धकार में वटपुर को बहुत दूर से ही छोड़कर सीधे अयोध्या का रास्ता लेना और सबेरे जब महाराज पूछे तो कहना कि अन्धकार में मार्ग भूल गया।'

सेनापति ने मन्त्री के कहे अनुसार ही सब कुछ किया। प्रात:काल होते ही महाराज अयोध्या पहुँच गये। अयोध्या नगरी का शृंगार किया गया। राजा को जब ज्ञात हुआ कि मन्त्री ने मेरे साथ कपट किया है, तब उन्होंने मन्त्री को बुलाया और अत्यन्त क्रोधित होकर कहा कि मेरे साथ ऐसी मायाचारी क्यों की ? तब मन्त्री ने सेनापति को बुलाकर पूछा कि वटपुर का रास्ता क्यों छोड़ दिया ? तब हाथ जोड़कर डरते-डरते सेनापति बोला—'हे राजन ! क्षमा करें ! रात्रि के अन्धकार में मार्ग भूल गया और भूल से दूसरे मार्ग में आ गया।

अनजाने में भूल हुई होने से क्षमा प्रदान करें!' सेनापति के वचन सुनकर राजा मधु चुप हो गया और नगर में प्रवेश करके अपने महल में पहुँच गया।

❖ ❖ ❖

एक ओर राजा मधु को चन्द्रप्रभा के बिना चैन नहीं पड़ता है और दूसरे मन्त्रियों ने भी राजा से मिलना छोड़ दिया था, क्योंकि वे जानते थे कि राजा अपने सामने चन्द्रप्रभा के ही गीत गायेगा। राजा का शरीर चन्द्रप्रभा के वियोग से दुर्बल हो गया और कामज्वर से पीड़ित होने लगा। राजा मधु ने खाना-पीना त्याग दिया। राजा की ऐसी स्थिति के समाचार सुनकर प्रमुख मन्त्री उनके निकट आया और नमस्कार करके कहा—'हे प्रभो! आप यह क्या करते हो? मुझे ऐसा लगा था कि आप घर वापिस आकर रानी चन्द्रप्रभा को भूल जायेंगे, इसलिए मैं कुछ प्रयत्न नहीं कर रहा था परन्तु आपकी दशा देखकर मैं निश्चय से कहता हूँ कि थोड़े ही समय में आपकी प्राणप्रिया आपके निकट होगी।' मन्त्री के वचन सुनकर राजा अपना दु:ख दबाकर स्वस्थ हुआ।

मन्त्री ने बहुत विचार करने के बाद अपने दूतों को अलग-अलग अनेक देशों में भेजा और सन्देश भिजवाया कि जो राजा मधु के शासन का पालन करनेवाले हैं, वे समस्त इस बसन्त ऋतु में यहाँ पधारें और राजा मधु के साथ वन में क्रीड़ा करें। इसी प्रकार राजा हेमरथ को भी पत्र लिखकर दूत को भेजा गया तथा साथ में चन्द्रप्रभा को लाने के लिये कहा। पत्र पढ़कर हेमरथ अत्यन्त प्रसन्न हुआ, उसने अपनी प्राणप्रिया रानी चन्द्रप्रभा को वह पत्र पढ़ने के लिये दिया। रानी चन्द्रप्रभा ने पत्र पढ़कर कहा—'हे स्वामी! राजाओं का सेवकों पर अत्यन्त आदर दिखाना ठीक नहीं है। यह कोई जाल रचा हुआ लगता है। राजाओं का कोई भी कार्य बिना प्रयोजन नहीं होता। इसलिए हे नाथ! आप चाहें तो जायें, परन्तु मुझे साथ लेकर न जायें, क्योंकि आरती उतारते समय ही मैं उसकी दृष्टि जान गयी थी। यदि मैं वहाँ गयी तो अवश्य मेरा हरण किये बिना नहीं छोड़ेगा।'

राजा हेमरथ ने कहा—'हे मूढ़मते! तू क्या ऐसे निन्दित वचन कहती है! तेरे समान सुन्दर उसके महल में अनेक दासियाँ हैं।'

तब दूरदर्शी रानी ने कहा—'हे स्वामी! मैंने जो उचित समझा, वह कह दिया। जो

भवितव्य में लिखा होगा, वह तुम्हें बाद में ज्ञात हो जायेगा।'

रानी का स्पष्ट उत्तर सुनकर भी राजा ने कहा—'बहुत अच्छा ही होगा, तुम चिन्ता नहीं करो।' इस प्रकार बहुत समझाकर राजा हेमरथ, रानी चन्द्रप्रभा तथा दूसरे अनेक दास-दासियोंसहित अयोध्या पहुँच गया। अयोध्या पहुँचने पर राजा मधु ने उसका बहुत सम्मान किया और उसे एक सुन्दर महल रहने के लिये प्रदान किया। दूसरे सभी राजा भी अपनी रानियों के साथ आ पहुँचे। उन्हें भी यथायोग्य सम्मानपूर्वक आदरसहित ठहराया गया। जब वन की सजावट हो गयी, तब राजा मधु अपनी रानियों और सामन्त राजाओं तथा उनकी स्त्रियोंसहित वनक्रीड़ा के लिये चल पड़े। राजा मधु ने एक माह तक वनक्रीड़ा की।

तत्पश्चात् राजा मधु वापिस अपने महल में आया और सभी राजाओं को अनेक भेंट उपहार प्रदान कर विदा करने लगा। उन्होंने हेमरथ को बुलाकर कहा—'हे मित्र! तुम्हारे और तुम्हारी रानी के लिये उत्तम आभूषण अभी तैयार नहीं हैं। स्वर्णकार तुम्हारे लिये आभूषण तैयार कर रहे हैं, वे शीघ्र तैयार हो जायेंगे। तुम अभी अपनी रानी चन्द्रप्रभा को यहीं छोड़कर निश्चिन्तरूप से वटपुर जाओ क्योंकि राजा के बिना राज्य में कोई भी चढ़ाई कर सकता है। बाद में तुम्हारे योग्य गहने बन जाने पर मैं तुम्हारी रानी के साथ शीघ्र भेज दूँगा।'

राजा मधु के कपट पूर्ण वचनों को नहीं समझकर भोले राजा हेमरथ ने उस कामी के वचन सत्य समझकर यही कहा 'जैसी आपकी इच्छा।' और वहाँ से प्रस्थान कर गया।

इस प्रकार राजा मधु से विदा लेकर राजा हेमरथ अपनी रानी चन्द्रप्रभा के समीप आया और उससे सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। उसने कहा कि मैं अभी जा रहा हूँ और तुम बाद में आभूषण लेकर आ जाना। तुम्हारे पास विश्वासपात्र वृद्ध मन्त्री और दासियों को छोड़कर जा रहा हूँ।

राजा हेमरथ की बात सुनकर रानी चन्द्रप्रभा अत्यन्त दु:खित हुई और उसने कहा—'हे नाथ! अब मैं समझ गयी कि एक तो आप अपने अभाग्य के वश होकर मुझे यहाँ लेकर आये और अब यहाँ अकेली छोड़कर जा रहे हो। आप निश्चित समझे कि राजा

मधु मुझे बलजोरी से अपनी रानी बनायेगा और उसके अन्त:पुर में प्रविष्ट कर लेगा, तब आप कुछ भी नहीं कर सकोगे। फिर आपको पश्चात्ताप का भी समय नहीं मिलेगा।' इस प्रकार दु:खी हृदय से रानी चन्द्रप्रभा ने उसे बहुत समझाया परन्तु दुर्भाग्यवश राजा हेमरथ ने कुछ नहीं माना और रानी चन्द्रप्रभा को छोड़कर चला गया।

राजा हेमरथ के चले जाने के बाद राजा मधु, रानी चन्द्रप्रभा से मिलने के लिये अत्यन्त आतुर हो गया। सूर्यास्त हो गया था और अन्धकार होने लगा। राजा मधु ने मन्त्री को रानी चन्द्रप्रभा के पास एक दूती भेजकर उसे अपने पास ले आने के लिये कहा। मन्त्री ने शीघ्र ही एक दूती को रानी चन्द्रप्रभा के पास भेजा। दूती ने चन्द्रप्रभा को नमस्कार करके कहा—'राजा मधु अपने महल में विराजमान थे और अचानक राजा हेमरथ के दूत ने आकर अपने राजा का सन्देश सुनाया कि हे राजन! यदि आपका मुझ पर सच्चा स्नेह हो तो मेरी रानी को जैसे बने वैसे शीघ्र मेरे पीछे भेज दें, विलम्ब न करें। यह सन्देश सुनकर राजा मधु ने आपको आज ही विदा करने का निर्णय किया है। इसलिए आप अभी ही वहाँ पधारें और राजा आपको अपनी रानियों के गहने देंगे, उन्हें स्वीकार करें।'

दूती के वचन सुनकर चन्द्रप्रभा चिन्ता में पड़ गयी। वह विचार करने लगी कि यदि मैं वहाँ जाऊँगी तो राजा बलजोरी से मुझे अपनी रानी बना लेगा और यदि नहीं जाऊँ तो उसका अपमान होने से क्रोध करेगा। वह इस प्रकार की उलझन में आ पड़ी। अन्त में डरते-डरते अपने विश्वस्त मन्त्रियों को साथ लेकर रानी चन्द्रप्रभा दूती के साथ चल पड़ी। राजा मधु महल के सातवें माले पर बैठा था। दूती उसकी सखियों और मन्त्री को नीचे खड़े रखकर चन्द्रप्रभा को लेकर सातवें माले पर पहुँची और वहाँ उसे अकेली छोड़कर स्वयं अपने स्थान को चली गयी। उस खण्ड में राजा मधु को अकेला देखकर रानी चन्द्रप्रभा उसका भाव समझ गयी। वह खड़े-खड़े कम्पित होने लगी। राजा मधु ने उसे बलजोरी से अपने निकट बैठाकर कहा—'हे सुन्दरी! शान्त हो! प्रसन्न हो! तेरा पति तो मेरा अनुचर है, यह तो तेरा सौभाग्य है कि तू निम्न दशा को छोड़कर मेरी प्राणप्रिया बनी है।' इस प्रकार बहुत समझाने पर भी जब चन्द्रप्रभा नहीं समझी, तब राजा मधु ने बलजोरीपूर्वक चन्द्रप्रभा के साथ रमण किया और अपनी कामचेष्टाओं से चन्द्रप्रभा को भी कामासक्त कर दिया।

जिससे चन्द्रप्रभा भी अपने पति हेमरथ को भूलकर राजा मधु के साथ सुखपूर्वक रमण करने लगी, रतिक्रिया में मग्न दोनों ने व्यतीत होते हुए समय को नहीं जाना।

❖ ❖ ❖

इस ओर हेमरथ के जो विश्वस्त मन्त्री रानी चन्द्रप्रभा के साथ रुके हुए थे, उन्हें जब विदित हुआ कि राजा मधु ने चन्द्रप्रभा को अपनी रानी बना लिया है, तब वे दु:खी होकर अपने नगर में वापिस चले गये और वहाँ पहुँचकर राजा हेमरथ को सम्पूर्ण वास्तविकता कह सुनायी। अपनी रानी का छल से हरण सुनकर राजा हेमरथ बेहोश हो गया। होश में आते ही वह राजा मधु पर अत्यन्त क्रोधित हुआ और उसके साथ युद्ध के लिये मन्त्रियों को आज्ञा दी। मन्त्रियों ने राजा हेमरथ को समझाते हुए कहा—'हे राजन! अपनी इतनी शक्ति नहीं है कि राजा मधु को युद्ध में पराजित कर सकें; इसलिए अब रानी को भूल जाइये।' मन्त्रियों के ऐसे वचन सुनकर राजा हेमरथ अत्यन्त दु:खी हुआ। वह चन्द्रप्रभा के बिना पागल हो गया। उसने राज्य का काम छोड़ दिया और नगर की गलियों में भटकने लगा तथा किसी भी स्त्री को देखकर चन्द्रप्रभा.. चन्द्रप्रभा.. कहकर पुकारने लगा।

इस प्रकार भटकते-भटकते एक दिन दैवयोग से वह अयोध्या नगरी आ पहुँचा और वहाँ भी अपनी प्रिय चन्द्रप्रभा को पुकारते हुए घूमता रहा। एक दिन रानी चन्द्रप्रभा महल के झरोखे में सुख-मग्न बैठी हुई थी, उसने नीचे अपने पति को इस प्रकार पागल होकर घूमते देखकर वह अत्यन्त दु:खी हुई और रुदन करने लगी। उस समय राजा मधु वहाँ पहुँच गया। रानी चन्द्रप्रभा ने अपने मन के दु:ख को छुपाकर राजा मधु के साथ प्रेम से बातें की और महल की छत पर जाकर बैठ गयी।

उसी समय नगर का चण्डकर्मा नामक कोतवाल एक सुन्दर युवक पुरुष को दृढ़ रीति से बाँधकर वहाँ लाया। उसने राजा से प्रणाम करके कहा—'हे राजन! इसने परस्त्री का सेवन किया है। इसके योग्य दण्ड प्रदान करें।' तब राजा ने क्रोधित होकर—'इसे सूली की सजा दो, जिससे मेरे राज्य में कोई ऐसा अपराध करने की हिम्मत न करे।'

राजा के ऐसे वचन सुनकर मन में अत्यन्त क्रोधित होकर रानी चन्द्रप्रभा विनय से

बोली—'हे नाथ! यह पुरुष युवक और रूपवान है, इसे आप मृत्युदण्ड क्यों दे रहे हैं? परस्त्री गमन में ऐसा कौन सा बड़ा पाप है? मुझे तो यह पाप का कार्य नहीं लगता। आप वृथा ही बेचारे को मृत्युदण्ड दे रहे हैं।' तब राजा मधु ने शास्त्र प्रमाणसहित उत्तर दिया कि यह तो महान वज्रपाप है, इससे बड़ा कोई पाप नहीं है। राजा ने कहा कि—

'शास्त्र में कहा है कि परस्त्री सेवन करने से और देवद्रव्य प्रयोग करने से मनुष्य सातवें नरक में जाता है, इसमें सन्देह नहीं है। यदि समस्त पाप को एक ओर रखा जाये और परस्त्री संगमरूप पाप दूसरी ओर रखा जाये तो परस्त्री सेवनरूप पाप सबसे अधिक होगा, ऐसा शास्त्र में लिखा है। निश्चय समझ कि इससे बड़ा कोई पाप नहीं है। परस्त्री लम्पट जीव इस लोक में कलंकित होते हैं, राजा द्वारा दण्ड पाते हैं और दूसरे भव में नरकादि के दुःख प्राप्त करते हैं; इसलिए परस्त्री सर्वथा त्यागने योग्य है। परायी स्त्री भोगी हुई वस्तु अर्थात् उच्छिष्ट समान है।

स्त्री, मोक्षद्वार की मजबूत व्यवधान है, संसाररूप वृक्ष को पोषण देनेवाली जल की झारी है, मनुष्यरूपी हिरणों को पकड़ने के लिये जाल है, जिसके संगममात्र से आज तक में कितने ही उत्तम आत्मायें अपने अमूल्य ज्ञान-श्रद्धानरूप परम जीवितव्य को गँवाकर बैठे हैं, जिसका नाममात्र भी बड़े-बड़े मुनिवरों का मुनित्व नष्ट कर डालता है तो उसके शरीर का प्रत्यक्ष राग क्या-क्या अनर्थ नहीं करेगा! जब स्वस्त्री भी इतने अनर्थों का द्वार है तो परस्त्री कौन-कौन से अनर्थ नहीं करेगी!!

परस्त्री में अनुराग बुद्धि रखनेवाले व्यक्ति को इस जन्म में जो चिन्ता, आकुलता, भय, द्वेषभाव, बुद्धि का विनाश, अत्यन्त सन्ताप, भ्रान्ति, भूख, प्यास, आघात, रोग और मरणरूप दुःख प्राप्त होते हैं, वे तो दूर रहो परन्तु परस्त्री सेवनजनित पाप के प्रभाव से अन्य जन्म में नरकगति प्राप्त होने से अग्नि में तप्तायमान लोहमय स्त्री के आलिंगन से जो चिरकाल तक बहुत दुःख प्राप्त होनेवाला है, उस ओर भी जीव का ध्यान नहीं जाता। यह कितने आश्चर्य की बात है!'

राजा मधु के ऐसे वचन सुनकर रानी चन्द्रप्रभा ने कहा कि—'हे देव! यदि परस्त्री सेवन करना सच में ही पाप है और आप पुण्य-पाप के स्वरूप को भले प्रकार जाननेवाले हो तो हे नाथ! मुझे-परायी स्त्री - को तुमने छल करके क्यों हरण किया? तुमने मेरी कुँवारी

अवस्था में माता-पिता के यहाँ जाकर मेरे साथ सगाई नहीं की और न विवाह किया, तो फिर तुमने मेरा हरण कैसे किया ? मेरा शीलभंग क्यों किया ?'

चन्द्रप्रभा के ऐसे वचन सुनकर राजा मधु अत्यन्त लज्जित हुआ और उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त करके विचार करने लगा कि—**हाय हाय! मैंने ऐसा जगत निन्द्य कर्म कैसे किया! धर्मात्माओं को परस्त्री हरण और परस्त्री सेवन करना सर्वथा अनुचित है। मैं तो धर्म-अधर्म का स्वरूप और उनके फल को भले प्रकार जानता था, तथापि मोह के वशीभूत होकर मैं अन्ध कैसे हो गया ? जो असत्य है, वह सत्य कभी भी नहीं हो सकता और जो अधर्म है-पाप है, वह तीन काल में धर्म-पुण्य नहीं हो सकता। ऐसा जानकर ज्ञानियों को अधार्मिक सकल निन्दनीय कर्म कभी भी नहीं करना चाहिए। यह शरीर माता के रुधिर और पिता के वीर्य से उत्पन्न हुआ है, मल, मूत्रादि अशुचि पदार्थयुक्त गर्भस्थान में रहा है, माता के गर्भ की गर्मी से बढ़ा है, अतिशय निन्द्य द्वार से निकला है, अपवित्र सप्त धातुमय है तथा चर्म से आच्छादित अस्थि और जाल का पिण्ड है! ऐसे शरीर को देखकर मोह किस प्रकार हो ? हाय! यह जीव संसार की अवस्था को इन्द्रजाल समान अस्थिर जानता होने पर भी मूढ़ होकर क्यों उसमें ही मोहित होता है। यह बड़ी विचित्रता है! क्या मेरे घर में सुन्दर रानियाँ नहीं थीं कि जो मैंने-जड़मति ने यह परस्त्री का हरण और सेवन किया ? जैसा मैंने इस भव में पापकर्म उपार्जित किया है, वैसा ही फल मुझे भोगना पड़ेगा क्योंकि जैसा फल बोते हैं, वैसा ही फल मिलता है! यह मोह ही नरक में ले जाने का और संसार भ्रमण का कारण है। धन-धान्य, स्त्री, यौवन, पंचेन्द्रिय के विषय, सेना, बन्धुवर्ग, पुत्र, मित्रादिक तथा इस जीवन में से कुछ भी स्थिर नहीं है।**

अन्ध मनुष्य तो नेत्र से देखता नहीं परन्तु विषयान्ध मनुष्य किसी प्रकार से नहीं देख सकता; इसलिए वह सर्व अन्धों में महाअन्ध है।

अहो! विवेकशून्य मूढ़ आत्मा सर्व इन्द्रियविषयों से तप्तायमान होता हुआ इतना अधिक तीव्र तृष्णातुर हुआ है कि मनोवांछित वस्तु नहीं मिलने पर उसे ही प्राप्त करने की कामना में अनेक पापरूप उपाय कर-करके अत्यन्त व्याकुल हो रहा है।

यह कुटुम्बादि बन्धुजन अनन्त संसार बन्ध के कारणरूप जो कर्मबन्ध है, उसे

उत्पन्न करने में सहायक है। परमार्थ से तो ये बैरी हैं, ऐसा जानकर उन्हें हितैषी मानकर उनके प्रति राग करना या उनके राग में अन्ध होना उचित नहीं है।

हे भव्यात्मन! जैसे समुद्र में मध्यभाग में पड़ा हुआ रत्न फिर से प्राप्त करना दुर्लभ है, वैसे तू निश्चय से मान कि यह मनुष्यपना प्राप्त करना अति-अति दुर्लभ है।

हाय! अत्यन्त दुःख की बात है कि जो अपने को पण्डित मानते हैं, उनको भी इस प्रचण्ड काम ने इष्ट स्त्रियों के निमित्त से ज्ञानीपने से खण्ड-खण्ड करके महा दुःखी-दुःखी कर डाला है! तथापि वे ही पण्डित उस काम को धीरज से सहन कर रहे हैं, परन्तु उसे तपरूप प्रचण्ड अग्नि से भस्म करने में किंचित् भी उत्साहवन्त नहीं होते, यह परम आश्चर्य है!

भोग का पूर्ण निमित्त प्राप्त होने पर भी उसे भोगने के अतिरिक्त या भोगने की वृत्ति के अतिरिक्त जो उसे छोड़ते हैं, उन्हें धन्य है! और वही बड़ा आश्चर्य है।

हे भव्य! यदि तू मोक्षलक्ष्मीरूपी नायिका को चाहता हो तो अन्य लौकिक स्त्रियों की बातें तक भी छोड़कर, मोक्षलक्ष्मी में ही तेरा अनुराग बढ़ाकर रत्नत्रय आदि सर्वोत्तम अलंकारों से उसे साध्य कर! और वही मात्र उस सर्वोत्तम नायिका को वरने का सच्चा उपाय है।

स्त्रीरूप अगाध और अमर्यादित गहरे और गहरे जाल में कितने ही जीवों को विषयरूप मगरमच्छ पकड़-पकड़कर निगल गये, जिनका फिर पता लगना भी कठिन हो गया। इसलिए स्त्रियों का विश्वास करना योग्य नहीं है।

जैसे कीड़ा या सूकर विष्ठा में रति मान रहे हैं, वैसे तू काम से अन्ध होकर स्त्री के दुर्गन्धित सड़े हुए कलेवर में रति मान रहा है। क्योंकि कामान्ध पुरुष को भले बुरे का विवेक ही नहीं होता! हे भव्य! महा अन्धकारसम यह कामान्धपना छोड़कर अब तो कुछ विवेकी हो!

इस प्रकार विषयाभिलाषा से विरक्त होकर और संसार की असारता का विचार करते हुए राजा मधु ने परस्त्री सेवन करनेवाले पुरुष को छोड़ने की आज्ञा प्रदान की और एकान्त में जाकर अधिक विचार करने लगे। उसी समय एक मुनिराज आहार लेने के लिये महल की बगल में पधारे। उन्हें आते देखकर राजा मधु, चन्द्रप्रभासहित अत्यन्त हर्षित

होकर उनके सन्मुख गये। मुनिराज की अतिशय भक्तिपूर्वक तीन प्रदक्षिणा करके राजा ने कहा—हे भगवन! तिष्ठो... तिष्ठो... आहार-जल शुद्ध है। तत्पश्चात् उन्होंने मुनिराज के समक्ष उसी चन्द्रप्रभा रानी के साथ कुशील आदि पाप का त्याग किया और शुद्ध परिणामों से नवधाभक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान प्रदान कर महान पुण्य उपार्जन किया। आहार के पश्चात् मुनिराज वन की ओर विहार कर गये। वहाँ उन्होंने चार घातिकर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। मुनिराज के केवलज्ञान प्राप्ति के समाचार सुनकर राजा परिवारसहित वन में गया। वहाँ श्री केवलीभगवान का उपदेश सुनकर राजा मधु परम वैराग्य को प्राप्त हुए। उन्होंने अपने बड़े पुत्र को राज्यभार सौंपकर स्वयं जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। राजा मधु के साथ उनकी पट्टरानी, चन्द्रप्रभारानी, और छोटा भाई कैटभ तथा उसकी पत्नी ने भी दीक्षा ग्रहण की अर्थात् छोटे भाई ने जिनदीक्षा ग्रहण की तथा रानियाँ आर्यिका हुई।

पुण्य के योग से वे सभी समाधिमरण करके स्वर्ग में अवतरित हुए। चन्द्रप्रभा के जीव ने देवांगना की अवस्था में राजा मधु के जीव के साथ चिरकाल तक सुख भोगकर, स्वर्ग में से चयकर मलिन कर्म के योग से गिरिपतन नामक नगर में राजा हरि और हरिवती नामक रानी के यहाँ कनकमाला नामक पुत्री हुई है। उस कनकमाला का राजा कालसंवर के साथ विवाह हुआ। राजा मधु का जीव श्री कृष्ण नारायण की रानी रुक्मणी के गर्भ में आया। पूर्व भव का शत्रु राजा हेमरथ का जीव कुतप से मरण प्राप्त कर धूमकेतु नामक असुरों का नायक देव हुआ और पूर्व के बैर से प्रद्युम्न को जन्मते ही उठाकर ले गया। अभी वह प्रद्युम्नकुमार उन राजा कालसंवर के यहाँ वृद्धिगत हो रहा है, वह सोलह वर्ष की उम्र में सोलह प्रकार के लाभ और दो विद्याओं सहित अपने माता-पिता को आकर मिलेगा।

यह कृष्ण पुत्र का समग्र वृत्तान्त सुनकर नारदजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और नमस्कार करके राजा कालसंवर के यहाँ जाकर, उनके अन्त:पुर में पहुँचकर कृष्ण पुत्र को देखा। वहाँ से निकलकर श्री कृष्ण नारायण और रुक्मणी से मिलकर उनके पुत्र का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया और उन्हें प्रसन्न किया।

❖ ❖ ❖

यहाँ प्रश्न होता है कि जब श्री कृष्ण को विदित हुआ कि उनका पुत्र विद्याधर राजा कालसंवर के यहाँ है तो उन्हें ऐसा विचार क्यों नहीं आया कि मैं अपने पुत्र को सोलह वर्ष होने की राह देखने के बदले अभी ही जाकर ले आऊँ। श्री कृष्ण में शक्ति बहुत थी। जब द्रोपदी का अपहरण हो गया था, तब श्री कृष्ण, देव को साधकर विदेह में से द्रोपदी को वापिस लाये थे; तो फिर भरतक्षेत्र में ही रहे हुए अपने पुत्र को ले आने का उद्यम क्यों नहीं किया ? इसका क्या कारण ?

सर्वज्ञ के ज्ञान की दृढ़ श्रद्धा!!! क्रमबद्ध की यथार्थ श्रद्धा!

यदि तुरन्त ही प्रद्युम्न को लेकर आवे तो सर्वज्ञ भगवान ने जो कहा कि सोलह वर्ष में सोलह प्रकार के लाभ और दो विद्यायें लेकर आयेगा - वह मिथ्या सिद्ध होगा।

पूर्व भव की चन्द्रप्रभा रानी जो इस भव में पालक-माता बनी है, उसे प्रद्युम्न की युवा अवस्था में उसके साथ रमण करने का जो विकार उत्पन्न होनेवाला है, वह प्रद्युम्न की बालवय में रानी को किस प्रकार उत्पन्न होगा ?

कनकमाला के मिथ्या दोषारोपण के कारण प्रद्युम्न और कालसंवर के बीच जो युद्ध होनेवाला है, वह किस प्रकार होगा!

तदुपरान्त सोलह वर्ष की समयावधि में छोटे-बड़े जितने प्रसंग बननेवाले हों, वे सर्वज्ञ केवलीभगवान ने अपने ज्ञान में देखे हैं, वे सब प्रसंग नहीं बनने से सर्वज्ञ का ज्ञान मिथ्या सिद्ध होगा, जो तीन काल-तीन लोक में शक्य नहीं है।

जब तक श्री कृष्ण को ज्ञात नहीं था कि बालक कहाँ चला गया - कौन उसका अपहरण कर गया, वहाँ तक शक्ति भर प्रयत्न किया कि बालक को खोजकर वापिस ले आऊँ, परन्तु जहाँ उन्होंने नारदजी के मुख से सुना कि सीमन्धर भगवान के ज्ञान में आया है कि बालक सोलह वर्ष में अनेक लाभ और विद्याओंसहित वापिस आयेगा, तब वे दुःखी होने के बदले सुखी हुए और उसे प्राप्त करने का-क्रमबद्ध से पहले पुरुषार्थ करके प्राप्त करने का-सर्वज्ञता के ज्ञान को मिथ्या करके प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं किया और शान्ति से धर्मध्यानपूर्वक दिन व्यतीत करते हुए प्रद्युम्न के वापिस आने की राह देखने लगे।

विचार करो कि मोह की तीव्रतावश सोलह वर्ष की राह देखने के बदले तुरन्त

ही प्रद्युम्न को वापिस लाने का प्रयत्न किया होता तो ? तो ये सब प्रयत्न व्यर्थ जाते, क्योंकि काललब्धि प्राप्त हुए बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति होना असम्भव है; ऐसा उसका परिणमन कराने को उसका द्रव्य भी सक्षम नहीं है तो अन्य द्रव्य-चाहे इन्द्र हो तो भी-क्या कर सकता है।

अपने पुत्र को शीघ्रता से वापिस लाने सम्बन्धी कुछ प्रयत्न करने का नाम पुरुषार्थ नहीं, परन्तु वास्तव में तो सोलह वर्ष तक बालक को लाने का कोई प्रयत्न न करके ज्ञातादृष्टारूप से रहकर मात्र राह देखते रहना, वही सच्चा पुरुषार्थ है! उसी का नाम सर्वज्ञ की सच्ची श्रद्धा है! वही क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त की सच्ची श्रद्धा है! और अकर्तारूप से रहना, वही वास्तविक पुरुषार्थ है!!

❖ ❖ ❖

पूर्व पुण्य के प्रभाव से प्रद्युम्नकुमार, राजा कालसंवर के यहाँ वृद्धिगत होता गया। थोड़े समय में ही वह सम्पूर्ण शास्त्रों और शस्त्र विद्या में पारंगत हो गया तथा सब में प्रमुख हो गया। जो-जो शत्रु उस पर चढ़ाई करते, उनके साथ स्वयं प्रद्युम्न युद्ध करता और युद्ध में शत्रु को भगाकर विजय प्राप्त कर आता। उसकी कीर्ति दसों दिशाओं में व्याप्त हो गयी। वह विशाल सेना लेकर दिग्विजय करने निकला और थोड़े ही समय में दिग्विजय करके बहुत विभूति सहित वापिस आया। प्रद्युम्न के दिग्विजय के समाचार सुनकर राजा कालसंवर ने सम्पूर्ण नगरी का शृंगार कराया और देश-देश के राजाओं को बुलाकर सबकी उपस्थिति में प्रद्युम्न को युवराज पद पर स्थापित किया।

रानी कनकमाला के अतिरिक्त राजा को दूसरी पाँच सौ रानियाँ थीं, जिनसे उन्हें पाँच सौ पुत्र थे। प्रद्युम्न को युवराज पद मिलने से पाँच सौ पुत्रों की माताओं ने क्रोध से भरकर अपने पुत्रों को कहा—'तुम्हारे होते हुए प्रद्युम्न राज ले जाये तो तुम्हारे जीवन से क्या ? अब तुम कुछ भी करके छल से उसे मार डालो, क्योंकि उसके जीते-जी तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा।' दुष्ट पुत्रों ने माताओं का अभिप्राय समझ लिया और निश्चित किया कि किसी भी उपाय से प्रद्युम्न को मार डालना चाहिए।

प्रद्युम्न को मार डालने के भाव से वे प्रद्युम्न के साथ मायाचारी युक्त प्रेम रखने लगे। वे प्रद्युम्न की एक-एक बात का ध्यान रखने लगे। उसके भोजन में जहर भी बहुत बार

मिलाया परन्तु पूर्व पुण्य के कारण वह अमृतरूप परिणमित हो जाता था। जहर से मृत्यु न होने पर सभी भाईयों ने क्रोधित होकर दूसरा उपाय विचार किया। सबने बड़े बन्धु व्रजदंष्ट्र को अपना प्रमुख बनाकर प्रद्युम्न को विश्वास में लेकर विजयार्ध के शिखर पर ले गये, वहाँ उन्होंने एक गोपुर देखा। व्रजदंष्ट्र ने कहा जो कोई इस गोपुर के अन्दर जायेगा, उसे बहुत लाभ प्राप्त होगा, ऐसा वृद्ध विद्याधर कहते आये हैं; इसलिए तुम यहीं खड़े रहो, मैं तुम्हारे लिये लाभ लेकर आता हूँ।

पराक्रमी, सरल चित्त प्रद्युम्नकुमार भाई की आज्ञा लेकर उसके बदले स्वयं लाभ लेने गोपुर के अन्दर गया और जोर से आवाज करके द्वार को जोर से लात मारी। आवाज सुनकर वहाँ का भुजंग नामक रक्षक देव क्रोधित होकर आया और दोनों के बीच महाभयंकर युद्ध हुआ। प्रद्युम्नकुमार ने युद्ध में देव को पराजित कर दिया। देव, कुमार के चरणों में गिर पड़ा, उसने प्रद्युम्नकुमार को स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान किया। भुजंग नामक देव ने कहा—'हे स्वामी! मैं यहाँ आपके लिये ही चिरकाल से निवास कर रहा हूँ, उसका कारण इस प्रकार है।

❖ ❖ ❖

इस विजयार्ध पर्वत पर एक अलंकार नामक उत्तम नगर है, उसमें गुणों का सागर कनकनाभि नामक राजा, पतिव्रता अनिला नाम की रानी के साथ राज्य करता था। उसके पुत्र का नाम हिरण्यनाभि था। राजा कनकनाभि ने दीर्घ काल तक राज्य का भोग किया। तत्पश्चात् अपने पुत्र को राज्य सौंपकर श्री पिहितास्रव मुनिराज के निकट दिगम्बर जिनदीक्षा धारण कर ली। थोड़े समय में ही उन्होंने घातिकर्मों का नाश करके, चार अघातिकर्मों का भी नाश किया और सिद्धालय में जाकर विराजमान हो गये।

एक दिन राजा हिरण्यनाभि अपने महल के ऊपर बैठे हुए थे कि उसने बहुत विशाल सेना और महाविभूतिसहित किसी दैतेन्द्र को देखा। उसने विचार किया कि मेरी विभूति तो इससे बहुत हीन है, इसलिए मुझे अपनी विभूति बढ़ाना ही चाहिए। ऐसा दृढ़ संकल्प करके छोटे भाई को राज्य सौंपकर स्वयं सिद्ध नामक वन में गया, वहाँ रोहिणी विद्या सिद्ध करके, वापिस आकर राज्य अपने हाथ में लेकर इन्द्र समान राज्य सुख भोगा।

एक दिन हिरण्यनाभि संसार को असार जानकर वैराग्य को प्राप्त हुआ। अपने पुत्र का राज्याभिषेक करके नमिनाथस्वामी के समवसरण में जाकर वहाँ जिनदीक्षा अंगीकार करने के लिये तैयार हुआ, वहाँ उसकी विद्याओं ने सामने आकर प्रार्थना की कि—'हे नाथ! आपके बिना हम अनाथ हो जायेंगे। हमें कहाँ जाना?' तब हिरण्यनाभि ने श्री गणधर भगवान से पूछा। उन्होंने कहा कि—'हे राजन्! हरिवंश शिरोमणि श्री नेमिनाथ तीर्थंकर के बड़े भाई नौवें नारायण द्वारिकानाथ श्री कृष्ण को रानी रुक्मणी से प्रद्युम्न नाम का महाबली पुत्र होगा। वह जब गोपुर में आयेगा, तब इन सब विद्याओं का स्वामी होगा। इसलिए हिरण्यनाभि राज की आज्ञा से मैं इस गोपुर में आपकी राह देखकर अभी तक यहाँ रहा हूँ। अब आप इन समस्त विद्याओं का स्वीकार करें।' ऐसा कहकर कुमार को रत्नमुकुट और दिव्य आभरण प्रदान कर उनकी पूजा की। विद्यायें बोलीं—'हे नाथ! आज से हम आपकी किंकरी हैं। हमारे योग्य आज्ञा करें।' कुमार ने कहा—'जब मैं तुम्हें स्मरण करूँ, तब उपस्थित होना।'

इस ओर व्रजदंष्ट्र ने विचार किया कि प्रद्युम्न को गोपुर गुफा में बहुत देरी हो गयी है, इसलिए वह निश्चितरूप से मर गया होगा। ऐसा विचार कर सभी भाई आनन्दित होकर खड़े हुए और जहाँ घर की ओर जाने लगे, तभी प्रद्युम्न को अनेक लाभ और उत्तम आभरणों सहित आया हुआ देखकर कपटपूर्वक हर्ष व्यक्त किया और दूसरी काल की गुफा के निकट ले गये। व्रजदंष्ट्र ने पहले की तरह इस गुफा में भी लाभ बताया और स्वयं जाने के लिये तैयार हुआ। तब प्रद्युम्नकुमार बड़े भाई की आज्ञा लेकर स्वयं गुफा में गया। वहाँ भी उसके अद्‌भुत पराक्रम के सन्मुख उस काल नामक गुफा का रक्षक देव उसके सन्मुख नहीं टिक सका और कुमार को प्रणाम करके दो सुन्दर चँवर, एक निर्मल छत्र, एक पवित्र रत्न, एक सुन्दर तलवार, वस्त्राभूषण और पुष्प भेंट में प्रदान किये। प्रद्युम्नकुमार ये सब लाभ लेकर देव को वहीं गुफा में स्थापित कर काल गुफा में से बाहर आया।

जब इस काल गुफा में से भी प्रद्युम्न जीवित बाहर आया तो सभी भाई दुःखी हुए परन्तु ऊपर से प्रसन्नता बतलाकर तीसरी नाग नामक गुफा में ले गये। वहाँ भी व्रजदंष्ट्र ने दैवी लाभ बतलाया। जिसे पाने के लिये प्रद्युम्न गुफा में गया और वहाँ के स्वामी नागराज

से भयंकर युद्ध करके उसे पराजित किया। नागराज ने कुमार को एक नागशय्या, वीणा, कोमल आसन तथा गृहकार्यिका और सैन्यरक्षिका नामक दो विद्यायें प्रदान कीं। नागराज को आज्ञाकारी बनाकर, सभी लाभ लेकर वहाँ से भी कुमार बाहर आया।

तत्पश्चात् सभी भाई कुमार प्रद्युम्न को दैवरक्षित वावणी दिखलाने के लिये ले गये। व्रजदंष्ट्र के मुख से उसके लाभ का वर्णन सुनकर प्रद्युम्नकुमार वावणी में कूद पड़ा। वहाँ के रक्षक देव के साथ युद्ध करके, उसे पराजित करके अपने आधीन किया। देव ने उसे एक मकर की ध्वजा भेंट में प्रदान की। तब से प्रद्युम्नकुमार मकरकेतु के नाम से जगत में प्रसिद्ध हुआ।

वहाँ से आगे बढ़कर प्रद्युम्नकुमार को असुरसेवित अग्निकुण्ड देखने ले गये। वहाँ भी व्रजदंष्ट्र ने कहा —'जो इस अग्निकुण्ड में जाता है, उसे अनेक लाभ प्राप्त होते हैं और राज्य भी मिलता है।' यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने उस अग्निकुण्ड में नि:शंक होकर प्रवेश किया, वहाँ भी देव के साथ घोर युद्ध किया और देव को पराजित कर, उससे अग्नि से धोये हुए और स्वर्णतन्तु से निर्मित दो वस्त्र भेंट में प्राप्त कर कुण्ड में से बाहर आया।

प्रद्युम्न को मारने की इच्छा से समस्त भाई, उसे दूसरे एक मेषाकार पर्वत पर ले गये। वहाँ के लाभ का वर्णन सुनकर प्रद्युम्नकुमार, भाई की आज्ञा प्राप्त कर उस पर्वत पर गया। जब कुमार पर्वत के दो शिखर के बीच पहुँचा, तब वे दोनों दिव्य शिखर एक-दूसरे के साथ मिलकर कुमार को दबाने लगे। तब कुमार ने अपने हाथ से दोनों शिखरों को इकट्ठा होने से रोक दिया, इससे क्रोधित होकर वहाँ का निवासी असुरदेव प्रगट हुआ और फिर दोनों के बीच युद्ध हुआ। युद्ध में असुरदेव पराजित हुआ और दो रत्न के कुण्डल भेंट में प्रदान कर कुमार को विदा किया। उसे वापिस आता देखकर सभी भाई अत्यन्त क्रोधित हुए और व्रजदंष्ट्र को कहा कि अब तो अपने को ही इसे मार डालना चाहिए क्योंकि यह जहाँ जाता है, वहाँ से बचकर वापिस आ जाता है। तब व्रजदंष्ट्र ने कहा कि थोड़ा धीरज रखो, अभी बहुत स्थान शेष हैं, कहीं तो लोभ के कारण मरेगा ही।

तत्पश्चात् सभी भाई, प्रद्युम्न को कौतुकवश विजयार्ध पर्वत देखने ले गये। वहाँ एक वन था और वन में एक आम्रवृक्ष था। व्रजदंष्ट्र ने कहा कि जो कोई इस वृक्ष के

अमृततुल्य फल खाता है, वह सदा ही यौवनयुक्त रहता है। व्रजदंष्ट्र की आज्ञा प्राप्त होते ही प्रद्युम्न उस वृक्ष के निकट गया और वृक्ष पर चढ़कर नि:शंक होकर जोर से डालियाँ हिलाने लगा। वहाँ का देव भयंकर बन्दर का रूप धारण कर प्रगट हुआ और यद्वा-तद्वा बकने लगा। कुमार क्रोध से भर गया और दोनों के बीच भयंकर युद्ध हुआ, अन्त में देव पराजित हो गया। उसने कुमार को एक मुकुट, एक अमृतमाला और दो आकाशगामिनी पादुका भेंट में प्रदान की। वहाँ से भी प्रद्युम्न को जीवित आते देखकर सभी भाई अत्यन्त क्रोध से भर गये परन्तु व्रजदंष्ट्र ने उन्हें शान्त किया।

वहाँ से आगे बढ़कर व्रजदंष्ट्र कपिल नामक वन के निकट प्रद्युम्न को ले गया, वहाँ भी व्रजदंष्ट्र ने अनेक लाभ वर्णन किये। प्रद्युम्नकुमार तुरन्त ही निडरता से वन में जाकर एक वृक्ष पर चढ़ गया। इतने में एक असुरदेव अंजन समान काले हाथी का रूप लेकर गर्जना करते हुए कुमार की ओर दौड़ता आया। कुमार ने थोड़ी ही देर में उसे परास्त कर दिया। देव ने कहा—'हे नाथ! मैं आपका सेवक हूँ, जब आवश्यकता पड़े, तब स्मरण करना, मैं उपस्थित हो जाऊँगा।' इस प्रकार कहकर देव ने कुमार को विदा किया।

तत्पश्चात् व्रजदंष्ट्र, प्रद्युम्नकुमार को अनुबालक शिखर के निकट ले गया। वहाँ जाकर प्रद्युम्नकुमार साहसपूर्वक शिखर पर चढ़ गया। इतने में असुरदेव सर्प का रूप धारण करके आया। दोनों के बीच भयंकर युद्ध हुआ। अन्त में दैत्य पराजित हुआ, तब दैत्य ने कुमार को अश्वरत्न, घरी, कवच, और मुद्रिका भेंट में प्रदान कर विदा किया।

तत्पश्चात् भाई, प्रद्युम्नकुमार को शरावाकार नामक महापर्वत के निकट ले गये। वहाँ ऊपर चढ़कर, वहाँ के देव को युद्ध में पराजित कर, उससे कंठी, बाजुबंध, दो कड़े और कटिसूत्र प्राप्त कर, प्रद्युम्नकुमार वापिस आकर भाईयों से मिला। वहाँ से व्रजदंष्ट्र, प्रद्युम्नकुमार को बाराहाकार पर्वत पर ले गया, उस पर्वत का आकार सूकर के समान था। प्रद्युम्न दौड़कर उस पर्वत पर चढ़ गया। वह सूकराकार मुख इकट्ठा होने लगा, जिसे प्रद्युम्न ने कोहनी की मार से तोड़ डाला। उसमें से बाराहमुख नामक देव प्रगट हुआ और प्रद्युम्न के साथ युद्ध किया परन्तु युद्ध में तो पुण्य की ही जीत थी अर्थात् प्रद्युम्न ने देव को पराजित किया और जयशंख नामक शंख, पुष्पमयी धनुष भेंट में प्राप्त कर भाईयों से आकर मिला।

वहाँ से व्रजदंष्ट्र, कुमार प्रद्युम्न को पद्म नामक वन में ले गया। लाभ प्राप्त करने की इच्छा से वह तुरन्त ही वन में चला गया। वहाँ जाकर देखता है कि एक मनोजव नाम का विद्याधर एक वृक्ष के नीचे बँधा हुआ है। निडर प्रद्युम्न ने उससे पूछा—'हे विद्याधर! तुम्हें इस निर्जन वन में किसने बाँधा?' विद्याधर ने कहा—'बसन्तक नामक मेरे पूर्व के शत्रु ने मुझे बाँधा था।' उसकी प्रार्थना सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने उसे बन्धन मुक्त किया। मनोजव विद्याधर तुरन्त ही उसके शत्रु बसन्तक को पकड़कर प्रद्युम्नकुमार के पास ले आया। कुमार ने दोनों विद्याधरों में मित्रता करा दी। मनोजव नामक विद्याधर ने कुमार को एक बहुमूल्य हार और एक इन्द्रजाल नामक विद्या भेंट में प्रदान की। बसन्तक नामक विद्याधर ने कुमार को अपनी नवीन यौवन धारण करनेवाली अतिशय सुन्दर कन्या प्रदान की। आचार्य कहते हैं कि पुण्य से क्या प्राप्त नहीं होता! अर्थात् सब ही प्राप्त होता है।

तत्पश्चात् दुष्ट भाई, प्रद्युम्न को काल नामक वन में ले गये। वहाँ भी लाभ प्राप्ति के अभिप्राय से कुमार तुरन्त ही वन में घुस गया। वहाँ जाकर उस वन के महाबल नामक दुष्ट देव को जीत लिया। उससे प्रसन्न होकर उस असुरदेव ने कुमार को मदन, मोहन, तापन, शोषण और उन्मादन नामक पाँच विख्यात बाणों के साथ एक पुष्प धनुष प्रदान किया।

तत्पश्चात् सभी भाई प्रद्युम्नकुमार को भीमा नामक सर्पाकार गुफा में ले गये। वहाँ भी कुमार शीघ्रता से गुफा में गया और वहाँ के अधिकारी देव को जीत कर उससे एक पुष्पमयी छत्र और एक पुष्पमयी सुन्दर शैय्या भेंट में प्राप्त की। कुमार को इस गुफा में से भी जीवित आते देखकर सभी भाई क्रोधित हुए और उसे स्वयं ही मारने का निर्णय किया परन्तु व्रजदंष्ट्र ने कहा कि अभी दो जगह बाकी है, जहाँ वह मर सकता है, इसलिए अभी थोड़ी देर इन्तजार कर लो।

तत्पश्चात् सभी भाई प्रद्यम्नकुमार को विपुल नामक वन में ले गये। लाभ प्राप्त करने के लोभ से प्रद्युम्न पुनः उस वन में गया, वन में जाते ही जवंतक पर्वत पर उसकी दृष्टि गयी। वहाँ एक तमाल वृक्ष के नीचे पड़ी हुई शिला पर एक कामिनी ध्यान लगाकर बैठी हुई थी। वह रूप और यौवन से छलाछल भरी हुई थी। उसके रूप का क्या वर्णन करना? जिसने तीन लोक की स्त्रियों के रूप को जीत लिया था। उसमें मोहित होकर

कुमार, कामदेव के बाणों से घायल होकर उसके समक्ष ही बैठ गया। इतने में ही बसन्तक नामक देव का आगम हुआ, उसने कुमार के चरणों में नमस्कार किया और उसके समीप बैठ गया। कुमार ने उससे पूछा कि—'हे वत्स! मुझे शीघ्र कहो कि यह सुन्दरी कौन है? किसकी पुत्री है? यहाँ किसके लिये तप कर रही है?'

कुमार के वचन सुनकर वह देव कहने लगा—'हे नाथ! एक प्रभंजन नामक विद्याधर है। उसकी वाक नामक स्त्री के उदर से यह रति नामक कन्या उत्पन्न हुई है। एक दिन प्रभंजन विद्याधर के यहाँ एक योगी पधारे। आहार ग्रहण करने के पश्चात् विद्याधर ने उन्हें विनय से पूछा—हे स्वामिन्! मेरी इस रति नामक पुत्री का पति कौन होगा? तब मुनिराज ने कहा कि द्वारिका के राजा कृष्ण की रुक्मणी रानी का प्रद्युम्न नामक सर्वगुण सम्पन्न और सर्व विद्यावान पुत्र है, वही तेरी पुत्री का पति होगा। वह बहुत साहस सहित विपुल नामक वन में आयेगा; इसलिए उत्कृष्ट पति प्राप्त करने के लिये यह रति नाम की कन्या यहाँ तप कर रही है। जिसके विषय में मुनिराज ने कहा था, वह रूप और लक्षण से तो आप ही हैं, यह निश्चित हो गया है। कन्या के पुण्य के उदय से आप यहाँ पधारे हो। तत्पश्चात् उस बसन्तक नामक देव ने दोनों का विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न कराया। स्त्री के लाभ को प्राप्त कर प्रद्युम्नकुमार अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ।

विवाह सम्पन्न होने के बाद उसी मनोहर वन में एक सकट नामक असुर आकर कुमार से मिला। उसने भी कुमार को प्रणाम किया और एक कामधेनु तथा एक सुन्दर फूलों का रथ भेंट में प्रदान किया। तत्पश्चात् कुमार ने उसी पुष्प रथ पर अपनी प्राणप्रिया रति के साथ बैठकर वन के बाहर प्रयाण किया। प्रद्युम्न को सोलह लाभ लेकर आते हुए देखकर सभी भाईयों के मुख काले हो गये। सभी भाई आगे चले और प्रद्युम्नकुमार रति के साथ भाईयों के पीछे चलते हुए नगरी में पहुँचे। नगर के स्त्री-पुरुष, रतिसहित कामदेव को देखने के लिये अपने कामकाज को छोड़कर नगर के मुख्यमार्ग पर आये। नगरजनों को अपने दर्शन देते हुए कुमार महल में पहुँचे। जहाँ राजा कालसंवर विराजमान थे। कुमार ने पिता को प्रणाम किया और पिता ने भी पुत्र का आलिंगन किया।

पिता से मिलकर कुमार अपनी माता से मिलने के लिये उनके महल में गये और

माता का चरण स्पर्श करके तथा आलिंगन करके उनके सामने बैठ गये। कनकमाला ने सोलह लाभ लेकर आये हुए अपने पुत्र को आशीर्वाद प्रदान किया। अनेक उपमा समूह से संयुक्त सम्पूर्ण गुणवाले उस प्रद्युम्न के रूप को देखकर कनकमाला काम से प्रेरित होकर कामदेव के बाणों द्वारा मर्म भेद होने से मुरझा गयी। विरह की अग्नि से उसका शरीर संतप्त होने लगा। दु:ख के कारण चिन्तित होकर वह विचार करने लगी कि हाय! मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? लावण्य से भरपूर मेरा यह नवयौवन, मेरा रूप, मेरी कान्ति और मेरे गुण आदि तब ही सफल होंगे, जब मैं इस सर्व विद्याओं से युक्त और सुन्दर कुमार का सेवन करूँगी। जिसने इसके मुख कमल के मधुर मधु का पान नहीं किया, जिसने अपनी आँखों से इसके मुखपंकज को नहीं देखा, जिसने प्रेम से इसका आलिंगन नहीं किया, उस स्त्री के विफल जीवन से क्या? अर्थात् इसे प्राप्त किये बिना कोई भी स्त्री भाग्यशाली नहीं हो सकती! जब तक कनकमाला इन विचारों में रही, तब तक तो कुमार नमस्कार करके अपने महल में चला गया।

कुमार के चले जाने के बाद कनकमाला दु:खी होकर विचार करने लगी कि हाय! यह मुझे क्या हो गया है! काम के बाणों से मेरा शरीर घायल हो गया है। मुझसे उसकी विरह वेदना सहन नहीं होती। उस समय कनकमाला निर्लज्ज होकर विविध विकार चेष्टा करने लगी। शरीर की निन्दा करने लगी। विरह से व्याकुल उस विद्याधरी की भूख, प्यास, नींद सब पलायन कर गयी। कोई भी शारीरिक सुख नहीं रहा। बहुत वैद्यों ने आकर उसे देखा परन्तु कुछ फल नहीं हुआ, क्योंकि उसका दु:ख असाध्य था।

❖ ❖ ❖

एक दिन राज्यसभा में राजा कालसंवर ने प्रद्युम्नकुमार से कहा—'हे पुत्र! तुम्हारी माता रोग से अतिशय पीड़ित है, उसके जीवन में भी शंका है, तथापि तू उसके समीप क्यों नहीं गया!'

विनयपूर्वक प्रद्युम्नकुमार ने पिता से कहा कि—'मुझे माता की बीमारी की जानकारी ही नहीं थी, इसलिए नहीं गया। आपकी आज्ञा से मैं इसी समय जा रहा हूँ।' ऐसा कहकर वह तुरन्त ही माता के महल में पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने देखा कि उसकी माता जमीन

पर पड़ी थी, उसका शरीर विरह से घायल हो रहा था। माता को दु:खी देखकर प्रद्युम्न विनयपूर्वक प्रणाम करके उसके निकट बैठ गया। उसके शरीर की चेष्टा देखकर प्रद्युम्न उसके रोग का स्वरूप विचार करने लगा।

जब प्रद्युम्न ऐसा विचार कर रहा था, तब कनकमाला अंगड़ाई लेती हुई खड़ी हुई और उसने दास-दासियों को दूर कर दिया। उसने प्रद्युम्न से कहा—'मदन! हम तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं।' ऐसा कहकर सारी वस्तुस्थिति प्रद्युम्न से कह सुनायी। उसने कहा कि—'जब तू मुझे वन में मिला, तब मैंने विचार किया था कि जब तू जवान होगा, तब तेरे साथ रमण करूँगी। अब तू काम के योग्य हो गया है, इसलिए मेरे साथ रमण कर। यदि ऐसा नहीं करेगा तो मैं मर जाऊँगी और तेरे सिर पर स्त्री हत्या का महापाप आ पड़ेगा।'

माता के मुख से इस प्रकार के दोनों लोक से विरुद्ध वचन सुनकर प्रद्युम्न की आँखों के समक्ष अन्धकार छा गया। वह अपने को सम्हालते हुए बोला—'हे माता! तुमने यह निन्द्य से भी अतिशय निन्द्य वचन कैसे कहे? क्या उत्तम कुल में उत्पन्न हुए लोगों को ऐसी बात शोभा देती है? हे माता! कुमार्ग में गये हुए अपने चित्त को तुम्हें रोकना चाहिए, जिससे शीलव्रत में रहने से तुम्हारी प्रशंसा हो।' इस प्रकार माता को बारम्बार समझाकर तुरन्त ही उसके महल से निकल गया और चिन्तित होकर वन में चला गया। वहाँ एक श्रीवरसागर नामक अवधिज्ञानी मुनिराज विराजमान थे। प्रद्युम्न ने उन्हें प्रणाम करके माता के विकारी परिणाम, जो कि गुप्त थे, वे मुनिराज से कहे और पूछा—'हे भगवन! वह मुझमें आसक्त क्यों हुई है?'

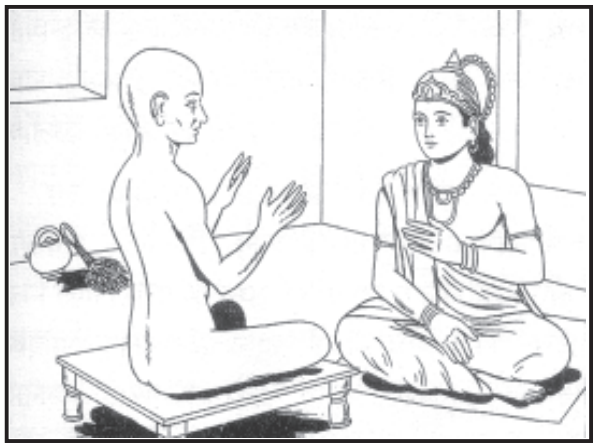

प्रद्युम्न की बात सुनकर मुनिराज ने कहा—'हे कुमार! कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता। स्नेह और वैर सब पूर्व जन्म के सम्बन्ध से होता है। हे वत्स! पूर्व जन्म में जब तू मधु नामक राजा था, तब तुमने हेमरत की स्त्री चन्द्रप्रभा को बलजोरी से अपनी रानी

बनाया था। वहाँ से प्रसंग पाकर तप करके दोनों स्वर्ग में गये और वहाँ से चन्द्रप्रभा, कनकमाला हुई और मधु का जीव तू श्रीकृष्ण और रुक्मणी का पुत्र प्रद्युम्न हुआ। इस समय पूर्व के मोहवश तुझे देखकर कनकमाला अतिशय सन्तापित हुई है क्योंकि मोह महा कठिनाई से छोड़ा जा सकता है। वह तुझे मोह के वश होकर दो विद्यायें देना चाहती है, जो तुझे शीघ्र ले लेना चाहिए।'

मुनिराज के वचन सुनकर उसने मुनिराज को प्रणाम किया और कहा कि—'हे प्रभो! आपके वचनों का मैं पालन करूँगा। प्रभु! मुझे अभी एक शंका है, उसका समाधान करने की कृपा करें। मेरी माता रुक्मणी को जो दु:ख आ पड़ा है, वह मेरे कारण है या माता के पाप के उदय से है?'

मुनिराज ने कहा—'हे वत्स! सुन, तेरी माता को तेरा विरह उसके अपने पूर्व के पाप के उदय से हुआ है। वह कथा इस प्रकार है, जिसे तू ध्यान देकर सुन।'

❖ ❖ ❖

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक मगध नामक देश है। उस देश में एक लक्ष्मी नाम का एक गाँव है। जिसमें सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मण राजा रहता था। उसके कमला नाम की पत्नी थी। उन दोनों के लक्ष्मीवती नामक पुत्री थी, जिसे अपने रूप के कारण महा अभिमान रहता था। एक दिन एक महा तपस्वी मुनिराज एक मास के उपवास का पारणा करने के लिये उसके घर की ओर पधारे। उसी समय लक्ष्मीवती अपना मुख दर्पण में देख रही थी, तभी पीछे से आये हुए मुनिराज का कृश शरीर देखकर लक्ष्मीवती ने मुनिराज की अपने मन में बहुत निन्दा की, जिसके फल में थोड़े ही समय में उसे कुष्ठ हुआ और दु:ख सहन नहीं कर सकने से वह अग्नि में गिरकर मरण को प्राप्त हुई। मरकर आर्तध्यान के फल में गधी हुई; वहाँ से मरकर गृह सूकरी हुई; वहाँ भी कोतवाल के मारने से कुतिया हुई। एक दिन शीत ऋतु में अपने बच्चों सहित वह कुतिया घास में बैठी हुई थी, तभी अचानक घास में आग लग जाने से बच्चों के मोहवश बाहर नहीं निकल सकी और आग में जलकर मर गयी। वहाँ से मरकर पाप के फल में भेकनिगम नगर में धीवरी की पुत्री हुई। उसका शरीर अतिशय निन्द्य और दुर्गन्धयुक्त था। उसके शरीर की दुर्गन्ध उसके घर

के लोगों से भी सहन नहीं होती थी, इसलिए उसे घर से निकाल दिया था। सत्य यही है कि पापियों को सुख कहाँ से प्राप्त हो सकता है।

अपने परिवार के लोगों से भी ठोकर खाकर वह गंगा नदी के किनारे एक झोपड़ी बनाकर रहने लगी। वहाँ लोगों को नाव के सहारे नदी पार कराकर पैसा प्राप्त कर अपनी जीविका चलाती थी। वहाँ रहकर कमाये हुए धन में से थोड़ा द्रव्य अपने पिता को घर भेजती थी। वहाँ रहते हुए उसका नाम दुर्गन्धा पड़ गया। एक दिन माघ महीने के संध्या समय जब अतिशय शीत पड़ रही थी, तब उस नदी के किनारे वे ही मुनिराज पधारे, जिनकी दुर्गन्धा ने पूर्व भव में निन्दा की थी। मुनिराज तो कोई एक स्वच्छ स्थान में विराजमान हो गये।

दुर्गन्धा ने उन मुनिराज को देखा और विचार किया कि मैं यहाँ झोंपड़ी में अग्नि प्रगटाकर और कपड़े पहिनकर रहती हूँ, तथापि मुझे शीत लगती है तो ये योगीराज ऐसी शीत में बाहर किस प्रकार रह सकेंगे? ऐसा विचारकर वह रात के समय मुनिराज के निकट गयी और मुनिराज के बगल में अग्नि सुलगा दी तथा गर्म वस्त्र पहनाकर शीत का निवारण करने लगी। इस प्रकार पूरी रात जागृत रहकर व्यतीत की।

प्रात:काल होने पर मुनिराज ने ध्यान छोड़ा और दुर्गन्धा को देखकर कहा— सोमशर्मा ब्राह्मण की पुत्री, बेटी लक्ष्मीवती! तू कुशल तो है न? दुर्गन्धा ने मन में विचार किया कि ये सत्यवचन बोलनेवाले मुनिराज मुझे किस नाम से बुलाते हैं और क्या कहते हैं? विचार करते-करते अचानक वह मूर्च्छित हो गयी। उसी समय उसे जातिस्मरणज्ञान हो गया। थोड़ी देर वह अपने पूर्व भवों का चिन्तवन करने लगी। जागृत होकर मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके अतिशय रुदन करने लगी। उसने मुनिराज से कहा—'हे नाथ! यह मेरी क्या दुर्दशा हुई? कहाँ तो वह ब्राह्मणी का भव और कहाँ तो यह धीवरी का जन्म? हे विभो! मुनि निन्दा के प्रभाव से जो

महापाप बाँधा था, उस पाप के फल से ही मैं भवभ्रमण कर रही हूँ।'

दयावान योगीराज ने उस रोती हुई धीवरी से कहा—'हे पुत्री! दुःखी न हो, क्योंकि यह दुःख ही संसार बढ़ानेवाला है। अब तू जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित धर्म को धारण कर। यह जीव पूर्व में कमाये हुए कर्मों का फल भोगता है, इसलिए मुनि निन्दा के फल में तू निम्न कुल में जन्मी है। अब तू गृहस्थ धर्म में अनुरक्त होकर दयामयी धर्म को धारण कर।' ऐसा कहकर मुनिराज ने उसे सम्यक्त्वसहित बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का स्वरूप समझाया। तत्पश्चात् मुनिराज ने दुर्गन्धा को आशीर्वाद प्रदान किया और स्वयं विहार कर गये। दुर्गन्धा भी आर्यिका के साथ रहने लगी।

एक दिन राजगृही नगरी के बाहर गुफा में दुर्गन्धा ध्यान लगाकर बैठी हुई थी। रात्रि के समय एक व्याघ्र आया और दुर्गन्धा को खा गया। ध्यान के प्रभाव से मरकर दुर्गन्धा सोलहवें स्वर्ग के इन्द्र की इन्द्राणी होकर चिरकाल तक सुख भोगकर अन्त में आयु के क्षय होने से वह दुर्गन्धा का जीव स्वर्ग में से चयकर कुण्डनपुर नगर के राजा भीष्म की रुक्मणी नामक गुणवती पुत्री हुई।

❖ ❖ ❖

यह सुनकर प्रद्युम्न ने मुनिराज से पूछा—'हे प्रभो! मेरे कैसे कर्म के उदय से अपनी माता से मेरा विरह हुआ है?' तब यतिराज ने कहा—'इसमें तेरा पाप का उदय नहीं, परन्तु तेरी माता ने, जब वह लक्ष्मीवती नामक ब्राह्मण पुत्री थी, तब उसने सोलह घड़ी तक मोर के बच्चे को उससे अलग रखा था; इसलिए उस पाप के फल में सोलह वर्ष तक पुत्र का विरह हुआ है। हे वत्स! इस प्रकार धर्म-अधर्म का स्वरूप समझकर पाप को दूर से ही छोड़ना चाहिए।'

मुनिराज के वचन सुनकर, उन्हें नमस्कार करके प्रद्युम्नकुमार आनन्दसहित कनकमाला माता के महल में गया। कनकमाला के निकट जाकर उसने माता को नमस्कार किये बिना ही उसके निकट बैठ गया। यह देखकर कनकमाला विचार करने लगी कि निश्चय ही प्रद्युम्न उसके मोहजाल में फँस गया है। अब मैं उसे जैसा कहूँगी, वैसा मेरे साथ भोग भोगेगा, इसमें सन्देह नहीं है। ऐसा विचारकर उसने प्रद्युम्न को कहा—

'हे महाभाग कामदेव! यदि रमणीय और मनोहर वचन अनुसार रमण करोगे तो मैं तुम्हें रोहिणी आदि समस्त मन्त्र सीखा दूँगी।'

यह सुनकर प्रद्युम्न ने कहा—'क्या आज तक मैंने तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन किया है ? कृपा करके रोहिणी आदि मन्त्रगण प्रदान करें। आप दें या न दें परन्तु मैं तुम्हारे कहे अनुसार कार्य अवश्य करूँगा।' प्रद्युम्न की बात में आकर कनकमाला ने समस्त मन्त्रगण विधिपूर्वक प्रद्युम्न को प्रदान किये। प्रद्युम्न ने उन मन्त्रों को विधिपूर्वक ग्रहण किया और कनकमाला से कहा—'हे पुण्यरूपे! जब मैं जंगल में निराधार शिला के नीचे दबा हुआ था, तब मुझे मेरे माता-पिता शरण नहीं हुए थे; उस समय आप दोनों ने मुझे बचाया था; इसलिए निश्चित ही आप मेरे माता-पिता हैं। इसलिए पुत्र के योग्य जो कुछ कार्य हो, वह मुझे कहें, मैं अवश्य करूँगा।'

वज्रपात समान प्रद्युम्न के वचन सुनकर कनकमाला अत्यन्त क्रोधित हुई। अपने को ठगाया हुआ जानकर वह प्रद्युम्न से कुछ कहे, उससे पूर्व ही प्रद्युम्न, कनकमाला को नमस्कार करके अपने महल की ओर गमन कर गया। कनकमाला अत्यन्त दु:खी हो गयी। विद्यायें चली जाने से वह अत्यन्त चिन्तित हो गयी और जैसे बने वैसे प्रद्युम्न को मारने का विचार करने लगी। थोड़ी देर विचार करके उसने अपने हाथ से ही अपने वस्त्र फाड़ लिये, अपने बाल नोंच लिये और आँखों का काजल मुख में लगाकर रोते-रोते राजा के निकट गयी और दु:ख से गद्‌गद् होकर कहने लगी—'हे महाभाग! तुमने मुझे जिस बालक का पालन करने के लिये कहा, उसने ही मेरे साथ मेरा यौवन देखकर ऐसी कुचेष्टा की है। वह दुष्ट बुद्धि अवश्य नीचकुल में पैदा हुआ है, यदि वह नीच न हो तो माता के विषय में ऐसी पापबुद्धि नहीं करता। आपके पुण्य के प्रभाव से और मेरे भाग्य से मेरे शील की रक्षा हुई है। अब मैं जब उस दुष्ट का मस्तक रक्त से लथपथ देखूँगी, तब ही अपने जीवन को धन्य समझूँगी।'

कनकमाला के वचन सुनकर कालसंवर के क्रोध का पार नहीं रहा। उसने अपने समस्त पुत्रों को एकान्त में बुलाया और कहा कि इस पापी प्रद्युम्न को तुम सब एकत्रित होकर मार डालो। किसी को पता न पड़े इस प्रकार से मारना। पिता के वचन सुनकर सभी

पुत्र प्रसन्न हो गये। पिता को प्रणाम करके सभी पुत्र प्रद्युम्न के समीप गये और लोकापवाद न हो, इसलिए जलक्रीड़ा के बहाने वापिका के समीप ले गये। समस्त भाई वापिका में कूदने के लिये वस्त्र बदलकर एक वृक्ष पर चढ़ गये।

इतने में प्रद्युम्नकुमार के पुण्ययोग से विद्या ने आकर उनके कान में कहा—'हे महाभाग वत्स! ये सभी तुम्हारे भाई वैरभाव से तुम्हें मारने के लिये यहाँ लाये हैं, इसलिए तुम उनके साथ वापिका में कूदकर जलक्रीड़ा नहीं करना; मैं तुम्हारे हित की इच्छुक हूँ।'

विद्या के ऐसे वचन सुनकर कुमार आश्चर्यचकित हो गया। उसने शीघ्र ही विद्या की सहायता से अपना दूसरा रूप बनाया और स्वयं अदृश्य होकर कौतुक देखने लगा। इतने में वृक्ष पर जो नकली प्रद्युम्न था, वह वापिका में कूद पड़ा, उसे पानी में गिरते देखकर समस्त भाई उसे मारने के लिये कूद पड़े। जब वे सभी भाई एक साथ उसे मारने के लिये वापिका में कूदे, तब प्रद्युम्न को वह दृश्य देखकर अत्यन्त क्रोध आया। वह विचार करने लगा कि ये सब मुझे मारने के लिये क्यों तैयार हुए हैं? पिता की आज्ञा से मारने आये होंगे? कदाचित् माता के उकसाने से ही मुझे मारने आये होंगे। ऐसा विचार कर विद्या की सहायता से वापिका जितनी एक बड़ी शिला लाकर वापिका को ढँक दिया। सबको उसमें उल्टे लटका दिया। मात्र एक भाई को पिता के पास भेजा और कहा कि मैंने जो कुछ किया है, वह समाचार पिताजी को दे देना।

उसने जाकर पिता कालसंवर से समस्त वृत्तान्त कह दिया। अपने पुत्रों को वापिका के जल में बँधा हुआ जानकर राजा बहुत क्रोधित हुआ। वह तत्काल हाथ में तलवार लेकर प्रद्युम्न को मारने के लिये खड़ा हो गया। यह देखकर मन्त्रियों ने राजा को रोका और कहा—'हे नाथ! जिसने तुम्हारे पाँच सौ पुत्रों को वापिका में बाँधा है तथा जिसे अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं, वह तुम्हारे अकेले से विजित नहीं हो सकता, इसलिए विशाल सेना सहित जाना चाहिए।' मन्त्रियों की बात मानकर राजा विशाल सेनासहित युद्ध के लिये रवाना हो गया।

इस ओर प्रद्युम्नकुमार विचार कर रहा था कि पिता की मूर्खता तो देखो कि वे एक स्त्री की बात में आकर मुझे मारने के लिये तैयार हुए हैं। दिशाओं को व्याप्त करनेवाली

विशाल सेना को देखकर प्रद्युम्नकुमार को पिता की मूर्खता पर किंचित् हास्य हुआ और अपने देवों को याद करके विद्या की सहायता से बहुत विशाल सेना तैयार की।

दोनों ओर की सेनायें आमने-सामने आ गयीं। रणभेरी बजते ही युद्ध प्रारम्भ हो गया। दोनों ओर की सेना एक-दूसरे के साथ युद्ध करने में मग्न थीं। थोड़ी देर में ही प्रद्युम्न की सेना ने कालसंवर की सेना को चारों ओर से घेरकर समाप्त कर दिया। कालसंवर विचार करने लगा कि अब मुझे प्रद्युम्न को किस प्रकार जीतना? उसे अचानक विचार आया कि रानी के पास दो विद्यायें हैं, उन विद्याओं के सामने प्रद्युम्न खड़ा नहीं रह सकेगा।

महाराज कालसंवर ने तुरन्त ही मन्त्री को बुलाया और कहा कि तू थोड़ी देर मेरे स्थान को संभालकर युद्ध कर। मैं अभी नगर में जाकर रानी से दो विद्यायें लेकर आता हूँ और आकर इसे जीतूँगा। ऐसा कहकर राजा अपने नगर में गया और उसके स्थान पर मन्त्री युद्ध करने लगा।

नगर में पहुँचकर राजा कालसंवर ने महल में जाकर अपनी रानी से रोहिणी और प्रज्ञप्ति नामक दो विद्यायें माँगी और कहा कि मुझे शीघ्र ही वे दोनों विद्यायें दे, जिससे मैं इसी समय शत्रु को मारकर तेरी इच्छा पूर्ण करूँगा।

राजा की बात सुनकर रानी कनकमाला स्त्रीचरित्र बनाकर कपट से रुदन करने लगी। राजा समझ गया कि इस पापिनी ने निश्चित ही विद्या किसी को दे दी है। ऐसा विचार कर पुनः राजा ने कहा कि तू रुदन क्यों कर रही है? मुझे जल्दी विद्या दे दे। तब अधिक जोर से रोते-रोते कपटी कनकमाला बोली—'हे नाथ! उस पापी ने मुझे एक बार नहीं परन्तु अनेक बार ठगा है। वह जब बालक था, तब एक दिन दूध पिलाते हुए मैंने विचार किया कि यह बड़ा होकर अपनी रक्षा करेगा, ऐसा विचारकर मैंने दूध द्वारा दोनों विद्यायें उसे दे दीं। मुझे कहाँ पता था कि वह बड़ा होकर ऐसा पाप आचरण करेगा।'

यह ढोंग देखकर राजा ने उसे दुश्चरित्र जान लिया। वह मन में विचार करने लगा कि अहो! स्त्रियों के चरित्र का वर्णन कौन कर सकता है!! इसने दोनों विद्यायें तो गँवायी ही, साथ ही पुत्र भी गँवा दिया। ऐसी अवस्था में मुझे जीवन से कुछ प्रयोजन नहीं है। अब तो प्रद्युम्न के सन्मुख जाकर शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो जाऊँगा।

इस प्रकार विचार करते हुए राजा महल में से निकलकर रणभूमि में जहाँ प्रद्युम्न था, उसके समीप गया और कहा—'तू पहले बाण चला, क्योंकि एक तो तू बालक है और दूसरा युद्ध विद्या से अपरिचित है।' तब प्रद्युम्न ने कहा—'हे तात! स्त्री की बात में तल्लीन हुए मूर्ख पिता को मैं नहीं मार सकता; इसलिए पहले आप ही बाण चलाओ, जिससे मेरा दोष न रहे।' यह सुनकर कालसंवर ने महादु:खी होकर पुत्र पर बाण चलाया। प्रद्युम्न ने भी उसका सामना किया। परस्पर दोनों में बहुत समय तक युद्ध चला। अन्त में प्रद्युम्न ने नागपाश में पिता को बाँधकर अपनी बगल में रखा और शर्म से मुख नीचा करके बैठ गया।

उसी समय नारदजी आकाश में से नृत्य करते-करते नीचे उतरे और आकर प्रद्युम्न से मिले। उन्होंने जानते होने पर भी पूछा कि यह युद्ध किसलिए हुआ? तब प्रद्युम्न ने प्रारम्भ से अन्त तक की समस्त वार्ता, पिता सुन सके उस प्रकार से कह सुनायी। यह सुनते ही नारदजी ने अपने कान बन्द कर लिये और कहा—'हे वत्स! यह लोक निन्द्य चर्चा अब बन्द कर। वह दुष्टा कुपित होकर अपने से प्रीति करनेवाले अपने पति को, पिता को, पुत्र को, भाई को तथा गुरु को मार डालती है।'

नारदजी की बात सुनकर प्रद्युम्न ने उनसे कहा—'अब मैं पितारहित हो गया हूँ; अब मैं किसके पास जाऊँ? यह कालसंवर महाराज निश्चय ही मेरे पिता हैं और मुझे दूध पिलानेवाली कनकमाला ही मेरी माता है परन्तु उसने ही मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया, अब मैं कहाँ जाऊँ? मैं अनाथ हो गया।'

प्रद्युम्न की बात सुनकर नारदजी कहने लगे—'हे वत्स! तू खेद न कर। द्वारिका के स्वामी श्रीकृष्ण नामक नारायण तेरे पिता हैं और रुक्मणी नाम की जिनकी पटरानी है, वह तेरी माता है। उन्होंने बहुत ही आदर से तुझे लाने के लिये मुझे यहाँ भेजा है; इसलिए अब तू मेरे साथ चल।

नारद के वचनों में श्रद्धा रखकर और उनके ही कहने से प्रद्युम्न ने राजा कालसंवर को नागपाश में से मुक्त किया।

महाराज कालसंवर न तो नारद से कुछ कह सकते थे और न तो प्रद्युम्न से कुछ कह सकते थे। अन्त में दीन और मलिन मुख करके नगर में वापिस चले गये। नगर में

जाकर कनकमाला को कहा—'इसमें तेरा कोई दोष नहीं है। पूर्व में जो कर्म बाँधे हैं; उनका ही फल प्राप्त होता है; इसलिए कर्म के उदय में न तो दु:खी होना चाहिए अथवा न तो सुखी होना चाहिए।'

उसी समय उनके पाँच सौ पुत्र गर्वरहित होकर घर आये, जिन्हें दयालु प्रद्युम्न ने मुक्त किया था।

❖ ❖ ❖

आचार्य कहते हैं कि—**जगत में पापियों की कभी जय नहीं होती, धर्मात्माओं की ही जय होती है; इसलिए भव्य पुरुषों को दूर से ही पाप का त्याग करना चाहिए। जीव को पुण्य के उदय से ही मनुष्य लोक और स्वर्गलोक सम्बन्धी सुख प्राप्त होता है। इसलिए भव्य पुरुषों को निरन्तर धर्म-पुण्य करते रहना चाहिए तथा पाप का सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योंकि ऐसा कौन सा दु:ख है जो पाप से उत्पन्न नहीं होता? अर्थात् समस्त दु:ख पाप के फल से होते हैं।**

❖ ❖ ❖

तत्पश्चात् नारदजी ने प्रद्युम्नकुमार से कहा—'हे वत्स! अब बिना विलम्ब द्वारिकानगरी जाना चाहिए।' तब कृतज्ञ कुमार ने कहा कि—'माता-पिता से पूछे बिना जाना उचित नहीं है। इसलिए आप यहीं रहो, मैं इसी समय नगर में जाकर माता-पिता से पूछकर अभी आपके पास वापिस आता हूँ।' ऐसा कहकर नारदजी को वहीं छोड़कर स्वयं जहाँ कालसंवर और कनकमाला बैठे हुए थे, वहाँ गया और माता-पिता को प्रणाम करके कहा—'हे महाभाग पिता! आप जैसे मानते हो, वैसे मैंने अज्ञानता में जो अनिष्ट कर्म किया है, वह क्षमा करो। क्योंकि जो दीन है, अनाथ है तथा पराधीन है, उस पर सज्जन पुरुष कभी भी कोप नहीं करते। हे नाथ! मैं आपका किंकर हूँ, क्योंकि आपके आधार से ही जीवित रहा हूँ और आज भी जीवित हूँ। इसलिए मुझ पर कृपा करो और मुझे क्षमा प्रदान करो।

हे माता! आप भी मुझ बालक के पापकार्यों को क्षमा करो। अब मैं आप दोनों की आज्ञा से माता-पिता के घर उनसे मिलने जा रहा हूँ; इसलिए मुझे आज्ञा प्रदान करो। मैं बिना आपकी आज्ञा नहीं जाऊँगा। हे पिता! मैं आपका बालक हूँ, इसलिए निरन्तर मेरा स्मरण रखना। वहाँ माता-पिता से मिलकर शीघ्र वापस आ जाऊँगा। हे नाथ! आप मेरे

महल को सर्वथा सुरक्षित रखना। मैं हमेशा के लिये यहीं आकर मिलूँगा। हे माता! तुम्हें भी मुझ पर सदा प्रसन्न दृष्टि रखना चाहिए क्योंकि पुत्र भले कुपुत्र हो जाये, परन्तु माता कभी भी कुमाता नहीं होती! तुम्हें ऐसा विचार करना चाहिए कि मैं तुम्हारे उदर से ही जन्मा हूँ। मैं तुम्हारा ही पुत्र हूँ, इसमें संशय नहीं है।' वे दोनों ने प्रद्युम्न की सभी बातें सुनते रहे किन्तु लज्जावश कुछ उत्तर नहीं दे सके। प्रद्युम्न बारम्बार माता-पिता को नमस्कार करके तथा भाईयों, मन्त्रियों आदि सबसे मिलकर नारदजी के निकट पहुँच गया।

नारदजी के समीप पहुँचकर प्रद्युम्न ने नारदजी से पूछा—'हे तात! यहाँ से द्वारिका कितनी दूर है ?' तब नारद ने कहा—'यह विद्याधरों की भूमि है और द्वारिका तो मनुष्यों की नगरी है, इसलिए बहुत दूर है।'

'मैं अभी ही शीघ्रगामी विमान बनाता हूँ, उसमें बैठकर हम शीघ्रता से द्वारिका पहुँच जायेंगे'—नारदजी ने कहा। ज्यों ही नारदजी द्वारा बनाये गये विमान में बैठने के लिये प्रद्युम्न ने पैर रखा कि तुरन्त विमान टूट गया। तत्पश्चात् प्रद्युम्न ने अपनी विद्या से दूसरा विमान बनाया, जिसमें दोनों बैठ गये और तुरन्त ही द्वारिका जाने के लिये रवाना हो गये। मार्ग में कभी प्रद्युम्नकुमार विमान को बहुत धीरे चलाता, कभी बहुत शीघ्रता से चलाता तो कभी खड़ा रख देता। इन क्रीड़ाओं से व्याकुल होकर नारदजी ने कहा—'बेटा! इन क्रीड़ाओं से मुझे क्यों आकुलित करता है ? तुझे अभी शीघ्रता से घर पहुँचकर अपनी माता से मिलना चाहिए और तेरे माता-पिता ने तेरे लिये बहुत सुन्दर कन्यायें माँग रखी हैं। यदि तू समय पर नहीं पहुँचेगा तो तेरे छोटे भाई का विवाह कर दिया जायेगा।' नारदजी के ऐसे मधुर वचन सुनकर प्रद्युम्न अपने विमान को शीघ्रता से द्वारिका की ओर चलाने लगा।

बहुत मार्ग कट जाने के बाद प्रद्युम्नकुमार ने नीचे पृथ्वी पर एक विशाल सेना देखी। उसने नारदजी से पूछा—'महाराज! यह विशाल सेना किसकी है ?' तब नारदजी ने हँसते हुए कहा कि—'यह दुर्योधन की सेना है। पूर्व में दुर्योधन ने अपने लावण्य से भरपूर उदधि नामक पुत्री का विवाह तुम्हारे साथ करना निश्चित किया था परन्तु बाद में तुम्हारा हरण होने के पश्चात् और कुछ भी पता न लगने से दुर्योधन ने अपनी पुत्री तेरे छोटे भाई को वरण करने के लिये भेजी है, उसके साथ ही यह चतुरंग सेना है।'

नारद के इस प्रकार के वचन सुनकर कुमार ने कहा—'हे तात! मुझे इस सेना को निकट से देखने का बहुत मन है। आप आज्ञा प्रदान करें तो मैं जाकर शीघ्र ही वापिस आता हूँ।' नारदजी ने कहा—'यदि तू वहाँ जाकर कोई चपलता नहीं करता हो तो जा और शीघ्र वापिस आ जा।' कुमार ने प्रणाम किया और विमान को आकाश में ही स्थिर करके स्वयं नीचे उतर गया।

नीचे उतरकर कुमार ने एक भील का रूप धारण किया। उस भील का रूप बहुत ही भयानक था। उसे देखकर दुर्योधन की सेना के सेवक और युवक राजकुमार परिहास करने लगे और कहा कि—'हे पापी! तू सामने से हट जा और मार्ग छोड़ दे, हमें आगे जाना है। हे दुर्मुख! तू बीच में क्यों खड़ा है?'

तब भील ने अत्यन्त क्रोधित होकर कहा—'मैं यहाँ श्रीकृष्ण महाराज की आज्ञा से कर वसूल करके रहता हूँ; इसलिए मुझे कर चुकाकर ही आगे बढ़ सकोगे।'

भील के उत्तर में राजकुमार ने उसे श्रीकृष्ण महाराज का अनुचर जानकर कहा—'हे भाई! तुझे क्या चाहिए? हाथी, घोड़ा, रथ, अनाज इत्यादि सब हमारे पास है। तुझे जो चाहिए वह ले ले और हमें जाने दे।'

भील ने कहा—'मुझे नहीं पता कि तुम्हारी सेना में सर्वोत्तम और सुन्दर वस्तु क्या है? जो सर्वोत्तम वस्तु तुम्हारे पास हो, वह मुझे प्रदान करके फिर आगे जा सकते हो।'

भील की बात सुनकर कुमार हँसने लगे और उन्होंने कहा—'हमारी सेना में तो राजपुत्री उदधिकुमारी सर्वोत्तम है तो क्या तू उसे ले जायेगा?'

भील ने कहा—'यदि राजपुत्री ही तुम्हारी सेना में सर्वोत्तम हो तो वह मुझे प्रदान कर दो और पश्चात् ही आगे जा सकते हो। मेरी सेना तुम्हें मार्ग में मददरूप होगी।'

तब राजकुमार क्रोधित होकर कहने लगे—'हे पापी! तुझे श्रीकृष्ण महाराज ने कहा हो तो भी क्या है, हम तेरे जैसों को राजकुमारी थोड़े ही दे देंगे!' दूसरे राजकुमार क्रोधित होकर बोले—'इसके साथ वार्तालाप करने में समय बर्बाद मत करो। इसे रास्ते में से दूर हटाकर आगे चलो।'

राजकुमारों की बात सुनकर प्रद्युम्न ने विद्या की मदद से बहुत ही विशाल

विकराल भीलों की सेना तैयार कर ली। दोनों सेनाओं के बीच थोड़े समय युद्ध चला। पश्चात् भीलों ने दुर्योधन की सेना को पराजित कर दिया। भील के वेश में प्रद्युम्न ने उदधिकुमारी को दोनों हाथों से पकड़ा और आकाश में उड़ गया और जहाँ नारदजी विमान में बैठे हुए थे, उनके निकट कुमारी को बैठाकर स्वयं नीचे कुरुवंशियों की सेना की हालत देखने लगा।

उदधिकुमारी, नारदजी को देखकर रुदन करने लगी और उसने कहा—'हे पिता! आप मुझे इस भील से बचाओ, मेरी रक्षा करो। अरे! आप ऐसे पापी के संग में कहाँ से आये? या फिर तुम्हें भी इस पापी ने बन्दी बनाया है? आकाश में उड़ने की विद्या ऐसे दुराचारी को कहाँ से प्राप्त हुई?'

राजकुमारी के ऐसे वचन सुनकर नारदजी ने कहा—'हे पुत्री! तू हर्ष के स्थान में व्यर्थ का शोक मत कर। यह कोई भील नहीं है, यह तो रुक्मणी का ही पुत्र है, जिसे देव हरकर ले गया था। वह आज यहाँ तुझे लेने के लिये ही आया है।' ऐसा कहकर नारदजी ने कुमार को अपने मूलस्वरूप में आने के लिये कहा। तब कुमार ने भील का रूप त्यागकर वह अपने मूलरूप में आया। उसका रूप देखकर कुमारी अत्यन्त प्रसन्न हुई और कुमार में आसक्त हो गयी। कुमार भी उदधिकुमारी के रूप में मोहित हो गया परन्तु नारदजी की उपस्थिति के कारण संकोच होने से दोनों शान्त होकर अपने भाव को दबाकर बैठे रहे। विमान में वे नारद मुनि के साथ प्रसन्नता से वहाँ से आगे आकाशमार्ग में गमन करने लगे।

❖ ❖ ❖

थोड़े दूर आगे जाने पर एक विशाल नगरी को देखकर प्रद्युम्न ने नारदजी से पूछा—'हे नाथ! यह कौन सी नगरी है?' नारदजी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'हे वत्स! पृथ्वी में अति प्रसिद्ध यही द्वारिका नामक नगरी है, जहाँ श्रीकृष्ण नारायण निवास कर रहे हैं। इस नगरी का वर्णन करने के लिये मैं इतना ही कह सकता हूँ कि तीन लोक में ऐसी दूसरी कोई नगरी नहीं है।'

नारदजी के मुख से नगरी का वर्णन सुनते ही कुमार को नगरी देखने का मन हो गया

और नारदजी की आज्ञा प्राप्त कर तथा किसी प्रकार की चपलता न करने का वचन देकर, उदधिकुमारी और नारदजी को विमान में बैठाकर तथा आकाशमार्ग में ही विमान को स्थिर करके स्वयं नीचे उतर गया।

द्वारिका की भूमि पर प्रद्युम्नकुमार ने जैसे ही पैर रखा, उसे सूर्य समान भानुकुमार के दर्शन हुए। उसे देखकर आश्चर्यसहित प्रद्युम्नकुमार ने अपनी विद्या से पूछा कि यह कुमार कौन है ? विद्या ने जवाब दिया कि यह भानुकुमार तुम्हारी माता की सौत का पुत्र है। विद्या के वचन सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने शीघ्र ही प्रज्ञप्ति नामक विद्या की सहायता से एक सर्वगुण सम्पन्न घोड़ा बनाया और स्वयं घोड़ा बेचनेवाला वृद्ध बन गया तथा घोड़ा लेकर जहाँ भानुकुमार था, वहाँ गया।

घोड़े को देखकर भानुकुमार प्रसन्न हुआ और पूछने लगा—'यह किसका घोड़ा है और तू इसे कहाँ से लेकर आया है ?' तब घोड़ेवाले ने कहा—'यह मेरा ही घोड़ा है और मैं तुम्हारे लिये ही यहाँ तक लेकर आया हूँ।'

भानुकुमार ने पूछा—'यदि मुझे बेचने के लिये ही घोड़ा लाये हो तो इसका मूल्य मुझे कह दो।' तब घोड़ेवाले ने कहा—'कुमार! इस घोड़े के लिये मैं एक करोड़ स्वर्ण मोहरें लूँगा। इसलिए पहले घोड़े की परीक्षा करके देख लो कि यह घोड़ा इतना मूल्य देने योग्य है या नहीं ?'

भानुकुमार घोड़े की परीक्षा के लिये शीघ्रता से उस घोड़े पर चढ़ गया और कुशलतापूर्वक चलाने लगा। परन्तु अचानक घोड़े ने अपनी गति बहुत बढ़ा ली और भानुकुमार को उछालकर धरती पर पछाड़ दिया। पश्चात् स्वयं शान्त होकर घोड़ेवाले के निकट जाकर खड़ा हो गया।

यह दृश्य देखकर वृद्ध घोड़ावाला बहुत हँसा और उसने कहा—'हे कुमार! मैंने तो तुम्हारी अश्वकला की महिमा सुनी थी, इसलिए यह घोड़ा मैं तुम्हें बेचने के लिये कितनी दूर से आया था परन्तु आज लगता है कि तुम्हें घोड़ा चलाना आता ही नहीं।' घोड़ेवाले की बात सुनकर भानुकुमार अत्यन्त क्रोधित होकर बोला—'हे मूर्ख बुड्ढे! तुझे जब घोड़ा चलाना नहीं आता तो दूसरों की मजाक नहीं की जाती।' तब वृद्ध ने कहा—'तेरी बात

सत्य है, मैं अब वृद्ध हो गया होने से घोड़े पर नहीं चढ़ सकता। यदि तू मुझे अपने साथियों द्वारा घोड़े पर बैठावे तो मैं तुझे मेरा अश्व कौशल बतला सकता हूँ।'

यह सुनकर भानुकुमार ने अपने सुभटों से कहा—'इस अभिमानी बुड्ढे को घोड़े पर बिठला दो, जिससे मैं इसका कौशल देख सकूँ।'

भानुकुमार के सुभट वृद्ध को उठाकर घोड़े पर रखने गये, वहाँ उस वृद्ध ने अपना वजन इतना बढ़ा लिया कि सबके ऊपर गिरा और अपनी कोहनी से सबकी छाती, मुँह आदि तोड़-मरोड़ डाले। थोड़ी देर बाद उस वृद्ध को उठाया तो उस बार भी इसी प्रकार वह सबके ऊपर गिरा। पश्चात् भानुकुमार अपने सुभटोंसहित वृद्ध को उठाने लगा, वहाँ तो पहले की तरह अपना वजन बहुत बढ़ाकर वह सब पर गिर पड़ा। फिर तुरन्त ही भानुकुमार की छाती पर पैर रखकर घोड़े पर चढ़ गया। तत्पश्चात् उसने अश्व चलाने की अपनी समस्त कुशलता सबको दिखाकर घोड़े को आकाशमार्ग में चलाने लगा और तुरन्त ही सबके नजर के सन्मुख घोड़े के साथ अदृश्य हो गया।

❖ ❖ ❖

वहाँ से आगे जाने पर एक बगीचा आया। विद्या द्वारा प्रद्युम्न को ज्ञात हुआ कि यह सत्यभामा का बगीचा है। उसने विद्या द्वारा पाँच, सात दुर्बल घोड़े बनाये और स्वयं घोड़े बेचनेवाले का रूप बनाकर घोड़े को चराने के बहाने बगीचे में गया और जैसे ही रक्षकों का ध्यान हटा, तुरन्त ही बगीचे को रण बना डाला अर्थात् बगीचे में एक भी वृक्ष नहीं रहा और वापिकायें सूख गयीं।

❖ ❖ ❖

वहाँ से आगे जाने पर दूसरा बगीचा आया, वह भी सत्यभामा का ही बगीचा था। प्रद्युम्नकुमार ने विद्या द्वारा एक अत्यन्त भूखा बन्दर बनाया और स्वयं उसके मालिक का रूप धारण किया। बगीचे के निकट जाकर रक्षकों को कहा कि—'हे भाई! मेरे बन्दर को एक फल खाने के लिये दो, यह बहुत भूखा है।' रक्षकों ने फल देने से इनकार किया तो कुमार ने बन्दर को खुला छोड़ दिया। बन्दर तो अन्दर बगीचे में गया और अन्दर जाते ही दूसरे सैकड़ों बन्दर हो गये और उस बगीचे को भी उजाड़ कर डाला।

❖ ❖ ❖

आगे चलकर सत्यभामा की एक सुन्दर वापिका आयी। प्रद्युम्नकुमार ने विद्या के बल से ब्राह्मण का रूप धारण कर उस वापिका का जल अपने कमण्डल में भरकर रख लिया और रक्षक स्त्रियों को ठगकर आगे गमन किया। आगे बाजार में पहुँचते ही वहाँ भी गड़बड़ करने लगा। जवाहरात की दुकान को कौड़ी बेचनेवाला बनाया और कौड़ी के व्यापारी को जवाहरात का व्यापारी बनाया; हलवाई को कपड़ा बेचनेवाला बनाया और कपड़े बेचनेवाले को हलवाई बनाया; हाथी जगह गधेड़ा रखा और गधेड़े की जगह हाथी लाया। इत्यादि प्रकार की चेष्टा करते हुए कुमार आगे बढ़ने लगा।

❖ ❖ ❖

ब्राह्मण का वेश धारण करके आगे जाकर देखता है कि चार रास्तों पर कितने ही माली भानुकुमार के विवाह के लिये फूल की माला बना रहे हैं। ब्राह्मण के रूप में रहे हुए कुमार ने माली से थोड़े फूल माँगे परन्तु माली ने उसमें से एक फूल तो क्या परन्तु फूल की पंखुड़ी भी देने से इनकार कर दिया। तब क्रोधित होकर ब्राह्मण ने एक फूल को हाथ लगाया कि तुरन्त ही वे मन्दर, पारिजात, बकुल, कुमुद, चम्पा, कमल, नागकेशर, जूही इत्यादि के सभी फूल आँकड़े के फूल बन गये।

इस प्रकार अनेक प्रकार के कौतुक करते हुए प्रद्युम्नकुमार आगे बढ़ता गया। मार्ग में एक बड़ा महल आया। विद्या द्वारा कुमार को ज्ञात हुआ कि यह महल श्रीकृष्ण महाराज के पिता अर्थात् अपने दादा वसुदेव का है। कुमार ने विद्या से पूछा कि उन्हें क्या प्रिय है? विद्या ने कहा कि उन्हें भेड़ की लड़ाई देखना बहुत प्रिय है। तब कुमार ने विद्या से एक अतिबलवान भेड़ बनाया और उसे लेकर वासुदेव महाराज की सभा में गया। महाराज को प्रणाम करके खड़ा रहा। अपने दादा को देखकर कुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ। महाराज वासुदेव भी उस युवक पुरुष को भेड़ के साथ देखकर प्रसन्न हुए।

वासुदेव महाराज ने युवक से पूछा कि—'हे वत्स! यह भेड़ किसका है और यहाँ किसलिए लाया गया है?' कुमार ने कहा—'यह भेड़ मेरा है और यहाँ आपके लिये ही लाया गया है। आप भेड़ का युद्ध देखने के शौकीन हैं और आपके समान भेड़ की कसौटी करने में कोई चतुर नहीं है। यह भेड़ बहुत ही बलवान और दुर्जय है।' वासुदेव महाराज

ने कहा—'यदि यह वास्तव में दुर्जय है तो मेरी जाँघ पर टक्कर लगाने के लिये छोड़ दे। यदि यह मेरी जाँघ तोड़ डाले तो समझना कि इसके समान कोई बलवान भेड़ नहीं है।' युवक पुरुष ने महाराज से अभयदान माँगा और फिर भेड़ को महाराज की जाँघ को टक्कर मारने के लिये छोड़ दिया। जाँघ पर भेड़ की टक्कर लगते ही महाराज बेहोश हो गये। सेवक तो उन्हें चन्दन आदि छिड़ककर जागृत करने में लगे, इतनी देर में कुमार वहाँ से भी निकल गया।

❖ ❖ ❖

नगरी को देखते हुए आगे एक महल आया। विद्या ने कहा कि यह सुन्दर महल महारानी सत्यभामा का है। यह सुनकर कुमार ने एक चौदह वर्ष के बालक का रूप धारण किया और अन्दर जाकर महारानी सत्यभामा के निकट गया और भोजन के लिये याचना करने लगा। भानुकुमार के विवाह के लिये जितना भोजन बनाया गया था, वह सब कुमार ने विद्या के बल से क्षणभर में भक्षण कर लिया और वहाँ से भी निकल पड़ा।

थोड़े दूर आगे चलकर देखता है तो दूसरा एक सुन्दर महल आया। विद्या ने कहा कि यह सुन्दर महल तुम्हारी माता रुक्मणी का है। अपनी माता का घर देखकर कुमार बहुत ही प्रसन्न हुआ। कुमार ने उसी समय एक क्षुल्लक का वेश धारण किया। जिसका शरीर दुबला-पतला और कुरूप था, जिसके दाँत बड़े थे, मुख दुर्गन्धयुक्त था, पूरा शरीर कुलक्षणयुक्त था। ऐसा रूप बनाकर कुमार अपनी माता के महल में पहुँच गया।

क्षुल्लक का वेश धारण करनेवाले पुरुष को आते देखकर जिनधर्म में रुचि रखनेवाली रानी रुक्मणी अपने स्थान से खड़ी हो गयी और मस्तक झुकाकर नमस्कार किया। रुक्मणी ने क्षुल्लक महाराज को सिंहासन पर विराजमान किया और स्वयं नीचे बैठ गयी। थोड़े समय तक दोनों ने धर्मचर्चा की। तत्पश्चात् क्षुल्लक महाराज ने कहा—'मैं बहुत दूर से आया हूँ और मुझे भूख लगी है।' रुक्मणी रसोई में भोजन लेने के लिये गयी, परन्तु क्षुल्लक महाराज ने पहले से ही विद्या द्वारा सब भोजन गायब कर दिया था तथा अग्नि को भी स्तम्भित कर दिया था। श्रीकृष्ण के लिये रखे हुए लड्डू, जो वे अकेले ही एक-एक खाते थे, वे दस पड़े हुए थे। रुक्मणी दुविधा में पड़ गयी कि यदि क्षुल्लक महाराज को यह

लड्डू दूँगी तो पाचन नहीं होने से वे मर जायेंगे और यदि नहीं दूँगी तो भूख से मर जायेंगे। इस प्रकार दुविधा होने पर भी अन्त में एक लड्डू दिया। इस प्रकार एक के बाद एक दस लड्डू वे महाराज खा गये। भोजन से सन्तुष्ट होकर रुक्मणी को आशीर्वाद प्रदान किया और बाहर दूसरे आसन पर जाकर विराजमान हो गये।

❖ ❖ ❖

अब, सीमन्धर भगवान ने प्रद्युम्न के आगमन-समय के जो चिह्न बतलाये थे—जैसे कि सूखा हुआ अशोकवृक्ष हरा-भरा हो जाना, मूक व्यक्ति बोलने लगना, कुरूपवान लोग सुन्दर हो जाना, अन्ध लोग सूझते हो जाना—इत्यादि चिह्न देखकर रुक्मणी विचार करने लगी कि इस समय मेरा पुत्र यहाँ आना चाहिए परन्तु पाप के उदय से अभी मुझे दिखायी नहीं देता। उसे विचार आया कि यह क्षुल्लक ही मेरा पुत्र होना चाहिए। यही विद्या के बल से मुझे हैरान करने के लिये रूप बदलकर आया होगा। ऐसा विचारकर उसने क्षुल्लक से कहा कि—'तू क्षुल्लक नहीं लगता। तू नारदजी के साथ आया होना चाहिए, इसलिए तू मेरा पुत्र ही है। अब मुझे अधिक परेशान मत कर।'

यह सुनकर क्षुल्लक के वेश में आये हुए प्रद्युम्न ने कहा कि—'हाँ; मैं ही नारदजी के साथ आया हूँ, मैं ही तेरा पुत्र हूँ परन्तु ऐसा कुरूप पुत्र तो दु:ख का कारण बनता है, इसलिए मुझे रोकना नहीं। मैं अन्यत्र कहीं रहकर जीवन व्यतीत कर लूँगा।'

पुत्र के वचन सुनकर रुक्मणी की आँखों में आँसू भर आये। उसने कहा—'बेटा! मैंने तुझे सोलह वर्ष के बाद देखा है। अब तुझे कहीं जाना नहीं है। तू जैसा है, वैसा मेरा ही पुत्र है! उसमें मुझे दु:खी होने का कोई कारण नहीं है।'

माता के वचन सुनकर प्रद्युम्न ने क्षुल्लक वेश छोड़ दिया और अपने मूलस्वरूप में आ गया। पुत्र का ऐसा कामदेव जैसा रूप देखकर रुक्मणी को सन्तोष नहीं होता था। प्रद्युम्न ने विनयपूर्वक माता के चरणों में प्रणाम किया। रुक्मणी ने उसे तुरन्त ही खड़ा करके छाती से लगा लिया।

रुक्मणी ने कहा—'बेटा! मैं कितनी भाग्यहीन हूँ कि तेरा बालपन मुझे देखने को नहीं मिला।' इस प्रकार माता को दु:खी देखकर प्रद्युम्न ने कहा—'माता! तुझे मेरा बालपन

देखना है न, तो मैं तुझे दिखाऊँगा। मेरे लिये कुछ भी कार्य अशक्य नहीं है। मैं सब ही कर सकता हूँ।' ऐसा कहकर तुरन्त ही स्वयं ने छोटे बालक का रूप धारण कर लिया। जो बोल-चल नहीं सकता था। इस प्रकार थोड़ी देर अपनी बाललीला माता को बतलाकर वापस अपने युवा रूप में आ गया।

रुक्मणी ने कहा—'बेटा! मुझे मेरे अकारण बन्धु नारदजी से मिलना है, वे कहाँ हैं?' तब प्रद्युम्न ने कहा कि—'वे तुम्हारी बहू के साथ विमान में बैठे हैं।' फिर प्रद्युम्न ने, उदधिकुमारी को किस प्रकार प्राप्त किया, वह सब वृत्तान्त कह सुनाया। तत्पश्चात् नगर में जो उपद्रव किये थे, वह सब घटनाक्रम भी माता को बतलाया। तत्पश्चात् कुमार ने अपनी माता से कहा कि मुझे वचन दो कि मैं जो मागूँगा, वह मुझे दोगी। माता ने कहा—'बेटा! बोल न, तुझे क्या चाहिए? जो माँगेगा वह दूँगी।' कुमार ने कहा—'माता! तुम मेरे साथ चलो और विमान में बैठकर नारदजी तथा अपनी पुत्रवधू से मिलो, तब तक मैं मेरे पिताश्री से मिलकर आता हूँ। फिर तुम सबको नीचे लाऊँगा।' माता ने कहा—'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

माता की आज्ञा प्राप्त होते ही प्रद्युम्नकुमार अपनी माता को अपने दोनों हाथों से उठाकर यादवों की राज्यसभा के ऊपर ले गया और बलदेव तथा श्रीकृष्ण के समक्ष कहा—'हे यादवों! हे भोजवंशियों! हे पाण्डवों! यदि तुम सब अच्छे कुल में उत्पन्न हुए हो और यदि तुमने युद्ध में विजय प्राप्त की हो तो सावधान होकर मेरे वचन सुनो। भीष्म राजा की पुत्री और श्रीकृष्णजी की प्रिय साध्वी स्त्री जो कि रुक्मणी के नाम से प्रसिद्ध है, उसे मैं विद्याधर का पुत्र तुम्हारे सामने ले जाता हूँ। यदि मैं अकेला रुक्मणी का हरण करके ले जाऊँ तो फिर तुम सबके जीवन से क्या प्रयोजन है? यदि तुम्हारे में अद्‌भुत शक्ति हों तो मुझसे रुक्मणी को छुड़ा लो। हे उत्तम शूरवीरो! तुम सब इकट्ठे मिलकर प्रयत्न करो। निश्चय समझो कि तुमसे युद्ध किये बिना मैं नहीं जाऊँगा। जब युद्ध में तुम्हें जीत लूँगा, पश्चात् श्रीकृष्णजी की भामिनी को विद्याधर के नगर में ले जाऊँगा। मैं चोर नहीं और चिट अर्थात् व्यभिचारी भी नहीं हूँ।'

प्रद्युम्न के वचन सुनकर शूरवीरों लोगों से भरी हुई यादवों की सभा अचानक

क्षोभित हो गयी। शूरवीरों को बहुत ही क्रोध आया। तुरन्त ही रणभेरी बजायी गयी और युद्ध की तैयारी हो गयी। युद्ध के लिये निकले, तब मार्ग में स्वयं की पराजय सूचक अनेक अपशकुन हुए, तथापि उन्हें नजरंदाज करके शूरवीर योद्धा आगे बढ़ते गये।

इस ओर प्रद्युम्नकुमार ने अपनी माता को विमान में ले जाकर बैठा दिया, जहाँ नारदजी और उदधिकुमारी बैठे हुए थे। तत्पश्चात् उन तीनों को विमान में ही बैठाकर कुमार रण में नीचे उतरे और एक विशाल अचरजकारी सेना तैयार की। श्रीकृष्ण की सेना में योद्धाओं के जो नाम थे, वैसे ही नाम, वैसा ही दिखाव, वैसा ही पहनावा आदि प्रद्युम्न की सेना में भी हो गया।

दोनों की सेना आमने-सामने आ गयी और भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस समय आकाश में से देव कौतुक से यह युद्ध देखने लगे। युद्ध में अनेक सुभट कटकर मर गये, अनेक हाथी कट गये, घोड़ों के पैर कट गये। इत्यादि प्रकार से भयंकर रणसंग्राम हुआ। अन्त में इस महायुद्ध में प्रद्युम्न ने अपनी माया से पाण्डवादि को बलदेवसहित मार डाला। यह देखकर श्रीकृष्णजी अत्यन्त क्रोधित हो गये और हाथी छोड़कर रथ पर सवार होकर युद्ध के लिये आगे बढ़ने लगे। स्त्री और बांधवों के वियोग से उत्तेजित होकर अपने शत्रु को बलपूर्वक नष्ट करने की इच्छा से आगे बढ़े।

जब श्रीकृष्णजी का रथ प्रद्युम्न के रथ के सामने आया, तब आडम्बरसहित शत्रु को देखकर श्रीकृष्ण का हृदय प्रेम से भर गया। इसलिए श्रीकृष्णजी ने शत्रु से कहा—'ऐ विचक्षण शत्रु! मेरे वचन सुन; तू मेरी स्त्री को हरनेवाला, बांधवों को मारनेवाला, तथा दूसरे भी अनेक दुष्ट कर्म करनेवाला है, तथापि क्या करूँ? तुझ पर मेरा अन्तरंग स्नेह बढ़ता जा रहा है; इसलिए तू मेरी गुणवती भार्या को शीघ्र मुझे सौंप दे और मेरे सामने से जीवित कुशलतापूर्वक चला जा।'

यह सुनकर प्रद्युम्नकुमार ने मुस्कराते हुए कहा—'हे सुभट शिरोमणि! यह कहीं स्नेह का अवसर है? यह तो मारने-काटने का अवसर है। मैं तुम्हारे बन्धुओं का घात करनेवाला और तुम्हारी स्त्री का हरता हूँ, उस पर भी तुम्हें स्नेह आता है तो फिर तुम्हारा शत्रु कैसा होगा? यदि तुम युद्ध कर सको ऐसा न हो तो मुझसे कहो कि हे धीर-वीर! मुझे स्त्री की भिक्षा प्रदान करो।'

ऐसे कटाक्षपूर्ण वचन सुनकर श्रीकृष्णजी क्रोध से लाल-पीले हो गये और हाथ में धनुष लेकर शत्रु पर टूट पड़े। दोनों के बीच भयंकर युद्ध होने लगा। दोनों ने एक-दूसरे पर दिव्य अस्त्र चलाये। श्रीकृष्णजी ने चलाये हुए दिव्य अस्त्र यद्यपि अमोघ थे, कभी भी खाली नहीं जाते थे परन्तु ऐसा नियम है कि दिव्य अस्त्र अपने कुल पर कभी काम नहीं करते। उनके अस्त्र खाली जाने से श्रीकृष्णजी आश्चर्यचकित होकर मल्लयुद्ध करने के लिये तैयार हुए।

दोनों को मल्लयुद्ध के लिये तैयार हुआ देखकर विमान में बैठी हुई रुक्मणी ने नारदजी से कहा—'हे तात! अब आप विलम्ब न करें और शीघ्र इन्हें युद्ध करने से रोकें।' रुक्मणी के भेजने से नारदजी तुरन्त ही श्रीकृष्ण और प्रद्युम्न के बीच आकर खड़े हो गये और श्रीकृष्ण से कहा—'हे माधव! आपने इस समय अपने पुत्र के साथ ये कैसा कार्य शुरु किया है? यह वही प्रद्युम्नकुमार अपने पिता से मिलने आया है, जो विद्याधर राजा कालसंवर के घर में बड़ा हुआ है, जिसे सोलह लाभ प्राप्त हुए हैं तथा गुणों का घर है। हे जनार्दन! अपने पुत्र के साथ युद्ध करना आपके लिये योग्य नहीं है।' इसी प्रकार प्रद्युम्न से भी कहा—'हे कामकुमार! तू भी अपने पिता के साथ यह क्या करता है? तुझे भी जगत में पूज्य और स्नेह के गृहस्वरूप पिता के साथ दूसरी चेष्टा छोड़कर पुत्र के लिये जो उत्तम कर्तव्य हो, वह करना चाहिए।'

नारदजी के वचन सुनकर दोनों ने मल्ल की चेष्टा छोड़ दी। श्रीकृष्णजी अपने पुत्र को सोलह वर्ष पश्चात् मिलने से अति प्रसन्न थे परन्तु साथ ही अपने बन्धुओं और सैन्य के नाश से दु:खी भी थे। पिता के भाव प्रद्युम्नकुमार समझ गया। कुमार ने अपने पिता के चरणों में झुककर प्रणाम किया, तब श्रीकृष्ण ने उसे खड़ा करके अपनी छाती से लगाया। दोनों की आँखों में प्रसन्नता के आँसू थे। पश्चात् कुमार ने अपनी विद्या से सम्पूर्ण सैन्य को, निद्रा से जागृत करे उस प्रकार, खड़ा कर दिया। अपने बन्धुओं और सैन्य जीवित देखकर श्रीकृष्ण की प्रसन्नता का पार नहीं रहा, तत्पश्चात् प्रद्युम्नकुमार सबसे यथायोग्य रीति से मिला।

❖ ❖ ❖

जिस समय यहाँ मेल-मिलाप चल रहा था, उसी समय भानुकुमार सेना में से

निकलकर शीघ्र अपने घर आया और आकर प्रद्युम्नकुमार की सब बात की। इतने में ही सत्यभामा के सभी नौकरों ने उसके बगीचे, वापिका, वन आदि के सत्यानाश के समाचार दिये। उदधिकुमारी का हरण सुनकर सत्यभामा और भानुकुमार अत्यन्त दु:खी हुए।

❖ ❖ ❖

इस ओर श्रीकृष्णजी ने कहा—'बेटा! अब तू अपनी माता को यहाँ ले आ।' तब कुमार नीचे देखकर कुछ विचार करने लगा और कुछ भी जवाब नहीं दिया। श्रीकृष्णजी ने पुन: पूछा—'तू अपनी माता को क्यों नहीं लाता? नीचे देखकर क्या विचार करता है?' तब नारदजी ने कहा कि—'हे जर्नादन! संसार में अपनी स्त्री सबको प्रिय होती है। तुमने इसकी माता को लाने को कहा, परन्तु इसकी स्त्री को लाने के लिये नहीं कहा। इसलिए यह विचार करता होगा कि अकेली माता को किस प्रकार लाऊँ?' यह सुनकर श्रीकृष्णजी ने पूछा—'इसे स्त्री कहाँ से मिल गयी? मुझे तो कुछ खबर ही नहीं।' तब नारदजी ने उदधिकुमारी का समस्त वृत्तान्त कह दिया। जिसे सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हुए और कुमार से कहा कि—'हे पुत्र! अपनी माता और स्त्री दोनों को ले आ।'

पिता की आज्ञा मिलते ही प्रद्युम्नकुमार ने विमान को धरती पर उतारा। वह विमान देखकर सभी यादव अत्यन्त प्रसन्न हुए क्योंकि उनके लिये वह अपूर्व वस्तु थी। विमान में रुक्मणी और उदधिकुमारी दोनों बैठे हुए थे। रुक्मणी ने आकाशरूपी आँगन में से वधू के साथ नीचे आकर दोनों ने अत्यन्त विनय से श्रीकृष्ण को नमस्कार किया। श्रीकृष्णजी दोनों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने रुक्मणी को मन्त्रियों के साथ घर जाकर नगरी का शृंगार करने के लिये कहा। रुक्मणी तुरन्त ही नगर में गयी और पुत्र के आने की प्रसन्नता में सम्पूर्ण नगरी को शृंगारित किया गया।

नगरी का शृंगार होने के पश्चात् श्रीकृष्णजी ने अपने पुत्र प्रद्युम्न के साथ नगर में प्रवेश किया। वे नगरी में घूमकर रुक्मणी के महल में पहुँचे। अपने सर्वगुणसम्पन्न पुत्र को आया हुआ देखकर रुक्मणी ने आरती उतारकर मंगल क्रिया की। इस समय प्रद्युम्नकुमार के आने से एक सत्यभामा और दूसरा भानुकुमार—इन दोनों के अतिरिक्त सम्पूर्ण द्वारिकानगरी के लोग उत्सव मना रहे थे। सत्यभामा के यहाँ उत्सव के बदले शोक था।

कितने ही दिनों के बाद श्रीकृष्णजी ने मन्त्रियों को कहा—'हे मन्त्रीवर! अब

प्रद्युम्न का विवाह महा-उत्सव के साथ करना चाहिए।' यह सुनकर कुमार ने कहा—'हे तात! महाराज कालसंवर और रानी कनकमाला की उपस्थिति में ही मैं विवाह करूँगा, वरना नहीं करूँगा। वे मेरे पालन करनेवाले सच्चे माता-पिता हैं।'

कुमार का उचित विचार सुनकर श्रीकृष्णजी ने शीघ्र ही एक दूत को कालसंवर महाराज के निकट भेजा। उस दूत ने महाराज कालसंवर को प्रद्युम्न की प्रतिज्ञा सुना दी। महाराज कालसंवर अपनी रानी के साथ चर्चा करके द्वारिका जाने के लिये तैयार तो हो गये परन्तु उनका मन पूर्व कृत्य के कारण थोड़ा व्याकुल था। अन्त में विशाल सेना के साथ अनेक कन्याओं को लेकर तथा रतिकुमारी को उनके पिता के साथ लेकर वे द्वारिका पहुँचे। उनके आने के समाचार सुनकर श्रीकृष्ण, रुक्मणी और प्रद्युम्न ने सामने जाकर उनकी अगवानी की और महा उत्सव के साथ उनका नगर में प्रवेश कराया।

तत्पश्चात् वन में प्रद्युम्नकुमार का रतिकुमारी और उदधिकुमारी सहित पाँच सौ कन्याओं के साथ विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह सम्पन्न होने के बाद सबने नगर-प्रवेश किया। महाराज कालसंवर और रानी कनकमाला बहुत समय तक द्वारिका में ही रहे। एक दिन महाराज कालसंवर ने हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण से अपने नगर में वापिस जाने की आज्ञा चाही। तब श्रीकृष्णजी ने बन्धुओं तथा रुक्मणीसहित अत्यन्त स्नेहपूर्वक कहा कि—'हे राजन! प्रद्युम्न के सच्चे माता-पिता आप ही हैं, इसलिए उसके विषय में भी आपको जो निर्णय करना हो, वह प्रसन्नता से करना।'

तत्पश्चात् राजा-रानी सहित सभी विद्याधरों को यथायोग्य भेंट प्रदान कर थोड़े दूर तक विदा करने गये। मोहवश प्रद्युम्न थोड़े अधिक आगे तक चला गया। तत्पश्चात् माता-पिता को प्रणाम करके वापस अपनी नगरी द्वारिका में आ गया। प्रद्युम्न ने सुखसागर में मग्न रहते हुए व्यतीत होता हुआ समय नहीं जाना।

तत्पश्चात् सत्यभामा ने भी अनेक उत्तम कुल की कन्याओं की माँग करके, उन्हें बुलाकर भानुकुमार के साथ उनका विवाह किया। भानुकुमार ने भी अपनी स्त्रियों के साथ सुख से व्यतीत होते हुए काल को नहीं जाना।

❖ ❖ ❖

संसार में जो कुछ चिन्तनीय और अमूल्य पदार्थ हैं, वे सब पुण्य से ही प्राप्त होते हैं। स्वजनों से मिलाप होना, चिन्तित, पापरहित तथा उत्तम अर्थ की प्राप्ति होना, रात-दिन देवों और मनुष्यों द्वारा सेवा प्राप्त होना, वह सब पुण्यरूप वृक्ष के फल हैं। धर्म से-पुण्य से अनेक प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं, निर्मल कीर्ति होती है, विवेक प्राप्त होता है तथा पुण्य ही संसार के क्लेश आदि ताप को हरण करने के लिये चन्द्रमा समान सौम्य है; इसलिए हे बुद्धिमानो! जिन भगवान द्वारा कथित अतिशय कल्याणरूप धर्म की उपासना करो।

❖ ❖ ❖

प्रद्युम्नकुमार के पूर्वभव का छोटा भाई कैटभ सोलहवें स्वर्ग में था, जहाँ अनेक देव उसकी सेवा करते थे। एक दिन जब वह अपने विमान में शान्तिपूर्वक बैठा हुआ था, तब उसे सीमन्धर भगवान के दर्शन करने के भाव हुए। वह तुरन्त ही विदेहक्षेत्र में, जहाँ सीमन्धर भगवान समवसरण में विराजमान थे, वहाँ पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने भगवान की दिव्यध्वनि का लाभ लिया। उसे अपने पूर्वभव जानने का विकल्प आया और भगवान की दिव्यवाणी में उसके उत्तररूप से ब्राह्मण के भव से लेकर इन्द्र तक के भवों का वर्णन आया। देवराज को वापस विकल्प हुआ कि पूर्व का मेरा भाई इस समय कहाँ है ? और मेरा उसके साथ मिलाप होगा या नहीं ? उसके उत्तररूप भगवान की वाणी में आया कि तेरा पूर्व का भाई अभी द्वारिकानगरी में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में है। तू भी थोड़े ही काल में श्रीकृष्ण के पुत्र और प्रद्युम्न के छोटे भाई के रूप में जन्म लेगा।

भगवान के मुख से अपने भावी पिता और भाई से मिलने की विगत जानकर वह देवराज द्वारिकानगरी में पहुँचा। वहाँ पहुँचकर सभा में जाकर श्रीकृष्ण को नमस्कार करके अपने जन्म का वृत्तान्त और प्रद्युम्न के साथ पूर्व के सम्बन्ध की बात कहकर एक देवोपुनीत दुर्लभ हार प्रदान करते हुए कहा—'हे महाराज! आप अमुक दिन अमुक समय में महारानी के साथ सहवास करना तथा उस समय यह हार महारानी को प्रदान करना, उसी समय मैं स्वर्ग में से च्युत होकर महारानी के गर्भ में आऊँगा।'

देवराज की बात सुनकर श्रीकृष्ण हर्षित हुए परन्तु उन्हें चिन्ता हुई कि प्रद्युम्न का

छोटा भाई किसके गर्भ में लाऊँ। उन्हें विचार आया कि प्रद्युम्न और सत्यभामा को भारी द्वेष रहता है, इसलिए यदि प्रद्युम्न का छोटा भाई सत्यभामा के गर्भ में आये तो प्रद्युम्न और सत्यभामा के बीच द्वेषभाव मिटकर एक-दूसरे के लिये प्रेम होगा। ऐसा विचार कर उन्होंने स्वर्ग के जीव को सत्यभामा के गर्भ में लाने का निर्णय किया, परन्तु प्रद्युम्नकुमार के भय से यह गुप्त विचार उन्होंने किसी को भी नहीं कहा।

विद्याओं द्वारा भाई के उत्पन्न होने तथा हार आदि की समस्त वार्ता प्रद्युम्नकुमार को ज्ञात हो गयी। वह प्रसन्न होकर एकदम एकान्त में अपनी माता के महल में गया और विनयपूर्वक निवेदन किया कि—'हे माता! मेरा छोटा भाई कैटभ जो सात भव से मेरे साथ भ्रमण कर रहा है, वह अभी सोलहवें स्वर्ग में देवों का इन्द्र है और थोड़े ही दिनों में मेरे पिता श्रीकृष्ण महाराज के पुत्ररूप से जन्म लेनेवाला है। यद्यपि मेरे पिता वह पुत्र, सत्यभामा महारानी को देना चाहते हैं, तथापि यदि ऐसा सर्वगुणसम्पन्न पुत्र प्राप्त करने की तुझे इच्छा हो तो उस पुत्र का मैं तेरे गर्भ में अवतरण करा सकता हूँ।'

पुत्र की बात सुनकर रुक्मणी ने कहा—'बेटा! मुझे तो तू एक ही बस है, क्योंकि तेरे जैसा तू ही है। सूर्य समान कौन हो सकता है ? और वैसे भी यह तेरे अधिकार की बात नहीं है।' माता के वचन सुनकर कुमार ने कहा—हे माता! यह मेरे अधिकार की बात है। जिस समय महाराज सत्यभामा महारानी को बुलायेंगे, उसी समय मैं तुझे कृत्रिम सत्यभामा बनाकर उनके निकट भेज दूँगा।'

रुक्मणी ने कहा—'बेटा! संसार में मुझे एक तू ही पुत्र बस है। यदि तू मेरा पुत्र है तो मैं तुझे कहती हूँ वैसा कर। जाम्बुवती मेरी सौत है, तथापि मुझे प्रिय है। तेरे पिता को उसके साथ बहुत विरोध है। तेरे पिता उसे नहीं चाहते। यदि तू इस देव के जीव का अवतरण उस जाम्बुवती के गर्भ में करा दे तो तेरे पिता और उसका विरोध मिट जायेगा। उत्तम पुरुषों की विभूति पराये के ऊपर उपकार करने में समर्थ होती है, इसलिए जैसे बने वैसे उसके दु:ख का निवारण कर।' 'माता के वचन मानूँगा और निश्चय से तद्नुसार ही कार्य करूँगा'—ऐसा कहकर और माता को नमस्कार करके प्रद्युम्नकुमार, रानी जाम्बुवती के महल में पहुँच गया।

रानी जाम्बुवती के महल में जाकर प्रद्युम्नकुमार ने, अपनी माता को जो बात कही थी, वह सब बात कह थी तथा अपनी विद्या द्वारा रूप बदलने की बात भी बतला दी। यह सुनकर जाम्बुवती को बहुत सन्तोष हुआ। उसने कहा—'बेटा! तू उत्तम है, बुद्धिमान है; तुझे जैसा रुचे वैसा कर।' इस प्रकार स्वीकारोक्तियुक्त उत्तर सुनकर प्रसन्न होकर कुमार अपने महल में चला गया। इस ओर जाम्बुवती उस सुख समय की राह देखते हुए समय व्यतीत करने लगी।

❖ ❖ ❖

देवराज द्वारा कथित दिन आया। श्रीकृष्णजी अपनी पूर्व इच्छानुसार सत्यभामा को आने का निवेदन करके वन क्रीड़ा को गये। इस ओर प्रद्युम्नकुमार ने भी जाम्बूवती के घर जाकर उसका रूप बदलनेवाली देवोपुनीत मुद्रिका प्रदान की, जिसके प्रभाव से जाम्बुवती ने अपना रूप बदलकर सत्यभामा का आश्चर्यकारी रूप बना लिया।

कुमार ने कहा—'हे माता! जिस समय तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जाये, उसी समय तुम्हारा प्रकृतरूप धारण कर लेना।' ऐसा कहकर कुमार ने उसे पालखी में बैठाकर और थोड़े सेवकों के साथ वन में भेज दिया, जहाँ श्रीकृष्ण महाराज विराजमान थे। श्रीकृष्ण महाराज उसे देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे ही सत्यभामा समझकर वह देवोपुनीत हार जाम्बुवती को प्रदान किया और जाम्बुवती को प्रसन्न करके उसके साथ रतिक्रिया की। अपना कार्य सिद्ध हो जाने पर तुरन्त ही जाम्बुवती ने अपना असली रूप धारण कर लिया। उसी समय देव का जीव स्वर्ग में से चयकर जाम्बुवती के गर्भ में आ गया। श्रीकृष्ण जाम्बुवती को देखकर आश्चर्यचकित हुए और समझ गये कि यह सब प्रद्युम्नकुमार ने ही किया है। इसलिए प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण ने सत्यभामा आ जाये उससे पूर्व ही उसे विदा कर दिया।

इधर जाम्बुवती गयी और सत्यभामा आयी। श्रीकृष्ण तो सत्यभामा का इन्तजार करते हुए ही बैठे थे। श्रीकृष्णजी ने थोड़ी देर सत्यभामा के साथ प्रेमालाप किया और फिर सत्यभामा को कोई दूसरा सुन्दर हार प्रदान किया, जिसे देवोपुनीत हार जानकर सत्यभामा ने पहन लिया। रतिक्रीड़ा के अन्त में स्वर्ग में से कोई देव चयकर उसके गर्भ में आया।

सत्यभामा और जाम्बुवती का गर्भ बढ़ने पर जो कुछ इच्छा होती, उसे भानुकुमार और प्रद्युम्नकुमार पूर्ण करते थे। गर्भवास के दिन पूर्ण होने पर दोनों को सुन्दर पुत्र का जन्म हुआ। जाम्बुवती के पुत्र का नाम शम्बूकुमार तथा सत्यभामा के पुत्र का नाम सुभानु रखा गया। उनके साथ ही श्रीकृष्ण महाराज के सारथी को सुदारक नामक पुत्र हुआ, महामन्त्री को बुद्धिसेन नामक पुत्र का जन्म हुआ तथा सेनापति को जयसेन नामक पुत्र हुआ। ये सब बालक एक साथ खेलते-कूदते बड़े हुए और समस्त विद्याओं में पारंगत हो गये।

❖ ❖ ❖

एक दिन की बात है, राज्यसभा भरी हुई थी और उसमें बलदेवजी पाण्डवों के साथ द्युत (जुआ) खेल रहे थे। उस समय दोनों कामकुमार सभा में आये और बड़ों को प्रणाम करके शम्बूकुमार तो प्रद्युम्न के निकट जाकर बैठा और सुभानुकुमार, वह भानुकुमार के नजदीक जाकर बैठ गया। बलदेवजी के आग्रह से तथा दोनों बड़े भाईयों की अनुमति से शम्बूकुमार और सुभानुकुमार भी द्युत खेलने बैठ गये। पहले उन्होंने एक करोड़ मोहरों की बाजी लगायी, उसमें शम्बूकुमार विजित रहा और सुभानु पराजित हो गया। वह एक करोड़ मोहर शम्बूकुमार ने गरीबों को प्रदान की। ऐसे करते-करते धीरे-धीरे सुभानु अपनी माता सत्यभामा के पास जितनी मोहरें थी, वे सब हार गया और शम्बूकुमार ने वे सब जीती हुई मोहरें गरीब लोगों में बाँट दी और स्वयं प्रजा का प्रिय बन गया, अत्यन्त ख्याति प्राप्त की।

शम्बूकुमार के कार्यों से बलदेवजी और पाण्डवों ने आग्रह किया कि कुमार को अब कोई बड़ा कार्य सौंपना चाहिए। श्रीकृष्णजी ने थोड़ी देर विचार कर एक महीने के लिये शम्बूकुमार को राज्य प्रदान किया। दूसरे दिन शम्बूकुमार सम्पूर्ण राजाओं सहित राज्यसभा में आया और आनन्द से सिंहासन पर विराजमान हुआ। बलभद्र, पाण्डव, भानु, सुभानु आदि सबने उसे नमस्कार किया। इस प्रकार वह तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी होकर राज्य करने लगा।

शम्बूकुमार अपने साथ जन्मे हुए मित्रों के साथ दूसरों को अतिशय दुर्लभ ऐसे इन्द्रियजन्य सुख भोगते हुए एक पापकार्य में प्रवृत्त हो गया। अपने मित्रों के साथ कुलीन स्त्रियों के घर में जाता और बलात्कार से उनका शील भंग करता। लोगों को भेजकर स्त्रियों

का अच्छा-बुरा रूप निर्णय कराकर फिर रात्रि में जाकर स्त्रियों का शील भंग करता। इस प्रकार के दुराचरण से नगर में रहनेवाले सब लोग अतिशय दु:खी हो गये। स्त्रियों का शील भंग हुआ, उससे बड़ा दु:ख क्या होगा? अन्त में सब लोग राजमहल में गये और श्रीकृष्णजी से कहा—'हे नाथ! शम्बूकुमार कुलीन स्त्रियों का शील भंग करने लगा है, इसलिए हम द्वारिका छोड़कर अन्यत्र जाकर रहेंगे। और जब आपका राज्य होगा, तब वापस आ जायेंगे। श्रीकृष्णजी ने कहा - हे महाजनों! थोड़े दिन अभी रुक जाओ। जब तक मैं मेरे वचन से दिया हुआ राज्य वापस न प्राप्त कर लूँ, तब तक तुम बहुत बन्दोवस्त से रहो। जब से मैं राज्यसभा में जाने लगूँगा, तब से तुम्हारा कल्याण होगा। आश्वासन के वचन सुनकर लोग अपने घर में अत्यन्त सुरक्षा के साथ रहने लगे।

❖ ❖ ❖

देखो, परिणामों की विचित्रता! जो जीव इसी भव में मोक्ष जानेवाला है, तथा सागरोपम काल तक स्वर्ग में भोग भोगकर आया है, वही जीव, विषय लम्पटी बनकर परायी स्त्री का शील भंग करता है! वही शम्बूकुमार थोड़े ही समय में आत्मस्वरूप की लीनता से आठ कर्मों का नाश करके मुक्तिसुन्दरी के साथ रमण करेगा।

इस प्रसंग से ख्याल आता है कि एक-एक समय के परिणाम कितने निश्चित हैं! सम्यग्दृष्टि जीव होने पर भी जुआ और परस्त्री सेवन जैसे हीन पाप कर बैठता है। सत्य है कि मिथ्यात्व-संसार-कषायभाव जो एक समय की पर्याय है और एक समय का ही जिसका अस्तित्व है, वह जहाँ त्रिकाली ध्रुव का आश्रय करके उसमें लीन हुआ, वहाँ उसका अस्तित्व रहता ही नहीं।

एक समय की पर्याय में पर्याय की अपनी योग्यता से विकार उत्पन्न हुआ था; वह विकार, त्रिकाल द्रव्य का लक्ष्य करते ही नष्ट होकर शुद्धभाव प्रगट हुआ।

इसलिए यदि अपने से कोई भूल हो जाये तो उस भूल को शाश्वत् मानकर हीनता नहीं अनुभव करते हुए, स्वच्छन्दी न होते हुए, उस भूल को भूलकर त्रिकाली द्रव्य का आश्रय लेना तथा दूसरा जीव भी जो पाप / भूल कर बैठे तो उसे भी पापी न समझकर एक समय का भूला हुआ भगवान जानकर करुणा करना।

❖ ❖ ❖

जब एक महीना पूर्ण हो गया, तब श्रीकृष्णजी सभा में आये और अपना राज्य प्राप्त करके शम्बूकुमार से कहा—'हे पापी! तुझे मेरे राज्य में एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए। तू ऐसी जगह चला जा, जहाँ से तेरा नाम भी सुनने को नहीं मिले।' उसी समय शम्बूकुमार नमस्कार करके सभा छोड़कर चला गया।

प्रद्युम्नकुमार ने पिता से पूछा—'हे तात! शम्बूकुमार अब कभी वापस आ सकेगा या नहीं?'

पिता ने कहा—'हाँ, आ सकेगा; यदि सत्यभामा हाथी पर बैठकर उसके सामने जाकर प्रसन्नता से उसे लायेगी तो मेरे सामने आ सकेगा; नहीं तो नहीं।'

शम्बूकुमार राज्यसभा से निकलकर अपनी माता के महल में गया। वहाँ जाकर माता को नमस्कार करके प्रद्युम्नकुमार के आदेशानुसार सत्यभामा के वन में गया। वहाँ जाकर उसने एक युवती स्त्री का रूप बनाया। सर्वांग सुन्दर और नवयौवन स्त्री का रूप बनाकर शम्बूकुमार उस निर्जन वन में बैठा था, तभी सत्यभामा वहाँ पहुँची। सत्यभामा ने उसके निकट जाकर पूछा—'हे बेटी! मुझे बतला कि तू ऐसे निर्जन वन में कैसे बैठी है? तू तो देवकुमारी जैसी सुन्दर कन्या है।'

कन्या ने सत्यभामा से कहा—'हे माता! मैं एक राजकन्या हूँ। मैं अपने मामा के घर रहती थी। वहाँ मुझे तरुण हुई जानकर माता-पिता मेरा विवाह करने के लिये लेने आये थे, वे बहुत बड़ी सेना के साथ एक पालकी में मुझे बैठाकर रात्रि के समय यही रुके थे। रात्रि में सब सो गये थे परन्तु मुझे मामा की याद आ रही थी, इसलिए नींद नहीं आने से मैं पालकी में उतरकर धरती पर सो गयी। अर्द्ध रात्रि में जब पिता ने आराम कर लिया, तब वे पालकी लेकर रवाना हो गये। परन्तु मैं पालकी के बदले नीचे सो रही हूँ, ऐसा नहीं जाना। अब इस निर्जन वन में मैं अकेली रह गयी हूँ। मैं यह भी नहीं जानती की वे किस मार्ग से गये हैं? इसलिए हे माता! लाचार होकर मैं यहाँ पड़ी हूँ। अभी तक मेरा विवाह नहीं हुआ है।'

उस अनुधा अर्थात् कुँवारी कन्या को रूपवती और गुणवती जानकर सत्यभामा उसके निकट बैठ गयी और बोली—'हे पुत्री! यदि तू मेरे पुत्र सुभानुकुमार के साथ विवाह

करे तो मैं तुझे अपने महल में ले जाऊँगी और तेरी बहुत सेवा कराऊँगी।' उसके उत्तर में कन्या ने लज्जित होकर कहा कि—'यह तो निश्चित है कि मेरे पिता भी मुझे कहीं तो देंगे ही, तो फिर आप तो श्रीकृष्ण की पटरानी होने से आपके पुत्र के साथ मेरा विवाह होने में क्या दोष हो सकता है ?' कन्या के वचन सुनकर सत्यभामा उसे अपने महल में ले गयी और उसकी बहुत सेवा कराने लगी।

कुछ समय बाद युक्तिपूर्वक मन्त्रियों को कन्या की याचना कराने के बहाने बाहर भेजा। इसलिए लोगों ने जाना कि सुभानुकुमार के लिये मन्त्री, कन्या की याचना करने गये थे, वे सफलतापूर्वक वापस आये हैं। फिर गुप्त रीति से सत्यभामा ने उस कन्या को नगर के बाहर पहुँचा दिया और स्वयं हाथी पर बैठकर उसे लेने के लिये नगर के बाहर निकली। उस कन्या को अपनी गोद में बैठाकर बड़े उत्सव के साथ चौक में होकर अपने महल में आयी। विवाह का समय हो गया था और सुभानुकुमार तैयार था। दासियों ने कन्या की जो-जो मांगलिक क्रिया हो, वह की। तब तक तो कन्या जैसी थी, वैसी ही रही। जहाँ पाणिग्रहण का समय आया कि कन्या ने विकराल बाघ का रूप धारण कर सुभानुकुमार को पंजे से ऐसा मारा कि वह मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ा। ऐसा कौतुक रचकर व्याघ्र वेषधारी शम्बूकुमार हँसते-हँसते श्रीकृष्ण की सभा में पहुँचा, उसे देखकर श्रीकृष्ण को आश्चर्य हुआ। पश्चात् यह सब प्रद्युम्न की लीला जानकर शम्बूकुमार को आश्वासन देकर बैठाया। इस चरित्र से शम्बूकुमार की माता अति आनन्दित हुई और सत्यभामा दु:खी हुई। सत्यभामा ने एक दूत को अपने पिता के यहाँ सुभानुकुमार के लिये कन्या की याचना के लिये भेजा, जिससे पिता ने सौ सुन्दर कन्यायें भेजीं। सौ कन्यायें प्राप्त कर सुभानुकुमार आनन्दित होकर उनके साथ आनन्द क्रीड़ा करने लगा।

प्रद्युम्नकुमार ने भी शम्बूकुमार के लिये अपने मामा की कन्याओं की याचना की। जो अति सुन्दर थी, परन्तु मामा ने कन्यायें देने से इनकार कर दिया; फलस्वरूप प्रद्युम्नकुमार ने अपनी विद्या के बल से मामा की सभी कन्याओं का हरण कर लिया। मन्त्रियों के समझाने से रुप्यकुमार ने युद्ध नहीं किया। द्वारिका में वापिस आकर प्रद्युम्नकुमार ने उन दो सौ कन्याओं का विवाह शम्बूकुमार के साथ महान उत्सवपूर्वक सम्पन्न किया।

थोड़े समय पश्चात् प्रद्युम्नकुमार को उनकी रति नामक स्त्री से अनिरुद्ध नामक पुत्र हुआ और शम्बुकुमार को भी सौ पुत्र हुए। वे सब साथ में क्रीड़ा करते हुए युवा हुए और सर्व विद्याओं के पारगामी भी हो गये।

❖ ❖ ❖

हे भव्यजनों! तुम्हें इन सब सुखों को पुण्य का फल समझकर पापकार्य छोड़ देना चाहिए और पुण्य का संग्रह करना चाहिए। तीन लोक में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो पुण्य से प्राप्त न हो सकता हो तथा पाप से कोई ऐसा दुःख नहीं जो भोगना न पड़ता हो! ऐसे लोग पाप करने से अपना पेट भरने के लिये ही रात-दिन चिन्तित रहते हैं, वस्त्र और भोजन बिना धरती पर पड़े रहते हैं, शरीर छिल जाता है, दूसरों के घर नौकरी करनी पड़ती है, रूप-लावण्यरहित होते हैं, दीन होते हैं, शीत-उष्ण सहन करते हैं और जगह-जगह तिरस्कार पाते हैं। धर्म से सुख, निर्मलता, सज्जनता और सौम्यता प्राप्त होती है, ऐसा जानकर भव्यजीवों को निरन्तर जिनधर्म का सेवन करना चाहिए।

❖ ❖ ❖

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण नारायण ने विद्याधर और मनुष्य जिसकी सेवा करते थे, ऐसे जरासंध को युद्ध में मार दिया और सुदर्शन चक्र प्राप्त कर निष्कटंक राज्य करने लगे। कौरव-पाण्डवों का युद्ध भी हो गया, जिसमें कौरवों का क्षय हो गया।*

❖ ❖ ❖

एक दिन श्रीकृष्णजी, बलदेव और प्रद्युम्नकुमार के साथ सभा में विराजमान थे। इतने में कुमार नेमिनाथ अपने मित्रों के साथ सभा में आ पहुँचे। भगवान की भक्ति करनेवाले सब खड़े हो गये। श्रीकृष्णजी ने उन्हें अपने एकदम निकट उत्कृष्ट सिंहासन प्रदान किया। जब सब बैठ गये तब शूरवीरों के बल की चर्चा होने लगी।

किसी ने कहा—महाराज वसुदेव बलवान है, किसी ने कहा कि बलदेवजी बलवान हैं, किसी ने प्रद्युम्न और किसी ने भानुकुमार तो किसी ने पाण्डवों का नाम लिया, किसी ने कहा कि महाराज श्रीकृष्ण के समान बलवान न कोई है और न कोई होगा।

** कौरव-पाण्डवों के युद्ध का एवं उक्त घटनाचक्र का विस्तृत वर्णन पाण्डवपुराण अर्थात् जैन महाभारत में उपलब्ध है। विशेष जिज्ञासावान जीवों को पाण्डवपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर अपनी जिज्ञासा शान्त करनी चाहिए।*

सबकी बात सुनकर बलदेवजी बोले—'अरे! तुम दूसरे शूरवीरों की क्या बात करते हो? जहाँ श्री नेमिकुमार स्वयं विराजमान हैं, वहाँ दूसरों की बात योग्य नहीं है। मेरुपर्वत और सरसों के दाने में जितना अन्तर होता है, उतना ही श्री नेमिकुमार और दूसरे शूरवीरों में है। जब संसार में उनके समान दूसरा शूरवीर है ही नहीं तो फिर मैं, श्रीकृष्ण या दूसरे सुभटों की क्या गिनती!' जब बलदेवजी इस प्रकार प्रशंसा कर रहे थे, तब श्री नेमिकुमार निर्मानता से नीचे देख रहे थे।

उस समय श्रीकृष्णजी ने हँसते-हँसते श्री नेमिकुमार से कहा कि—'भाई! चलो, अपन यहीं मल्लयुद्ध करते हैं।' ऐसा कहकर श्री कृष्णजी तैयार हो गये। श्री नेमिकुमार ने कहा—'यह कार्य सज्जनों को योग्य नहीं है। हाँ, यह मेरा पैर सिंहासन पर रखा हुआ है, उसे तुम यहाँ से हटा दो।' नेमिकुमार के यह वचन सुनकर श्रीकृष्णजी कमर कसकर एकदम खड़े हुए और वेगपूर्वक सम्पूर्ण शक्ति लगाकर उन वीर शिरोमणि का पैर हटाने लगे, परन्तु पैर जरा भी नहीं हटा, तब बलवान श्रीकृष्णजी ने पुनः बहुत शक्ति लगाकर मेहनत की परन्तु उस समय भी रंचमात्र भी पैर नहीं हटा, तब श्रीकृष्णजी बहुत व्याकुल हो गये।

भाई को व्याकुल हुए देखकर श्री नेमिकुमार ने कहा—'हे जनार्दन! पैर को जाने दो, यह मेरे बायें हाथ की बीच की अंगुली को सीधा करो।' तब फिर से श्रीकृष्ण अपनी सारी शक्ति लगाकर, दोनों हाथ से उस अंगुली पर लटक गये परन्तु कुछ भी फल नहीं मिला। नेमिकुमार ने विनोद से हाथ ऊँचा करके उन्हें हवा में लटका दिया। श्रीकृष्णजी को उस समय क्रोध तो बहुत आया था परन्तु क्रोध को छुपाकर उन्होंने अपने भाई की शक्ति की महिमा की। तत्पश्चात् सब अपने-अपने महल में चले गये।

अपने महल में आने के बाद भी श्रीकृष्ण के मन को चैन नहीं आया। उन्हें भय लगने लगा कि श्री नेमिकुमार बहुत बलवान हैं, इसलिए वे अपना राज्य छीन लेंगे। इस कारण उन्होंने अपनी चिन्ता अपने बड़े भाई बलदेव से कही। बलदेव ने कहा—'अरे भाई! तू व्यर्थ चिन्ता करता है। श्री नेमिकुमार तो वैरागी हैं। यदि उन्हें राज्य चाहिए होता तो कभी का ले लिया होता, इसलिए निश्चिन्त हो।' इतना कहने पर भी जब श्रीकृष्णजी

को चिन्तित देखा, तब एक निमित्तज्ञानी को बुलाकर एकान्त में श्री नेमिकुमार का सम्पूर्ण वृत्तान्त पूछा। निमित्तज्ञानी ने कहा—'हे नारायण! आप व्यर्थ चिन्ता मत करो। श्री नेमिकुमार राज्य नहीं करेंगे; वे शीघ्र दीक्षा ले लेंगे। जीवों का विनाश देखकर राज्य-त्याग देंगे और गिरनार पर्वत पर जाकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। इसमें सन्देह नहीं है।

❖ ❖ ❖

कालक्रम के अविरल प्रवाह में बसन्तऋतु का आगमन हुआ। यह सुहावना मौसम आते ही श्रीकृष्णजी वनक्रीड़ा के लिये वन में जाने हेतु उत्सुक हुए। पहले वे अपनी रानियों के पास गये और श्री नेमिकुमार के विषय में कुछ समझाकर फिर वन में जाने के लिये निकल पड़े। उनके जाने के बाद सत्यभामा, रुक्मणी, जाम्बुवती आदि रानियाँ श्री नेमिकुमार के समीप गयीं और कहा—'हे जिनराज! उठो, इस बसन्त के समय में आपके भाई तो कभी के वनक्रीड़ा करने के लिये निकल गये हैं, आपको भी चलना चाहिए।'

वैरागी श्री नेमिकुमार ने कहा—'वहाँ मेरा जाना उचित नहीं है, आप जायें।' परन्तु भाभियों ने उनकी बात नहीं मानी और बलजोरी से उन्हें वनक्रीड़ा हेतु ले गयीं।

श्रीकृष्णजी उस वन में पहले से ही पहुँच गये थे। श्री नेमिकुमार के आने का समय जानकर अपनी गोपियों को भी जिनकुमार के विषय में कुछ समझाकर स्वयं दूसरे वन में चले गये। उनके चले जाने के बाद गोपियों ने जिनकुमार के साथ बहुत समय तक मनोहर क्रीड़ा की और उनकी भाभियों ने भी पति के कहने से जिनकुमार के साथ जलक्रीड़ा की, परन्तु वैरागी जिनकुमार को उसमें कहीं रुचि नहीं थी। वे वापिका से बाहर आये और अपनी भींगी हुई धोती उतारकर जाम्बुवती से कहा—'हे देवी! मेरी इस धोती को निचोड़ दो।' यह सुनकर जाम्बुवती बहुत ही नाराज हुई, उसने कहा—'आपको मुझे ऐसी आज्ञा नहीं करना चाहिए क्योंकि मैं श्रीकृष्ण महाराज की रानी हूँ, जो तीन खण्ड के स्वामी हैं, जिन्होंने सुदर्शन नामक चक्र हाथ से चलाया है, जिन्होंने सारंग नामक धनुष को खींचकर गोलाकार किया है तथा नागशैय्या पर आरुढ़ होकर पांचजन्य नामक शंख बजाया है। यदि आपको ऐसा आदेश करने की इच्छा रहती हो तो किसी उत्तम कन्या की याचना करके विवाह क्यों नहीं कर लेते?'

जाम्बुवती के ऐसे उद्धताई वचन सुनकर श्री नेमिकुमार बहुत नाराज हुए। रुक्मणी ने उन्हें रोककर कहा—'अरी दुष्टनी ! ऐसा मत बोल। तीन लोक में इनके समान कोई बलवान नहीं है।' ऐसा कहकर रुक्मणी ने वह धोती स्वयं निचोड़ दी, तथापि नेमिकुमार तुरन्त ही आयुधशाला में पहुँचे, चक्र और धनुष लेकर नागशैय्या पर चढ़ गये। तत्पश्चात् उन्होंने चक्र चलाकर, धनुष को खींचकर गोलाकार करके, तथा सर्पों का मर्दन करके अपने नाक से शंख बजाया। शंख की प्रचण्ड आवाज सुनकर श्रीकृष्णजी दौड़ते हुए आये और श्री नेमिकुमार को उक्त अवस्था में देखकर कहा—हे जिनेश्वर ! आपने स्त्री के वाक्य से प्रेरित होकर यह क्या करना चालू कर दिया है ?' पश्चात् वहाँ से उन्हें खड़े करके अपने महल में ले जाकर भले प्रकार भोजनादि से सन्तुष्ट किया।

तत्पश्चात् श्रीकृष्णजी विचार करने लगे कि अब क्या करना चाहिए ? बहुत समय विचार करके श्रीकृष्णजी, माता शिवादेवी के महल में गये। उन्हें प्रणाम करके विनयपूर्वक बोले—'हे माता ! श्री नेमिकुमार युवा हो गये हैं, विवाह के योग्य हो गये हैं, तथापि आप उनका विवाह क्यों नहीं करते ? इसका क्या कारण है ?'

माता शिवादेवी ने कहा—'हे जनार्दन ! हमारे वंश में तो तू ही प्रधान है, अत: इस विषय में मुझसे क्या पूछता है ? यह सब कर्तव्य तो तेरा ही है।' यह सुनकर माता को प्रणाम करके नारायण अपने महल में वापिस आ गये। इस विषय में पहले बलदेवजी से विचारणा करने के बाद महाराज उग्रसेन के यहाँ जाकर उनकी पुत्री राजुल की याचना की। तत्पश्चात् वे अपने नगर में वापिस आये और श्री नेमिकुमार के विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ करा दीं। उस समय उन्होंने समस्त यदुवंशी और भोजवंशी राजाओं को बुलाया, जो अपनी-अपनी स्त्रियोंसहित द्वारिकानगरी आ पहुँचे।

❖ ❖ ❖

राजा उग्रसेन ने भी जूनागढ़ में अपनी पुत्री राजुल के विवाह की पूर्ण तैयारी कर दी। उग्रसेन राजा ने वर को लाने के लिये उत्तम-उत्तम सवारियाँ लेकर अपने बहुत से सेवकों को उत्तम आभूषणों से सजाकर भेजा। सेवक द्वारिका आ पहुँचे, जहाँ उनका बहुत स्वागत किया गया। शिवादेवी, देवकी, रोहिणी, सत्यभामा, रुक्मणी आदि सभी रानियों ने द्वारिका

में ही समस्त मंगल विधान किये अर्थात् वे बारात के साथ नहीं गयीं। जिस समय कुमार की मंगल आरती उतारी जा रही थी, उस समय शिवादेवी की ओढ़नी दीपक की ज्योति से झुलस गयी, वह मानो कि सबको कहती हो कि यह उत्सव मत करो अर्थात् बारात मत ले जाओ। तत्पश्चात् बारात जूनागढ़ की ओर गमन करने लगी। वर के साथ समुद्रविजय, वसुदेव, बलदेव, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, भानु, सुभानु आदि अनेक राजा चलने लगे। मार्ग में एक ओर अनेक पशु बँधे हुए थे, वे अतिशय दीनतायुक्त करुण पुकार कर रहे थे। नेमिकुमार ने उनकी करुण पुकार सुनी। जीवों की पुकार सुनकर दयामूर्ति नेमिकुमार ने सारथी से पूछा—'हे सारथी! यह जीवों को समूह क्यों बाँध रखा है?' सारथी ने कहा—'हे नाथ! यादववंशी तथा अन्य राजा-महाराजा तो अभक्ष्य का सेवन नहीं करते परन्तु कितने ही भील आदि नीच कुल के विवाह में आये हैं, उनके लिये रक्षकों द्वारा ये सभी प्राणी बाँधे गये हैं।'

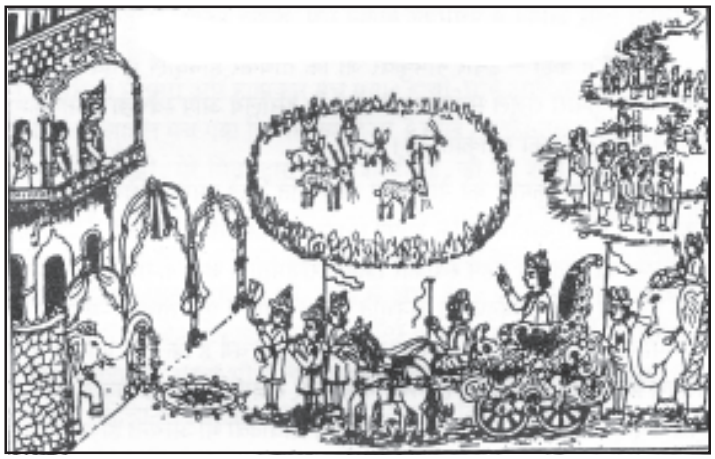

सारथी के वाक्य सुनते ही नेमिकुमार ने तुरन्त सभी प्राणियों को बँधनमुक्त कर दिया। वे मन में वैराग्य का चिन्तवन करने लगे। वे विचार करने लगे कि—**यह गृहबन्धन -गृहस्थमार्ग पाप का कारण है। इन जीवों का घात करनेवाले दुष्ट लोग इस हिंसाकर्म से नरक में पड़ेंगे, जहाँ बहुत ही भारी वेदना होती है। इन बेचारे निरपराधी जीवों को, जो कि जंगलों में रहते हैं और घास खाकर जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हें ये लोग क्यों मारते हैं? जो शूरवीर अपने को पैर में काँटा न लग जाये, इस भय से जूते पहनते हैं, वे ही पापी दयारहित होकर इन जीवों को किस प्रकार मारते हैं? इस उत्सव से जान लिया कि विवाह का फल संसार बढ़ानेवाला है। पापों का आरम्भ करनेवाले इस असार संसार को धिक्कार है।**

इस प्रकार वे वैराग्यरूप चिन्तवन कर रहे थे, उसी समय लोकान्तिकदेव आये और प्रभु की वैराग्य भावना की अनुमोदना करके उसमें वृद्धि की। लोकान्तिकदेवों सहित प्रभु द्वारिका पहुँच गये।

श्रीकृष्णजी ने भगवान को बहुत मनाया और कहा कि आप विवाह कर लें। माता-पिता ने भी बहुत समझाया परन्तु कुछ फल नहीं आया। भगवान उन सबको सम्बोधन करके सिंहासन पर विराजमान हो गये। भगवान के वैराग्य से सौधर्म इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। इन्द्र ने अवधिज्ञान से भगवान के वैराग्य का प्रसंग जानकर तुरन्त ही भगवान के पास पहुँच गये। उन्होंने महा उत्सव के साथ भगवान का अभिषेक किया, सुगन्धित मलियागिर चन्दन का विलेपन किया, कल्पवृक्षों के फूलों से पूजा की और स्तुति करने के बाद, सोलह प्रकार के आभरणों से शोभायमान श्री जिनभगवान स्वयं चलकर पालकी में विराजमान हुए। उस पालकी को लेकर प्रथम सात कदम राजा चले और तत्पश्चात् देव आकाशमार्ग से ले गये। द्वारिका के लोग, भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओं भी पालकी के पीछे रैवतकपर्वत अर्थात् गिरनारपर्वत की ओर चले। इस ओर जब राजुल को यह समाचार ज्ञात हुए तो वह भी कदम-कदम पर आक्रन्दन करती हुई - विलाप करती हुई पीछे-पीछे चल दी।

❖ ❖ ❖

गिरनारपर्वत पर पहुँचकर सहस्त्राम्रवन में जाकर भगवान ने महान कार्य किया अर्थात् मस्तक के समस्त केश पाँच मुष्ठी से लोंच करके उखाड़ दिये और 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर सम्पूर्ण आभरण आदि का परित्याग कर नग्न-दिगम्बर जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। (तीर्थंकर के जीव को कोई दीक्षा गुरु नहीं होते, इसलिए वे स्वयं ही दीक्षा लेते हैं, यह नियम है) उस समय सुर-असुर धन्य... धन्य... करके स्तुति करने लगे। नेमि मुनिश्वर तो अपने ध्यान में लीन हो गये। उनके साथ एक हजार राजाओं ने भी दीक्षा अंगीकार की। भगवान के केश, इन्द्र ने क्षीरसागर में बहा दिये। इस प्रकार तीसरा तपकल्याणक मनाकर इन्द्र स्वर्ग में चला गया।

❖ ❖ ❖

मुनिराज नेमिकुमार ने तीसरे दिन ध्यान छोड़कर, द्वारिका में आकर ब्रह्मदत्त के यहाँ पारणा किया। खीर के भोजन से विधिपूर्वक पारणा हो जाने पर देवों ने ब्रह्मदत्त के घर में पंचाश्चर्य की वर्षा की। तत्पश्चात् भगवान वापस रैवतकपर्वत पर आये और चार घातियाकर्मों का क्षय करने के लिये ध्यान लगाकर विराजमान हो गये।

❖ ❖ ❖

इस ओर विलाप करती हुई और नेमिकुमार का ध्यान करती हुई राजुल वापस अपने घर की ओर मुड़ी। जब उसने देखा कि भगवान दीक्षित हो गये हैं, तब उसने भी संयम अंगीकार करने का दृढ़ निर्णय कर लिया। घर में आने पर उसके पिता ने समझाया—'बेटी! अब तू दु:खी मत हो। मैं किसी दूसरे राजा के साथ तेरा विवाह करा दूँगा।' तब राजुल ने कहा—'पिताजी! मैं नेमिकुमार को छोड़कर दूसरे समस्त राजाओं को आपके समान गिनती हूँ। नेमिकुमार के अतिरिक्त मेरा कोई पति नहीं हो सकता।' यह सुनकर राजा उग्रसेन दु:खी हो गये। राजुल भी नेमिनाथ का ध्यान करते हुए दिन व्यतीत करने लगी।

❖ ❖ ❖

इस ओर मुनिवर नेमिनाथ ने आत्मा का आत्मा में ध्यान लगाकर क्षपकश्रेणी पर आरुढ़ होकर चार घातिकर्मों का नाश करके लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रगट कर लिया। मुनिराज को ध्यान में लीन होने के बाद छप्पन दिन में केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान होते ही इन्द्र का इन्द्रासन कम्पायमान हुआ। उसने अवधिज्ञान से भगवान को केवलज्ञान हुआ जानकर सात कदम चलकर परोक्ष प्रणाम किया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने भव्य समवसरण की रचना की।

भगवान के केवलज्ञान के समाचार सुनकर द्वारिका से तथा जूनागढ़ से भी भव्य जीव समवसरण में आ पहुँचे। राजुल भी पाँच हजार स्त्रियों के साथ समवसरण में आकर भगवान को नमस्कार करके दीक्षित

हो गयी और समस्त आर्यिकाओं में प्रमुख बन गयी। तत्पश्चात् श्री वरदत्त गणधर के प्रश्न पूछने से जिनभगवान की मधुर वाणी खिरी। जिसमें चार अनुयोग, बारह अंग, रत्नत्रय और सात तत्त्वों का स्वरूप तथा उनका सार आया। वाणीरूपी अमृत को पीकर भव्य जीव धन्य बने। तत्पश्चात् भगवान ने बहुत देशों में विहार किया। जहाँ-जहाँ भगवान का समवसरण लगता था, वहाँ-वहाँ भगवान कल्याणकारी उपदेश देते थे। समस्त देशों में विहार करके भगवान वापस रैवतकपर्वत पर पधारे।

भगवान के समवसरणसहित पधारने के समाचार सुनकर श्रीकृष्ण नारायण तथा दूसरे राजा दिव्यध्वनि-तत्त्व का स्वरूप सुनने के लिये पहुँच गये। भगवान के मुख से ६३ श्लाका पुरुषों का वर्णन सुनकर सभी जीवों के चित्त पर वैराग्य छा गया। उस समय समवसरण में श्रीकृष्ण के भाई गजसुकुमार भी थे। उन्हें ऐसा वैराग्य हुआ कि तत्काल भगवान के निकट जिनदीक्षा अंगीकार कर ली और श्मशान में आत्मध्यान करने के लिये चले गये।

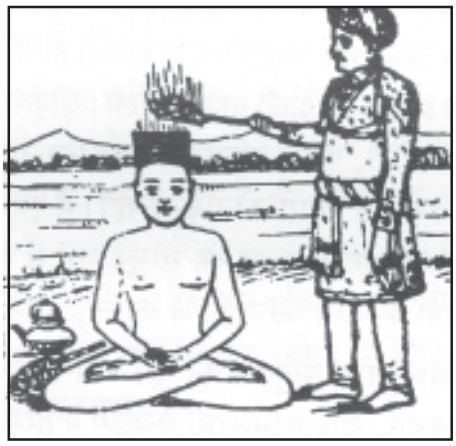

जब गजसुकुमार के ससुर ब्राह्मण सोमशर्मा को ज्ञात हुआ कि गजसुकुमार ने दीक्षा अंगीकार कर ली है, तब वह उनके निकट गया और गज मुनिराज को समझाने लगा कि—'आप दीक्षा का परित्याग कर दें।' उस समय गजसुकुमार तो अपने ध्यान में लीन हो गये थे। सोमशर्मा को उसकी पुत्री के मोह ने अन्ध कर दिया। अपनी बात नहीं मानने से सोमशर्मा को बहुत क्रोध आया; इसलिए उसने मुनिराज के सिर पर मिट्टी की पाल बाँधकर सिगड़ी बनाकर उसमें सुलगते हुए अंगारे / कोयले डाल दिये परन्तु मुनिराज तो अपने ध्यान में मस्त थे। उन्हें शरीर में उपयोग ही नहीं होने से अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

❖ ❖ ❖

गजसुकुमार मुनिश्वर को केवलज्ञान होने पर नेमिनाथ भगवान के समवसरण में से

देव जयध्वनि करते हुए चलने लगे। यह देखकर श्रीकृष्णजी ने भगवान से पूछा—'हे भगवन! अचानक ये सब देव कहाँ जा रहे हैं ?' तब भगवान की वाणी में आया कि श्री गजसुकुमार मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है, इसलिए सभी देव वहाँ जा रहे हैं। यह उत्तर सुनकर सबको महान आश्चर्य हुआ। श्रीकृष्ण भी विचार करने लगे कि यह संसार असार है, क्योंकि जितने शलाका पुरुष हैं, उन्हें नष्ट होते सुना है।

तत्पश्चात् बलभद्रजी ने पूछा—'हे नाथ! जो पदार्थ अनादि है, वह तो अकृत्रिम है; इसलिए उसका कभी नाश नहीं होता परन्तु जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनका अवश्य नाश होता है। इसलिए द्वारिका का नाश कब और किस प्रकार होगा ? तथा श्रीकृष्ण की मृत्यु किस प्रकार होगी ?' उत्तर में नेमिनाथ भगवान ने कहा कि—'यह द्वारिकानगरी बारह वर्ष के पश्चात् द्विपायन मुनि के क्रोध से नष्ट होगी तथा मद्य (शराब), निमित्त होगी। कौशाम्बी वन में सोये हुए श्रीकृष्ण का जरतकुमार के बाण से मृत्यु होगी। यह सुनकर सभी लोग आकुलित हो गये। कितने ही लोग नगर छोड़कर चले गये और कितने ही लोगों ने वैराग्य से जिनदीक्षा अंगीकार कर ली।

अपने निमित्त से द्वारिका का नाश न हो, इसलिए द्विपायन मुनि ऊपरी वैराग्य से विदेश की ओर गमन कर गये परन्तु जो होनेवाला है, वही भगवान ने देखा है और वही भगवान ने कहा है, उसे टालने अथवा बदलने के लिये इन्द्र, नरेन्द्र या स्वयं जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं। जरतकुमार भी, अपने हाथ से तीन खण्ड के स्वामी अपने भाई की मृत्यु न हो, इसलिए नगर छोड़कर जंगल में चला गया। सबने उसे बहुत रोका परन्तु उसने किसी की बात नहीं मानी।

❖ ❖ ❖

यहाँ विचारणीय बात यह है कि क्या द्विपायन मुनि को तथा जरतकुमार को सर्वज्ञ की वाणी में श्रद्धा नहीं थी ? यदि श्रद्धा थी तो द्वारिका का नाश होने से रोकने के लिये द्विपायन मुनि दूर देशान्तर में क्यों चले गये ? और श्रीकृष्ण की मृत्यु का निमित्त न बनने के लिये जरतकुमार ने राज्य का परित्याग क्यों कर दिया ? और यदि श्रद्धा नहीं थी तो फिर स्वयं जहाँ थे, जैसे थे, वहाँ क्यों नहीं रहे ?

अरे भाई! इन दोनों को भगवान की वाणी में पक्की श्रद्धा थी। उन्हें पूरी-पूरी श्रद्धा थी कि भगवान ने जो कहा है, वह उन्होंने केवलज्ञान में वर्तमानवत् देखा है और वर्तमानवत् परिणमता जो देखा है, वही दिव्यध्वनि में आया है। इतनी श्रद्धा होने पर भी उन दोनों ने अपने मोहवश 'ऐसा न होवे तो अच्छा' ऐसे भाव से यह प्रवृत्ति की थी। दूर देशों में जाकर रहना और राज्य छोड़ना, यह उनके मोहजन्य विकल्प का कार्य था और ऐसा विकल्प इसीलिए आया था कि 'सर्वज्ञ ने देखा है, वैसा ही होगा' ऐसी दृढ़ श्रद्धा थी। नहीं तो—अर्थात् श्रद्धा नहीं होती तो—ऐसा विकल्प ही नहीं करते! जहाँ जैसे थे, वहाँ वैसे ही रहते!

इस प्रसंग से एक दूसरी बात यह बहुत स्पष्ट होती है कि 'भगवान ने देखा है, वैसा ही होगा परन्तु अपने को कहाँ पता है कि क्या देखा है? इसलिए अपने को तो पुरुषार्थ ही करना है न!' ऐसे सन्देह का इस प्रसंग में हल समाहित है कि भगवान ने क्या देखा है, यह जानने के बाद भी वह कार्य होकर ही रहे, वैसा पुरुषार्थ होने का अर्थात् भगवान ने जो देखा है, वह जानकर यदि वे दोनों वैराग्य से जहाँ थे वहाँ वैसे ही रहे होते तो? तो न द्वारिका जलती या न श्रीकृष्ण की मृत्यु होती! परन्तु भगवान ने क्या देखा है, यह जानकर भी उन्होंने ऐसा ही प्रयत्न किया जिससे वे कार्य होकर ही रहे। अर्थात् भविष्य की कौन सी पर्याय होनेवाली है, उसका वर्तमान में जानपना हो या न हो परन्तु जीव की क्रमबद्धतानुसार ही जीव का पुरुषार्थ होता है, भले अज्ञान से जीव ऐसा भ्रम में रहता है कि मैं अपनी इच्छानुसार पुरुषार्थ कर सकता हूँ।

'जीव की जैसी भवितव्यता अर्थात् पर्याय की क्रमबद्धता होती है, वैसी ही उसकी बुद्धि होती है और वह व्यवसाय अर्थात् पुरुषार्थ भी वैसा ही करता है और उसे सहायक अथवा निमित्त भी वैसे ही मिल जाते हैं।'

इसीलिए कहा है कि

जब जिसका जिसमें जिस थल में जिस विधि से होना जो कार्य,
तब उसका उसमें उस थल में उस विधि से होता वह कार्य;
अतः नहीं मैं पर का कर्ता और न पर में मेरा कार्य,
सहज स्वयं निज क्रम से होती है मुझमें मेरी पर्याय।

❖ ❖ ❖

एक दिन श्रीकृष्ण सभा में विराजमान थे, तब प्रद्युम्नकुमार सभा में आये और

पिता को नमस्कार करके योग्य आसन ग्रहण करके बैठ गये। उस समय उनका मन विषय -वासनाओं से विरक्त हो गया था। थोड़ी देर बाद चलते हुए विषय का अन्त आने पर कुमार ने कठिनाई से भी न छोड़ा जा सके, ऐसे मोह को छोड़कर, दोनों हाथ जोड़कर कहा—'हे पिताश्री! आपके प्रसाद से मैंने समस्त ही भोग सामग्री प्राप्त की और भोगी है, परन्तु भोगकर जान लिया है कि कोई भी वस्तु शाश्वत् रहनेवाली नहीं है। हे प्रभु! संसार की स्थिति नित्यतारहित अर्थात् क्षणभंगुर है। इसलिए प्रसन्न होओ और आज्ञा प्रदान करो कि जिससे आपकी कृपा से मैं मोक्षसुख की प्राप्ति के लिये, जो कि सदा शाश्वत् है, उसके लिये उपाय करूँ। यह समस्त संसार असार और दुःखदायक है, इसलिए हे पिता! मैं संसार भ्रमण का नाश करनेवाली जिनदीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ।'

प्रद्युम्नकुमार के वचन सुनकर समस्त यादव दुःखी हो गये। मोह के वश हुए बड़े लोगों ने कहा—'हे बेटा! आज तू इतना कठोर कैसे हो गया है? संयम धारण करने का यह समय नहीं है। तू अभी युवक और रूपवान होने से भोग-भोगनेयोग्य है।' यद्यपि श्रीकृष्ण जानते थे कि भगवान के वचनों में किंचित् भी अन्तर नहीं होता, तथापि उन्होंने मोह के वश होकर कुमार को कहा कि—'हे पुत्र! द्वारिका के सम्बन्ध में भगवान ने जो कहा, वह होगा या नहीं, यह किसने देखा? अतः तू भय न कर।'

अपने बन्धुओं को मोह के वश जानकर कुमार ने कहा—'हे पूज्य पुरुषों! केवली भगवान के वचन कभी भी अन्यथा नहीं हो सकते और मैं किंचित् भी भयभीत नहीं हूँ। सम्पूर्ण पृथ्वी में मुझे किसी का भय नहीं है। **जीवधारियों को अपने प्राचीन बाँधे हुए कर्मों के अतिरिक्त दूसरा कोई डर नहीं है। संसार में न कोई बन्धु है तथा न कोई शत्रु है, न कोई किसी को सुख-दुःख दे सकता है और न कोई किसी से सुख-दुःख ले सकता है। इस असार संसार में जीव अनादि-निधन है। अगणित भवों में जीव के अगणित बन्धु हुए हैं, तो बताओ, किन-किन बन्धुओं से स्नेह रखना?** ऐसा विचार कर आप शोक का परित्याग करें क्योंकि शोक महा दुःखकारी है।'

कुमार के ऐसे वचन सुनकर श्रीकृष्ण का हृदय भर गया। उन्हें दुःखी देखकर कुमार ने कहा कि—'हे तात! आप क्या शोक करते हो? आप तो सबको उपदेश देनेवाले

हो! क्या सूर्य को दीपक दिखाने की आवश्यकता है ? क्या आप नहीं जानते कि मृत्यु आयु के अन्त में सबका भक्षण कर जाती है।

मृत्यु न बालक को छोड़ती है, न कुमार को; न विद्वान को देखती है या न मूर्ख को; न रूपवान को छोड़ती है और न कुरूप को बचाती है, तो फिर क्या मैं जवान हूँ, गुणवान हूँ, भोग भोगने योग्य हूँ, इसलिए मृत्यु मुझे छोड़ देगी ?' इस प्रकार वैराग्य प्रेरक वचनों से पिता को समझाकर तथा शम्बुकुमार को अपने पद पर स्थापित करके कुमार अपने महल में आ गये।

माता को नमस्कार करके कुमार ने कहा—'हे माता! बाल्यावस्था से लेकर अभी तक मैंने जो कुछ भूल की हो, वह क्षमा करो। मैं आपका बालक हूँ। मैं अब दिगम्बरी दीक्षा धारण करने जा रहा हूँ, जो सम्पूर्ण कर्मरूपी ईंधन के समूह का नाश करने के लिये दावानल के समान है, शीलादि बड़े-बड़े रत्नों का रत्नाकर है, गुणों का मन्दिर है; जो पूर्व पुरुषों ने वन में जाकर ग्रहण की है। हे माता! इस विषय में तुम्हें मुझे रोकना नहीं चाहिए।'

पुत्र के वचन सुनकर रुक्मणी अत्यन्त दुःखी हुई, उसने पुत्र को दीक्षा ग्रहण नहीं करने के लिये बहुत समझाया। माता को शोकाकुलित देखकर कुमार ने कहा—**'हे माता! तू संसार के स्वरूप को नित्य स्थायी समझ रही है, परन्तु यह नहीं जानती कि जीवधारी अकेला उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है, अकेला ही कर्म बाँधता है और अकेला ही उनका फल भोगता है। इसलिए जो विवेकी हैं, उन्हें कभी भी शोक नहीं करना चाहिए। जीव को चारों गति में दुःख देनेवाला मोह ही है। जब तक मोह है, तब तक अधिकाधिक दुःख है। जन्म के साथ मरण रहा हुआ ही है, जो विष समान दुःखदायी है। विवेकी जीव इस मोह को छोड़कर सुकृत करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें जो रोकता है, वह शत्रु है, इसमें कोई सन्देह नहीं!** ऐसा समझकर मुझे दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा प्रदान करें।'

पुत्र के वचन सुनकर रुक्मणी का मोह दूर हो गया। विषयों का परिणाम समझकर उसने कहा—'हे पुत्र! मैं, पुत्र और पुत्रवधू के मोह से मोहित हो रही थी। तूने मुझे प्रतिबोधित किया है। हे गुणधर! इस विषय में तू मेरे गुरु समान है। **बेटा! जिस प्रकार सूखे पत्रों का समूह हवा लगने से उड़ जाता है, उसी प्रकार कुटुम्बीजनों का संयोग है।**

जैसे बादलों का समूह आकाश में दिखता है और थोड़ी ही देर में हवा के प्रभाव से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सम्पत्ति भी बात-बात में ही नष्ट हो जाती है। एक तप और संयम ही संसार में ध्रुव है। विषयों की प्रीति अवश्य नाश होनेवाली है। सुख के साथ दुःख रहा हुआ ही है। विषयभोग विष समान परिपाक समय में दुःख देनेवाले हैं। यदि संसार के विषयों में कुछ भी सार होता तो शलाका पुरुष उन्हें किसलिए तजते ? और मोक्ष के लिये किसलिए प्रयत्न करते ? इस प्रकार संसार की अनित्यता और असारता जानकर तुझे मोक्ष का शाश्वत् सुख प्राप्त करने के लिये ही प्रयत्न करना चाहिए। सन्मार्ग के आचरण में रक्त और कृत्रिम-क्षणस्थायी सुखों से विरक्त ऐसे तुझे मैं रोक भी नहीं सकती परन्तु मैं स्वयं ही स्नेह-मोह को तजकर तपोवन में प्रवेश करती हूँ - दीक्षा धारण करती हूँ, जो कि संसाररूपी समुद्र पार करने के लिये जहाज के समान है। हे पुत्र! इतने समय से मैं जो सुख में लवलीन होकर घर में रहती थी, वह केवल तेरे मोह से ही रहती थी।'

माता के वचन सुनकर कुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने अपनी सभी रानियों को बुलाकर कहा—'हे रानियों! यह जीव दुःख से भरे हुए संसार में चिरकाल तक भ्रमण करके किसी प्रकार दैवयोग से मनुष्य जन्म प्राप्त करता है। उसमें भी उच्चकुल में जन्म प्राप्त करना तो महाकठिन है। सुकुल में जन्म प्राप्त होने पर भी राज्य और धन-वैभव का प्राप्त होना तो अति कठिन है। संसार में जो कुछ दुर्लभ था, वह तो मैं प्राप्त कर चुका हूँ। अब मेरा जो यथार्थ कर्तव्य है, वह मोक्षसुख प्राप्त करना है, तदर्थ मैं जिनदीक्षा ग्रहण करता हूँ। यह जीव स्त्री के लिये ऐसा कौन सा कार्य है जो कि नहीं करता ? निरन्तर विषयों में विह्वल रहकर अन्त में वह मृत्यु के मुख में जा गिरता है। तुम सबके साथ मैंने निरन्तर अनेक प्रकार के भोग-भोगे हैं, तथापि उनसे तृप्ति नहीं हुई। ऐसी अवस्था में कि जब विषयभोगों से तृप्ति ही नहीं होती, अधिक से अधिक अभिलाषा बढ़ती है, मैं घर में किसलिए रहूँ ? इसलिए मैं जिनदीक्षा धारण करने के लिये तपोवन में जाना चाहता हूँ। इसलिए तुम्हें क्षमाभाव धारण करना चाहिए।'

अपने पति के ऐसे वैराग्यप्रेरक वचन सुनकर उनकी सभी स्त्रियों ने कहा—'हे नाथ! आप ही हमारे शरण हैं, आप ही हमारे आश्रयदाता हैं, आप ही रक्षक हैं! यदि आप इस गृहवास का त्याग करके दीक्षा अंगीकार करना चाहते हैं तो हम भी आपके साथ वन

में आकर आर्यिकाओं का व्रत ग्रहण करेंगे। आप प्रसन्नता से दीक्षा धारण करें।'

इस प्रकार सबसे क्षमायाचना करके प्रद्युम्नकुमार हाथी पर आरूढ़ होकर गिरनारपर्वत पर पहुँचे। वहाँ दूर से ही समवसरण को देखते ही हाथी से नीचे उतरकर राज्य की विभूति का परित्याग कर दिया। पूर्व में प्राप्त किये हुए सोलह लाभों का भी त्याग किया और विद्याओं को छोड़ते समय उनसे क्षमायाचना की। समवसरण में जाकर कुमार ने भगवान श्री नेमिनाथ की साक्षी में जिनदीक्षा अंगीकार की। यह देखकर वैराग्य के रंग में रंगे हुए भानुकुमार ने भी दीक्षा अंगीकार कर ली। उनके साथ सत्यभामा, रुक्मणी, जाम्बुवती आदि तथा प्रद्युम्नकुमार की रानियों ने भी आर्यिका के व्रत ग्रहण किये।

❖ ❖ ❖

मुनिराज प्रद्युम्न को वैराग्य से विभूषित, तपरूप लक्ष्मी से शोभित और घोर तपश्चर्या करते हुए देखकर श्रीकृष्ण, बलदेव आदि मोह के वश दु:खी होकर द्वारिका आये और अपने राजकाज में लग गये। इस ओर प्रद्युम्न मुनि कठिन तप करने लगे। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से संयुक्त, देव-शास्त्र-गुरु की त्रिधा भक्ति करते हुए उन्होंने अनेक लब्धियाँ प्राप्त कीं। काम, क्रोधादि कषायों को उन्होंने सर्वथा नष्ट कर दिया था। वे विषयों से सर्वथा निस्पृह थे। प्रद्युम्न मुनि ने जैसा तप किया, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। गिरनार से ग्यारहवें दिन ही क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट करके एक आसन में स्थिर होकर ध्यान लगाकर क्षपकश्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्राप्त किया। प्रद्युम्न मुनि को केवलज्ञान होते ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने गन्धकुटी की रचना की। भवनत्रिक देव भगवान के समीप आ पहुँचे। विद्याधर आदि राजा भी उनके दर्शन करने आ गये।

श्रीकृष्ण भी अपने पुत्र-परिवार सहित भगवान के दर्शन करने आ पहुँचे। उन्होंने भगवान की भक्ति-पूजा करके धर्मोपदेश का लाभ लिया। प्रद्युम्न केवली अनेक देवों तथा राजाओं से घिरे हुए थे। तत्पश्चात् प्रद्युम्न केवली भी नेमिनाथ भगवान के साथ विहार करने लगे। नेमिनाथ भगवान के साथ श्री रुक्मणी आर्यिका तथा उनकी जो पुत्रवधुयें थी, वे सभी आर्यिकायें भी देश-देश में विहार करने लगीं। गिरनार से विहार करके वे पल्लव देश में पहुँचे।

❖ ❖ ❖

इसी समय एक दूसरी घटना इस प्रकार घटित होती है।

द्विपायन मुनि जो कि द्वारिका को बचाने के लिये अन्य देश में गये थे, वे बारह वर्ष पूर्ण हुए समझकर द्वारिका देखने की इच्छा से वापिस आये परन्तु उनकी गिनती में भूल होने से (कदाचित् अधिक माह की गिनती करना भूल गये थे) बारह वर्ष में थोड़ा समय शेष था और वे आ पहुँचे। गर्मी का समय था। द्विपायन मुनि नगर के बाहर एक शिला पर बैठ गये। दैवयोग से शम्बूकुमार, सुभानुकुमार आदि मित्रोंसहित गिरनारपर्वत पर क्रीड़ा करने गये थे। गर्मी के कारण प्यास लगने से उन्होंने गड्ढों में भरा हुआ पानी पिया, जिसमें शराब मिली हुई थी। (द्वारिका के नाश में शराब निमित्त बनना होने से श्रीकृष्ण की आज्ञा से वह सब शराब जंगल में फिंकवा दी गयी थी, वह वर्षाऋतु के पानी के साथ मिलकर एक गड्ढे में गिरकर अधिक सड़ गयी थी।)

उस शराबवाला पानी पीते ही उन्हें नशा हो गया। वे जैसे-तैसे बकवास करते-करते द्वारिका की ओर आ रहे थे, तभी मार्ग में एक शिला पर द्विपायन मुनि को बैठे हुए देखा। मुनिराज को देखते ही वे पहिचान गये कि इन मुनि के हाथ से ही द्वारिका का नाश होनेवाला है, इसलिए उन्होंने मुनिराज को मार डालने का निर्णय किया, जिससे द्वारिका को नुकसान न हो। इस प्रकार विचार करते हुए उन्होंने गाली बकते हुए पत्थर मारना शुरु किया। तब तक पत्थर मारे कि जब तक मुनिराज गिर नहीं गये। इतना उपसर्ग करने पर भी मुनिराज ने क्रोध नहीं किया। कुमारों को इतने से भी सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने चाण्डालों से मुनिराज पर पेशाब करवाया। मुनिराज यह सहन नहीं कर सके और अत्यन्त क्रोधित हो गये। कुमार तो ऐसी हालत में मुनिराज को छोड़कर आ गये।

श्रीकृष्ण को यह समाचार ज्ञात होते ही वे बलभद्र के साथ शीघ्र उस स्थान पर पहुँचे जहाँ द्विपायन मुनि पड़े हुए थे। दोनों भाईयों ने अत्यन्त भक्ति से मुनिराज को बैठाया और नमस्कार करके कहा—'हे भगवान! हम से जो कुछ भूल हो गयी है, उसे क्षमा करें। आप क्षमा धारण करनेवाले योगीन्द्र हैं। इसलिए हे प्रभु! इन मूर्ख बालकों की क्षुद्र क्रिया को माफ करें।' तब मुनिराज ने दो अंगुलियों के ईशारे से कहा कि—'तुम दोनों भाई (श्रीकृष्ण-बलभद्र) के अतिरिक्त पूरी द्वारिका में से कोई नहीं बचेगा।' उन दो अंगुलियों का ईशारा

समझकर दोनों भाई तुरन्त ही नगरी में गये और घोषणा करवा दी कि जो लोग नगर छोड़कर अणुव्रत या महाव्रत धारण करना चाहते हैं, वे जा सकते हैं। यहाँ जो रहेंगे, वे निश्चित ही मरेंगे।

इस घोषणा को सुनते ही शम्बूकुमार, सुभानुकुमार, और प्रद्युम्न का पुत्र अनिरुद्ध प्रतिबोधित हो गये। वे शीघ्र ही भगवान नेमिनाथ को परोक्ष नमस्कार करके गिरनार पर्वत पर जाकर दीक्षा अंगीकार करके ध्यान में विराजमान हो गये। तत्पश्चात् द्विपायन मुनि के शरीर में से अशुभ तेजस शरीर निकलकर द्वारिका को भस्म करता है और जंगल में जाने पर श्रीकृष्ण की भी जरतकुमार के हाथ से तीर लगने से मृत्यु होती है। (इस विषय का विशेष विस्तार हरिवंश पुराण में से जानना चाहिए।)

❖ ❖ ❖

देखो, पर्याय की क्रमबद्धता! अनन्त केवलियों ने अनन्त-अनन्त काल पहले द्वारिका का नाश जो निश्चित था, वह देखा था, वही श्री नेमिनाथ भगवान ने बारह वर्ष पहले अपनी वाणी द्वारा कहा और वही आज बारह वर्ष बाद द्वारिका का द्विपायन मुनि के हाथ से नाश हुआ, तथा श्रीकृष्ण की जरतकुमार के हाथ से मृत्यु हुई।

देखो! द्वारिका का नाश न हो, ऐसा विचारकर द्विपायन मुनि देश छोड़कर चले गये। भगवान की वाणी मिथ्या करने!! जरतकुमार भी भगवान की वाणी को मिथ्या करने-पर्याय की क्रमबद्धता को बदलने के लिये देश छोड़कर जंगल में चले गये, तथापि जिस पर्याय की क्रमबद्धता को बदलने-तोड़ने को इन्द्र, नरेन्द्र और जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं, उसे वे किस प्रकार बदल सकते हैं!

देखो, श्रीकृष्ण की पर्याय की तत्समय की योग्यता-पर्याय की क्रमबद्धता! द्वारिका के नाश के समाचार सुनकर संसार की असारता का ख्याल आने पर प्रद्युम्नकुमार ने दीक्षा अंगीकार कर ली और केवलज्ञान प्राप्त किया! जबकि श्रीकृष्ण को दीक्षा के भाव तो नहीं हुए परन्तु व्रत अंगीकार करने के भी भाव नहीं हुए क्योंकि यदि श्रीकृष्ण

दीक्षा धारण करें या व्रत अंगीकार करें तो उन्हें ऊर्ध्वगति में जाना पड़े! परन्तु अनन्त काल पहले से ही उनका नरकायु में जाना तो निश्चित था, इसलिए उस पर्याय की क्रमबद्धता को बदलने में श्रीकृष्ण भी समर्थ नहीं थे।

इस प्रसंग से क्रमबद्धता सचोट समझी जा सकती है कि जो जीव अपनी उस समय की यथायोग्य वर्तमान पर्याय को-राग की विकारी पर्याय को उस समय बदलकर वीतरागी पर्याय करने को समर्थ नहीं! पर्याय की क्रमबद्धता का यह सिद्धान्त यथार्थदृष्टि में बैठने से जीव, परद्रव्य से लेकर अपनी पर्याय का भी अकर्ता-ज्ञाता हो जाता है। अकर्ता-ज्ञाता अपने स्वभाव के आश्रय से ही हुआ जा सकता है और स्वभाव का आश्रय लेने जाने पर अन्तर्मुख उपयोग ढलता है और निर्विकल्प अनुभूति होती है। इस प्रकार विकारी पर्याय का नाश होकर वीतरागी पर्याय प्रगट होती है।

❖ ❖ ❖

तत्पश्चात् श्री शम्बुकुमार आदि तीनों कुमार मुनिराज ध्यान में लीन थे। थोड़े समय बाद श्री नेमिनाथ भगवान पुन: गिरनार पर पधारे। तीनों राजपुत्रों ने भगवान की साक्षी में फिर से दीक्षा अंगीकार की। अमुक वर्ष होने पर तीनों मुनिराज ने चार घातिकर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् श्री नेमिनाथ भगवान अनेक देशों में विहार करके भव्यों को अमृतपान कराकर फिर से एक बार गिरनार पर्वत पर पधारे और वहाँ से मोक्ष में विराजमान हुए। उनके साथ प्रद्युम्नकुमार आदि भी मोक्ष में विराजमान हुए।

❖ ❖ ❖

मैं न निर्मल व्याकरणशास्त्र को जानता हूँ, न काव्य जानता हूँ, न तर्क आदि जानता हूँ और न अलंकार आदि गुणों से अलंकृत छन्द जानता हूँ। मैंने इस पवित्र चरित्र का अनुवाद किसी भी प्रकार की कीर्ति आदि की वांछा अथवा मान के वश नहीं किया है परन्तु पापों का नाश करने के लिये किया है। जो विशुद्ध बुद्धिवाले हैं, शास्त्रों के पार को प्राप्त हैं, परोपकार करने में कुशल हैं, पाप से रहित हैं और भव्य हैं, उन्हें मुझ मन्दबुद्धि द्वारा किये हुए इस पवित्र चरित्र का अनुवाद संशोधन करके पृथ्वी पर प्रचार करना चाहिए— ऐसी निर्मल भावना के साथ.....

प्रथमानुयोग का प्रयोजन

प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है। जो जीव तुच्छबुद्धि हों, वे भी उससे धर्मसन्मुख होते हैं, क्योंकि वे जीव सूक्ष्म निरूपण को नहीं पहिचानते, लौकिक कथाओं को जानते हैं, वहाँ उनका उपयोग लगता है। तथा प्रथमानुयोग में लौकिक प्रवृत्तिरूप ही निरूपण होने से उसे वे भली-भाँति समझ जाते हैं। तथा लोक में तो रागादिक की कथाओं में पाप का पोषण होता है। यहाँ महन्त पुरुष राजादिक की कथाएँ तो हैं, परन्तु प्रयोजन जहाँ-तहाँ पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का प्रगट करते हैं; इसलिए वे जीव कथाओं के लालच से तो उन्हें पढ़ते-सुनते हैं और फिर पाप को बुरा, धर्म को भला जानकर धर्म में रुचिवन्त होते हैं।

इस प्रकार तुच्छबुद्धियों को समझाने के लिये यह अनुयोग है। 'प्रथम' अर्थात् 'अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि', उनके अर्थ में जो अनुयोग सो प्रथमानुयोग है। ऐसा अर्थ गोम्मटसार की टीका में किया है।

तथा जिन जीवों के तत्त्वज्ञान हुआ हो, पश्चात् इस प्रथमानुयोग को पढ़ें-सुनें तो उन्हें वह उसके उदाहरणरूप भासित होता है। जैसे - जीव अनादिनिधन है, शरीरादिक संयोगी पदार्थ हैं - ऐसा यह जानता था। तथा पुराणों में जीवों के भवान्तर निरूपित किये हैं, वे उस जानने के उदाहरण हुए। तथा शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोग को जानता था व उसके फल को जानता था। पुराणों में उन उपयोगों की प्रवृत्ति और उनका फल जीव के हुआ, सो निरूपण किया है, वही उस जानने का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार अन्य जानना।

यहाँ उदाहरण का अर्थ यह है कि जिस प्रकार जानता था, उसी प्रकार वहाँ किसी जीव के अवस्था हुई - इसलिए यह उस जानने की साक्षी हुई।

तथा जैसे कोई सुभट है, वह सुभटों की प्रशंसा और कायरों की निन्दा जिसमें हो - ऐसी किन्हीं पुराण-पुरुषों की कथा सुनने से सुभटपने में अति उत्साहवान होता है; उसी प्रकार धर्मात्मा है, वह धर्मात्माओं की प्रशंसा और पापियों की निन्दा जिसमें हो, ऐसे किन्हीं पुराण-पुरुषों की कथा सुनने से धर्म में अति उत्साहवान होता है।

इस प्रकार यह प्रथमानुयोग का प्रयोजन जानना।

—मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-8, पृष्ठ-268-269